RNI Title Code:UPHIN42964
ISSN:2348-1730

ग़ज़लकार

ग़ज़ल की छमाही पत्रिका

इण्टरनेट पर ग़ज़लकार पढ़ने के लिए विज़िट करें
www.ghazalkaar.com

ग़ज़लकार
वर्ष : 01, अंक : 02, जुलाई-दिसम्बर 2014

मूल्य :
एक प्रति- ₹100 आजीवन सदस्यता- ₹5000
विदेश के लिए प्रति अंक- USD 20 (उपर्युक्त समस्त शुल्क डाक-ख़र्च सहित है)

बैंक द्वारा भुगतान करने की स्थिति में ड्राफ्ट/चेक **YATHAASAMBHAW LITERARY TRUST**
नाम से बनवायें, अथवा सीधे खाते में जमा करें– बैंक : बैंक ऑफ इण्डिया,
शाखा : लालगंज अझारा, खाता संख्या : 703110210000006,
IFSC Code : BKID0007031

सम्पादकीय पता :
भदारी कला, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.) पिन- 230132
मोबाइल : 09415142314, 09415474528
ई-मेल : gazalkaarsixmonthly@gmail.com

टाइपसेटिंग : कमलेश विश्वकर्मा,
तकनीकी सहयोग : स्मृति क्रिएशन, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.)
सम्पादन एवं संचालन : अव्यावसायिक एवं अवैतनिक

RNI Title Code:UPHIN42964 ISSN:2348-1730

ग़ज़लकार

ग़ज़ल की छमाही पत्रिका

वर्ष : 01, अंक : 02, जुलाई-दिसम्बर 2014

सम्पादक

दीपक रूहानी

प्रकाशक

यथासम्भव

साहित्य, संस्कृति और कला की संस्था

भदारी कला, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.) पिन- 230132

फ़ेहरिस्त

सम्पादकीय

इस अंक के शायर

ग़ज़ल पर

शायरों पर

शायरात पर

आत्मकथा

ख़ाका

सम्पादकीय

हमको उम्मीद न थी इतनी पज़ीराई की

पहला अंक निकालते वक़्त तमाम तरह की बातें ज़ेह्न में थीं। संकोच, डर, अनुभवहीनता और दीगर ख़द्शे दिलो-दिमाग़ पर हावी थे, लेकिन जिस तरह पहले अंक की पज़ीराई(स्वीकार्यता) हुई उससे बड़ा बल मिला। ये जानकर बहुत तसल्ली हुई कि मेरी तरह सोचनेवाले बहुत-से लोग हैं। कई जगह से कुछ सुझाव भी आये, जिन पर विचार भी किया गया और इस दूसरे अंक में कुछ जोड़ा-घटाया गया।

वस्तुत: ये पत्रिका ग़ज़ल के विविध आयामों को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करने के लिए संकल्पित है। अक्सर देखा ये जाता है कि उर्दू-ग़ज़ल से सम्बन्धित तमाम मज़्मून(लेख) हिन्दी-पाठकों तक नहीं पहुँच पाते, यहाँ 'हिन्दी-पाठक' से मेरा आशय 'हिन्दू कम्युनिटी' से बिल्कुल नहीं है। ये एहसास तो मुझे कई वर्षों से था कि मौजूदा दौर में बहुत-से 'मुस्लिम कम्युनिटी' के बच्चे उर्दू बिल्कुल नहीं जानते या जानते भी हैं तो बहुत कम, जिसे अदबी स्तर की जानकारी नहीं कहा जा सकता; लेकिन इस पत्रिका-प्रकाशन के बाद ये एहसास और भी गहरा हुआ। आज़ादी के पहले हिन्दू और मुस्लिम के अतिवादी विभाजन ने रंग दिखाया और आज़ादी के बाद हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा दरपेश हुआ। इस पूरे प्रकरण के कई साइड इफेक्ट्स समय-समय पर उभरते रहे। उसी में एक इफेक्ट से एक रोग ये भी पैदा हुआ कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। 'हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है', ये विचार मुसलमानों के दिल में उतनी गहराई से नहीं पैवस्त है जितना हिन्दुओं के दिल में ये बात भरी है कि 'उर्दू मुसलमानों की भाषा है'। मैं ख़ुद ही जब सन् 2000 के आसपास उर्दू लिखना-पढ़ना सीख रहा था तो क्या-क्या नहीं सुनने को मिला; कुछ मज़ाक़न्, कुछ एहतियातन्। पत्रिका के पहले ही अंक से ये एहसास भी हुआ कि बहुत-से 'हिन्दू कम्युनिटी' के शोअरा बाक़ायदा उर्दू लिखना-पढ़ना जानते हैं और उन्होंने ये ज्ञान ग़ज़ल से इश्क़ होने के बाद उसे पाने के लिए बतौर पहली शर्त हासिल किया। ज़रा-सा विषयान्तर हो रहा है, ग़ज़ल के तसल्सुल में गुफ़्तगू करते हुए 'हिन्दू-मुस्लिम' जैसे शब्दों का प्रयोग करना मुझे बहुत अच्छा नहीं लग रहा, न ही बहुत शोभनीय है, लेकिन कुछ तल्ख़ हक़ीक़तों को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता; चलते-चलते इस प्रकरण में ये बात स्पष्ट करना चाहूँगा कि व्यक्तिगत रूप से मैं ग़ज़ल के आशिक़ों के लिए उर्दू का ज्ञान अनिवार्य नहीं तो आवश्यक ज़रूर समझता हूँ।

पहले अंक के बाद एक बात और सामने आयी। हिन्दी-कविता की तरह उर्दू-ग़ज़ल में भी किताबों-पत्र-पत्रिकाओं के शायर दूसरे हैं और मुशायरों के शायर दूसरे हैं। बहुत ही कम शायर ऐसे हैं, शायद इकाई में हों, कि जो मुशायरों में भी मक़्बूल हों और किताबों-रिसालों के हवाले से

उर्दू–आलोचना की मुख्यधारा में भी स्थान पा रहे हों। इसमें दो राय नहीं कि मुशायरों का माहौल बहुत ख़राब और बहुत ग़ैर–अदबी हो गया है, लेकिन इसका ज़िम्मेदार कौन है? मुशायरा, जो अदब और तहज़ीब का एक मर्कज़ हुआ करता था, अगर वो ख़राब होता गया या जल्द ही उसका कोई वैकल्पिक इलाज न खोजा गया तो हम ग़ज़ल को भी नहीं बचा पायेंगे। फ़िलहाल, मेरा मानना है कि ग़ज़ल चाहे मुशायरों के हवाले से आ रही हो, चाहे किताबों–पत्रिकाओं के माध्यम से आ रही हो अगर उसमें 'ग़ज़ल के तत्त्व' मौजूद हों तो उसका स्वागत किया जाना चाहिए। पत्र–पत्रिकाओं में ख़राब ग़ज़लें प्रकाशित हों तो हम उन्हें अदबी नहीं मान सकते और अगर मुशायरों से अच्छी ग़ज़लें आ रही हों तो हम उन्हें ये कहकर ख़ारिज नहीं कर सकते कि ये ग़ज़लें मुशायरों के वसीले से आ रही हैं इसलिए क़ाबिले–ज़िक्र नहीं।

ये वाज़ेअ करना भी प्रासंगिक होगा कि इस पत्रिका में ग़ज़लें मात्र दो शायरों की ही क्यूँ दी जा रही हैं। अहदे–हाज़िर के किसी भी शायर का समग्र मूल्यांकन बिना कई ग़ज़लों को पढ़े नहीं किया जा सकता। इस पत्रिका की कोशिश कई शायरों की ग़ज़लें पेश करके कोई संकलन प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि ग़ज़ल की गुणवत्ता पर ध्यान देना है। ये पत्रिका हिन्दी और उर्दू, दोनों भाषाओं से जुड़े साहित्यकारों–आलोचकों तक जाती है, इसलिए शायरों का चयन कई वरिष्ठ लोगों की सलाह के बाद ही किया जाता है। पुराने या क्लासिकल शायरों में से किसी एक को चयनित करने के पीछे उद्देश्य ये है कि नयी पीढ़ी को उस शायरी से अवगत कराया जाय जो हमारी बुनियाद में है। शायरी के कलात्मक और वैचारिक विकास–इतिहास को समझे बिना उसमें कोई सार्थक योगदान नहीं दिया जा सकता।

इस बार लेखों को कैटेगरी बनाकर प्रस्तुत किया गया है, ताकि ग़ज़ल के विविध आयामों को समेटा जा सके। पाठकों के पत्रों को भी इस दूसरे अंक में शामिल किया गया है और लेखकों तथा लेख के सम्बन्ध में चर्चा पिछली बार की तरह लेख के साथ संलग्न ही है। आशा है पिछले अंक की तरह ये अंक भी स्वीकार किया जायेगा और आप अपनी प्रतिक्रिया से हमारा मार्गदर्शन भी करेंगे।

(दीपक रूहानी)

अहमद निसार
.ख़्वाजगी टोला, स्टेशन रोड
जौनपुर (उ.प्र.)
मो. – 09565004973, 09454283583

शह्रे-जौनपुर की स्थापना फ़ीरोज़ तुग़लक ने अपने चचेरे भाई जूना ख़ाँ उपनाम मुहम्मद बिन तुग़लक के नाम पर की, जहाँ सन् 1389 में फ़ीरोज़ तुग़लक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद का दास वज़ीर बना और इस प्रकार जौनपुर-राज्य की बुनियाद पड़ी। वो दास एक ज़नख़ा था तथा उसका नाम मलिक सरदार या मलिक सरवर था और उसे 'सुल्तान-उस-शर्क़' या 'मलिक-उस-शर्क़' की उपाधि मिली थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दत्तक पुत्र मुबारक शाह शर्क़ी और बाद में इब्राहीम शाह शर्क़ी आदि शासन चलाते रहे। सन् 1388 में फ़ीरोज़ तुग़लक की मृत्यु के उपरान्त जौनपुर एक स्वतन्त्र राज्य की हैसियत से विकसित हुआ और दिल्ली तथा जौनपुर राज्य में लम्बे समय तक संघर्ष हुए तथा अन्ततः बहलोल लोदी ने हुसैन शाह शर्क़ी को हराकर जौनपुर का विलय दिल्ली सल्तनत में कर लिया और मुग़लों के आगमन तक ये एक महत्त्वपूर्ण राज्य के रूप में स्थापित रहा। इब्राहिम शाह शर्क़ी के शासनकाल में जौनपुर आश्चर्यजनक रूप से सांस्कृतिक और इल्मो-अदब का केन्द्र बन गया था, जिसकी प्रसिद्धि विदेशों तक फैल गयी थी। फ़िल्हाल जौनपुर की ऐतिहासिक महत्ता और वहाँ से जुड़ी तमाम रोचक बातें करने का अवकाश यहाँ नहीं है, फिर कभी।

अहमद निसार इसी जौनपुर शह्र में 9 अप्रैल 1955 को पैदा हुए थे। इनकी शायरी में परम्परा और आधुनिकता का व्यवस्थित सन्तुलन दिखायी देता है। अहमद निसार वामिक़ जौनपुरी के जाँनशीनों में हैं। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से रिटायर्ड होने के बाद जब वामिक़ साहब अपने पैतृक गाँव कजगाँव (जौनपुर शह्र से 10 किमी. दूर) में आकर स्थायी रूप से रहने लगे तो इनका विशेष सान्निध्य-लाभ अहमद निसार को मिला।

अहमद निसार लम्बे समय से जौनपुर की प्रगतिशील लेखक संघ की इकाई से भी सक्रिय रूप से जुड़े हैं। इनके शेरों में विचारों के फ़्लैश इस तरह चमकते जाते हैं कि विचारधारा की एक रील तैयार हो जाती है। इनकी शायरी में तरक़्क़ीपसन्दी और जदीदियत की आमेज़िश(मिश्रण) स्पष्ट दिखायी देती है। निसार साहब अपने छोटे से एक व्यवसाय के बाद जो वक़्त निकाल पाते हैं उसे अपने घर की लाइब्रेरी में जमा सैकड़ों उर्दू-फ़ार्सी-अरबी और हिन्दी की किताबों के बीच ख़र्च करते हैं। इन्हें इतिहास की अच्छी जानकारी है। जहाँ तक मुशायरों में आने-जाने की बात है तो ये सन् 1993 के आस-पास ही दुबई, अबूधाबी, अलैन, दोहा जैसी जगहों पर मुशायरों में शिरकत कर चुके हैं। ये वो दौर था जब हिन्दुस्तान के बाहर अक्सर और अधिकतर वही शायर जाते थे जो सच्चे अर्थों में शायर होते थे। अहमद निसार ने जॉन एलिया, अहमद फ़राज़, अहमद नदीम क़ासिमी, इफ़्तिख़ार आरिफ़ के साथ-साथ हिन्दो-पाक के दीगर शोअरा के साथ शिरकत की है और दाद भी पायी है। जॉन एलिया से जुड़े कई रोचक संस्मरण मैं ख़ुद भी निसार साहब से सुन चुका हूँ। जल्द ही इनके उर्दू, हिन्दी में कई ग़ज़ल-संग्रह मंज़रे-आम पर आनेवाले हैं। नज़्म(पद्य) के साथ-साथ नस्र(गद्य) और कुछ तन्क़ीदी मज़ामीन का मज्मूआ भी ज़ेरे-अशाएत है।

अहमद निसार

मेरी ज़िन्दगी के मालिक मुझे आइना बना दे

मेरी ज़िन्दगी के मालिक मुझे आइना बना दे
मैं कहानी बन गया हूँ मुझे वाक़िआ बना दे

मैं ज़मीं पे ख़ुश्क पत्तों की तरह बिखर रहा हूँ
मेरा इन्तिशार ले ले मुझे क़ाफ़िला बना दे

मैं चमन-चमन बहारों का वक़ार बन के उभरूँ
जिसे सब क़ुबूल कर लें वही मश्विरा बना दे

मैं सितारए-मुहब्बत मुझे आस्माँ अता कर
कभी ख़ूबरू बना दे कभी ख़ुशनुमा बना दे

मेरे हाथ शब्द चुनने के हुनर से नाबलद हैं
मेरी फ़िक्रे-मुन्तशिर को मेरा मुद्दआ बना दे

मेरे इल्म से ज़माने की जिहालतें फ़ना हों
मुझे वो सिफ़त अताकर जो मुझे बड़ा बना दे

मेरे हर तरफ़ अँधेरों की सियाह सल्तनत है
मुझे रौशनी अता कर कोई रास्ता बना दे

×× ×× ××

शह्रे–सितम में दीदए–तर की तरह मिले
हम लोग हादसों की ख़बर की तरह मिले

वो यूँ मिला कि हैरतें बेदार हो गयीं
जैसे कोई दुआ को असर की तरह मिले

शीशा हमारे दावे की पुख़्ता दलील है
हम पत्थरों को दस्ते–हुनर की तरह मिले

तन्हाइयाँ समेट रहा हूँ निगाह में
मुझमें भी कुछ तो ज़ादे–सफ़र की तरह मिले

हमने तमाम उम्र सफ़र में गुज़ार दी
हम मंज़िलों को राहगुज़र की तरह मिले

चलते रहे ख़ुलूस के बादल लिये हुए
सूरज भी सायादार शजर की तरह मिले

×× ×× ××

एक छोटी–सी मुलाक़ात से पहले क्या था
मेरा सहरा तेरी बरसात से पहले क्या था

ज़ेह्न पर ज़र्ब न लगती तो हिसें मर जातीं
दिल का मफ़्हूम शिकायात से पहले क्या था

शब के पहलू में भी हैं लालो–जवाहर कितने
ये सितारों का जहाँ रात से पहले क्या था

टूटने और बिखरने का सफ़र जारी है
आदमी ग़म की हिकायात से पहले क्या था

मैं न कहता था कि दौलत को बहुत मुँह न लगा
तेरा आलम तेरे हालात से पहले क्या था

फूल की ख़ुश्बू के मानी से भी नावाक़िफ़ था
मैं तेरे इश्क़ की सौग़ात से पहले क्या था

शोख़िए-गुल की तरह नग़्मए-शीरीं की तरह
मैं तेरी बज़्म में सद्‌मात से पहले क्या था

मैंने ही ख़बरों का किरदार बनाया है उसे
वर्ना वो मेरे सवालात से पहले क्या था

×× ×× ××

उससे मिलकर मुझे क्या हो जाये
जैसे जीने का नशा हो जाये

एक चेह्‌रे के हज़ारों चेह्‌रे
आइना टूटे तो क्या हो जाये

ख़्वाब का रिश्ता भी क्या रिश्ता है
नींद टूटे तो जुदा हो जाये

भूलता जाता हूँ शिकवों का हुनर
फिर कोई मुझसे ख़फ़ा हो जाये

काश! मैं ऐसा कोई जुर्म करूँ
उससे मिलने की सज़ा हो जाये

या करें सच की हिफ़ाज़त हम लोग
या तो फिर हश्र बपा हो जाये

मेरे मौला मुझे ऐसा कर दे
मेरा क़द मुझसे बड़ा हो जाये

राह सजने लगे फ़नकारों से
फिर मेरा शह्‌र बड़ा हो जाये

×× ×× ××

शऊरे-ग़ैरते-एहसास शर्मिन्दा अभी तक है
कि चेह्रों में बहुत मक़्बूल आईना अभी तक है

अभी अहले-करम की पगड़ियाँ मश्कूक हैं शायद
कि तेरे हाथ में अय ज़िन्दगी कासा अभी तक है

शिकस्तो-फ़त्ह की हर दास्ताँ भी नामुकम्मल है
समन्दर के तआक़ुब में अगर दरिया अभी तक है

मैं अपनी जुस्तजू में दर-ब-दर हूँ एक मुद्दत से
मुक़फ़्फ़ल मुझपे मेरे घर का दरवाज़ा अभी तक है

मुझे देखो कि दीवारें भी मुझसे बात करती हैं
जिसे है भीड़ की आदत वही तन्हा अभी तक है

कई पर्दे उठेंगे, सातवाँ दर खुलनेवाला है
हवेली में सुना है कोई शहज़ादा अभी तक है

खँडर की ये चटानें हैं कि अपना ख़ानए-दिल है
हमारे साथ तेरा नाम भी लिक्खा अभी तक है
×× ×× ××

दिलो-दिमाग़ में नश्तर उतारते हुए लोग
पड़े हैं राह में सदियाँ गुज़ारते हुए लोग

तमाम उम्र तरसते हैं एक चेह्रे को
तमाम उम्र नये रूप धारते हुए लोग

किसी ख़याले-परीशाँ में गुम नज़र आये
गुनाहगारों को पत्थर से मारते हुए लोग

कहाँ किसी की सदाओं पे कान धरते हैं
अना के दश्त में ख़ुद को पुकारते हुए लोग

लपेटते रहे शोलों पे रेशमी धागे
ख़ुमार अपने लहू का उतारते हुए लोग

जिस अंजुमन में रहे मुनफ़रिद नज़र आये
तेरे ख़याल से ख़ुद को सँवारते हुए लोग

×× ×× ××

सुना है चढ़ते दरिया को शनावर आज़माते हैं
चलो चलकर वहीं हम भी मुक़द्दर आज़माते हैं

बदलते मौसमों का दुख अज़ीयतनाक है यूँ भी
फिर उस पर ये कि आईनों को पत्थर आज़माते हैं

हवा कुछ थम गयी है पेड़ की शाख़ों से मत बोलो
चलो कुछ पल ख़लाओं में ही शहपर आज़माते हैं

कहाँ ले जायेंगे ये अहदे-नौ के मारिके हमको
जहाँ दिल की ज़रूरत है वहाँ सर आज़माते हैं

मुहज़्ज़ब ज़िन्दगी ने इनका आख़िर क्या बिगाड़ा है
ये ज़ालिम क्यूँ सरों को ज़ेरे-ख़ंजर आज़माते हैं

मुझे तो साज़िशे-याराँ से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती
मेरे लश्कर को कब दुश्मन के लश्कर आज़माते हैं

निगाहें ढूँढ़ती हैं जाने क्या ख़ुशरंग फूलों में
हमारे क़ल्ब को शाख़ों के मंज़र आज़माते हैं

×× ×× ××

ग़म की ज़ंजीर जो टूटे तो ख़ुशी आती है
कई नस्लों का सफ़र हो तो सदी आती है

तेरे हाथों से टपकती हैं लहू की बूँदें
कैसे कह दूँ कि तुझे शीशागरी आती है

मुस्तक़िल शोलों पे चलना मेरी मज्बूरी थी
लोग समझे कि मुझे जादूगरी आती है

इतने बेबाक मुनाफ़िक़ नहीं देखे मैंने
ख़ैरियत पूछनेवालों पे हँसी आती है

दर्द उठता है तो नस-नस में उतर जाता है
धूप कोह्सारों को नहलाती हुई आती है

मैंने माना कि मैं इस इल्म से नावाक़िफ़ हूँ
मुझको बतलाओ किसे बादाकशी आती है

×× ×× ××

दश्त की धूप में तिनके को शजर जाना है
तब कहीं जा के कुछ आदाबे-सफ़र जाना है

ज़िन्दगी मेरी तरह कौन तुझे सोचेगा
मैंने भी उम्र गँवाकर ये हुनर जाना है

शोर के हाथों हुए क़त्ल जो मासूम परिन्द
उनका इल्ज़ाम भी सन्नाटों के सर जाना है

बात इतनी है कि तू भी मुझे मह्सूस करे
तीर बनकर तेरे सीने में उतर जाना है

जिसकी आँखों से उठाते रहे हम पर्दों को
यार उसने भी हमें शोबदागर जाना है

रौशनी क्या है उसे इसकी ख़बर कुछ भी नहीं
जिसने सूरज के निकलने को सहर जाना है

ख़त्म होता ही नहीं क़हत शनासाई का
जिसने जाना है मुझे शह्र बदर जाना है

×× ×× ××

लोग यूँ उक़्दए-अरबाबे-नज़र खोलते हैं
जैसे ख़ुर्शीद हों और बाबे-सहर खोलते हैं

मेरे हमसायों पे क्या जाने मुसीबत क्या है
बन्द करते हैं कभी और कभी दर खोलते हैं

तुम तो सहमे हुए पंछी हो तुम्हें क्या मालूम
वो जो ज़ख़्मी हों परिन्दे वही पर खोलते हैं

हमने बचपन में उड़ायी हैं पतंगें भी बहुत
गुत्थियाँ ऐसी तो हम शामो-सहर खोलते हैं

देखें दोनों में कोई रिश्तए-जाँ है कि नहीं
'यौमे-आज़ादी' है 'दीवाने-ज़फ़र' खोलते हैं

ख़ानए-जाँ में उजाला है किसी आहट पर
दस्ते-एहसास से ज़ंजीरे-नज़र खोलते हैं

तोते-मैने भी मेरे देस के हैं अलबेले
राह में बैठ के तक़्दीरे-बशर खोलते हैं

लफ़्ज़ो-मानी की हिकायात से पुर हैं आँखें
हम किताबों की तरह दीदए-तर खोलते हैं

×× ×× ××

फ़लक के चाँद-सितारे ज़मीन ढूँढ़ती है
ये ज़िन्दगी भी हर इक शै हसीन ढूँढ़ती है

तुझे ज़माने की रफ़्तार का गुमान नहीं
तेरी नज़र तो अभी दूरबीन ढूँढ़ती है

वो अपने हुस्न की रानाइयों से वाक़िफ़ है
वो आइना भी मुनासिब-तरीन ढूँढ़ती है

तुम्हारा ज़ह्र जड़ों में उतर न जाये कहीं
कहाँ हो आओ तुम्हें आस्तीन ढूँढ़ती है

सुना है बारहदरी का मिज़ाज बदला है
वो शाहज़ादा नहीं अब यक़ीन ढूँढ़ती है

अशाअतों से कहो थोड़ी देर सब्र करें
मेरी ग़ज़ल तो अभी सामईन ढूँढ़ती है
×× ×× ××

चराग़ होके हवाओं से दोस्ती की है
किसी तरह भी सही हमने रोशनी की है

हमारे ख़्वाबों का क़द नींद से ज़ियादा है
ये दास्तान हमारी नहीं सभी की है

हमारे शह्र को आँखें न बाँटिए साहब
हमारी अस्ल ज़रूरत तो रौशनी की है

कभी ज़बाँ, कभी आँखें सवाल करती हैं
कि आदमी की तो फ़ित्रत गदागरी की है

किसी को अपने बराबर नहीं समझता वो
मगर मिसाल ये एहसासे-कमतरी की है

दिलो-दिमाग़ में फैली हुई रगों की क़सम
लहू निचोड़ा है हमने तो शायरी की है
×× ×× ××

ख़ामोश है ज़बान मगर कुछ-न-कुछ तो है
कुछ तू ही बोल दीदए-तर कुछ-न-कुछ तो है

शोलों की फ़स्ल उगने लगी है ज़बान पर
ज़ह्‌रीले मौसमों का असर कुछ-न-कुछ तो है

ऐसी फ़ज़ा में जबकि घरों की तरफ़ हैं रुख़
बाँधे हैं उसने रख़्ते-सफ़र कुछ-न-कुछ तो है

वो यार जिनको भूले हुए मुद्दतें हुईं
मिलने लगे हैं शामो-सहर कुछ-न-कुछ तो है

यूँ ही तो झिलमिलाती नहीं शम्‌ए-आर्ज़ू
सरकश हवाओं को भी ख़बर कुछ-न-कुछ तो है

चेह्‌रे अगर नहीं, न सही, आइने तो हैं
मह्‌फ़िल में एहतमामे-नज़र कुछ-न-कुछ तो है

इस बार ज़द पे शीशा नहीं संग है 'निसार'
सूरज को ढूँढ़ती है सहर कुछ-न-कुछ तो है
×× ×× ××

धूप और छाँव का किरदार कहाँ थी पहले
दास्ताँ इतनी पुरअस्रार कहाँ थी पहले

चाक कर डाले हैं रिश्तों के गिरेबाँ हमने
नींद और ख़्वाब में तक्रार कहाँ थी पहले

मेरा आँगन भी सिमटने का हुनर सीख गया
वर्ना दीवार में दीवार कहाँ थी पहले

आजकल दिन के उजाले में लहू बहता है
रौशनी इतनी गुनहगार कहाँ थी पहले

सुब्ह से शाम का होना भी कठिन होता था
तेज़ यूँ वक़्त की रफ़्तार कहाँ थी पहले

कितने दिन बीत गये धूप से मानूस हुए
ग़ैरते-सायए-दीवार कहाँ थी पहले
×× ×× ××

तसव्वुर की हदों के पार वो चेह्‌रा नहीं जाता
कि उसको सोचने के बाद कुछ सोचा नहीं जाता

मुहब्बत इश्तिहारों की तरह ज़ाहिर नहीं होती
ये दर्दे-मुश्तरक दीवार पर लिक्खा नहीं जाता

कठिन है फूल की टहनी पे शबनम की तरह रहना
मगर मुझसे तो ये अहदे-वफ़ा तोड़ा नहीं जाता

समन्दर तो जज़ीरों से भी कतराकर गुज़रता है
सफ़र पर जानेवालो! राह से उलझा नहीं जाता

लबों पर मुह्रे-ख़ामोशी लगी है एक मुद्दत से
कहाँ हो चीखनेवालो! कि सन्नाटा नहीं जाता

नुमाइश के लिए हर शाख़े-रानाई नहीं होती
हवस के आइनाख़ानों में हर चेह्रा नहीं जाता

हमारी शायरी अब भी गुलो-बुल्बुल का क़िस्सा है
वो दरिया है कि हमसे रास्ता बदला नहीं जाता

×× ×× ××

जो बोलिए, बज़ोरे-क़लम बोलिए मियाँ
सुनने की उम्र है अभी, कम बोलिए मियाँ

तर्जीह क्यूँ दिमाग़ को मिलती है बार-बार
होते हैं क्यूँ दिलों पे सितम, बोलिए मियाँ

हमको किसी से कोई शिकायत नहीं मगर
ये क्या कि मुस्करायें न हम, बोलिए मियाँ

बच्चे गिलाज़तों में ग़िज़ा ढूँढ़ते रहे
क्या कर रहे थे अहले-करम, बोलिए मियाँ

बेचैन जिस्मो-जाँ हैं बहुत जख़्म के लिए
है कितनी दूर शह्रे-सितम, बोलिए मियाँ

तामीर हमने ताजमहल भी नहीं किया
फिर क्यूँ हुए हैं हाथ क़लम, बोलिए मियाँ

×× ×× ××

मनारों पर उतरते हैं कबूतर, शाम होती है
चलो घर, कब तलक तोड़ेंगे पत्थर, शाम होती है

मुसल्सल दिल धड़कने की सदा महसूस करता हूँ
तुम्हारे शह्र में कितनी सितमगर शाम होती है

हमारी बेबसी पर कितनी आँखें मुस्कुराती हैं
कि हम हैं डूबते सूरज का मंज़र, शाम होती है

मैं शब-बेदारियों की रौशनी में ग़ुस्ल करता हूँ
मेरे अन्दर सहर है और बाहर शाम होती है

समन्दर की तरफ़ से आ रही हैं ये हवाएँ क्या
लचकती है बहुत शाख़े-सनोबर, शाम होती है

मेरी बेचैनियाँ सब खो गयी हैं उसकी मौजों में
मैं तकता हूँ किनारे से समन्दर, शाम होती है

हमें क्यूँ मौत की काली घटाओं से डराते हो
हमारी तो हमेशा ज़ेरे-ख़ंजर शाम होती है

×× ×× ××

इस क़दर हद से गुज़रना नहीं आता मुझको
टूट जाऊँ तो बिखरना नहीं आता मुझको

फ़ैसले मेरे मुआफ़िक़ नहीं होते तो न हों
सीढ़ियाँ चढ़ के उतरना नहीं आता मुझको

दौलतें लुक़्मए-तर होंगी ज़माने के लिए
जेब अंगारों से भरना नहीं आता मुझको

अपनी रफ़्तार से समझौते नहीं करता मैं
वक़्त के साथ गुज़रना नहीं आता मुझको

मेरे सब आइनाख़ाने हैं ज़माने से जुदा
ख़्वाबगाहों में सँवरना नहीं आता मुझको

मंज़िलें देखती रहती हैं मुझे हैरत से
राह में यूँ भी ठहरना नहीं आता मुझको

मैं उजालों की हिफ़ाज़त के लिए निकला हूँ
शब की तारीकी से डरना नहीं आता मुझको

×× ×× ××

देता है मुझको मेरा पता मुझमें कौन है
हैरत है मेरे क़द से बड़ा मुझमें कौन है

मैं उसको रोकने के लिए क्यूँ नहीं बढ़ा
इस बात से है मुझसे ख़फ़ा, मुझमें कौन है

इक अजनबी के वास्ते इतनी तड़प भी क्या
करता है एक हश्र बपा, मुझमें कौन है

करता है ख़ूबियों को उजागर जहाँ मिले
ऐबों पे डालता है रिदा, मुझमें कौन है

हर लग़्ज़िशे-क़दम पे मैं सुनता हूँ चीख़-सी
पहले तो इतना शोर न था, मुझमें कौन है

हर वक़्त देता रहता है ख़ुद्दारियों का दर्स
मेरे ज़मीर तू ही बता मुझमें कौन है

लिखता है अपना नाम दुखों के निसाब में
देता है दुश्मनों को दुआ मुझमें कौन है

×× ×× ××

था इन्हिराफ़ फिर भी उसी की तरफ़ गये
हम भी हुजूमे-राहबरी की तरफ़ गये

वो हाथ पत्थरों के भी क़ाबिल नहीं रहे
तफ़रीह में जो शीशागरी की तरफ़ गये

जारी है जाने कब से जरायम का सिल्सिला
इल्ज़ाम सब हमारी सदी की तरफ़ गये

जो अपने रास्तों का तअय्युन न कर सके
वो लोग ही मियानारवी की तरफ़ गये

रिश्वत की रौशनी को हिक़ारत से देखकर
हम-से जियाले तीराशबी की तरफ़ गये

हर आम रास्ते के मुख़ालिफ़ थे उम्र भर
तुम भी मगर 'निसार' उसी की तरफ़ गये
×× ×× ××

न फूलों से हुआ कुछ काम तो पत्थर चलाना है
मुझे भी कुछ तो करना है, मुझे भी घर चलाना है

ज़मीं पर कब परिन्दा इतनी आसानी से गिरता है
फ़ज़ाओं में उसे टूटा हुआ शहपर चलाना है

कभी बेवक़्त गोयाई, कभी बेवक़्त ख़ामोशी
कोई ऋतु हो मेरे अहबाब को ख़ंजर चलाना है

मसाइल से बहुत कम है वसाइल की क़दो-क़ामत
ज़रा-सी रौशनी है और उसे शब भर चलाना है

मुहब्बत ही हमारी ज़िन्दगी का एक मक़्सद है
किसी क़ीमत पे ये सिक्का हमें घर-घर चलाना है

हमारी गुफ़्तगू होगी फ़क़त ख़ुश्बू के लहजे में
वो हमसे दूर हो जाये जिसे ख़ंजर चलाना है

×× ×× ××

क्या जानिए बदलेगा दस्तूरे-नज़र कब तक
खटकेगी निगाहों में मासूम सहर कब तक

क्या यूँ ही ज़माने की तक़्दीर बदलती है
हालात की चौखट पर टकराओगे सर कब तक

पस्ती में बलन्दी से उतरोगे तो जानोगे
जलते हैं उड़ानों के एहसास से पर कब तक

ये क़र्ज़ चुकाने में सदियाँ न गुज़र जायें
हम लोग मकानों को लौटायेंगे घर कब तक

क्या बात है पैरों की ज़ंजीर नहीं खुलती
बाँधेंगे ख़यालों में सामाने-सफ़र कब तक

कहने को तो हाथों में तेशा लिये बैठे हैं
अब देखिए खुलते हैं दीवारों में दर कब तक

चीख़ें तो फ़ज़ाओं की तक़्दीर हैं सदियों से
नग़्मों से सजायेंगे हम राहगुज़र कब तक

×× ×× ××

सब चल पड़े हैं ज़ादे-सफ़र किसके पास है
सहरानवर्दियों का हुनर किसके पास है

सब अपनी-अपनी धूप समेटे हुए मिले
मैं ढूँढ़ता हूँ मेरी सहर किसके पास है

सब आइना-सिफ़त हैं महाज़े-हयात पर
लेकिन वो रौशनी की सिपर किसके पास है

दीवारो-दर तसव्वुरे-जानाँ से कम नहीं
फुटपाथ के फ़रिश्ते हैं घर किसके पास हैं

हम ही तो सरफ़रोशी की तन्हा मिसाल हैं
जो हमसे दाद पाये वो सर किसके पास है

मेरा शरीके-ग़म नहीं कोई, कोई नहीं
आँखें बहुत हैं, दीदए-तर किसके पास है

ख़्वाहिश के साथ-साथ ज़रूरी है हौसला
दिल तो है सबके पास, जिगर किसके पास है
×× ×× ××

तेज़ हो धूप तो हर रंग उतर जाता है
एक तू है कि सदा मिस्ले-सहर जाता है

झूठ बोलूँ तो ख़ुद अपनी ही नज़र में गिर जाउँ
ज़ुल्म के शह्र में सच बोलूँ तो सर जाता है

हारनेवालों के ग़म कितने बड़े होते हैं
जीतनेवालों का चेह्रा भी उतर जाता है

भूख में चाँद भी रोटी की तरह लगता है
पेट ख़ाली हो तो नश्शा भी उतर जाता है

उसपे है कितना ख़रीदी हुई नींदों का असर
अपने ही देखे हुए ख़्वाब से डर जाता है

लग गयी उड़ते परिन्दों को शिकारी की नज़र
आशियानों में तो टूटा हुआ पर जाता है

कच्ची नींदों ने बड़ा ज़ुल्म किया है मुझ पर
ख़्वाब तक्मील से पहले ही बिखर जाता है
×× ×× ××

मन्दिर का कलश रौनक़े-बाज़ार भी आये
यूँ खींचिए तस्वीर कि मीनार भी आये

ढाते हुए हर इक दरो-दीवार भी आये
कुछ लोग मुहब्बत में सरे-दार भी आये

कुछ यादों की पुरवाई भी आसेबज़दा थी
कुछ ज़ख़्म नया लेके मेरे यार भी आये

आँखें मेरी क्या जाने किसे ढूँढ़ रही थीं
बंजारे मेरे शह्र में इस बार भी आये

शर्मिन्दा हैं हम सब कि अदालत की हदों में
मुजरिम की तरह साहिबे-किरदार भी आये

जिनके लिए कोह्सारों से टकराता रहा मैं
वो बनके मेरी राह में दीवार भी आये

नफ़्रत के हैं बाज़ार तो दहशत की दुकानें
इस शह्र को करने कोई मिस्मार भी आये
×× ×× ××

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी
29-सी, न्याय मार्ग
इलाहाबाद (उ. प्र.)
मो.- 09415340662

उर्दू-आलोचना के बारे में जो थोड़ा-बहुत भी जानता है वो पद्मश्री शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहब के बारे में ज़रूर जानता है। फ़ारूकी साहब उर्दू-अदब के एक इंस्टीट्यूट हैं, जिनको पूरी दुनिया में जहाँ-जहाँ भी उर्दू के दानिशवर हैं, सब बड़े सम्मान की नज़र से देखते हैं। गद्य और पद्य की आलोचना पर आपकी दर्जनों किताबें और सैकड़ों लेख जहाँ एक तरफ़ आलोचना जैसी विधा को साहित्य में स्थापित करते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ नये रचनाकारों के लिए पाठ्यक्रम भी निर्धारित करते हैं। फ़ारूक़ी साहब की कुछ आलोचना कृतियों का अनुवाद करने के दौरान मैंने भी बहुत-कुछ नया और महत्त्वपूर्ण पाया। मेरे ख़याल में तो किसी भी शायर को शायरी करने से पहले फ़ारूक़ी साहब की मास्टरपीस रचना 'शेरे-शोरअंगेज़' ज़रूर पढ़ना चाहिए।

वर्षों तक (सन् 1966 से 2006 तक) 'शबख़ून' जैसी मेआरी पत्रिका का सम्पादन किया, जिसका शोह्रा हिन्दुस्तान-पाकिस्तान ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में रहा। 'शबख़ून' ने उर्दू-अदब और आलोचना में नये मानदण्ड स्थापित किये। फ़ारूक़ी साहब के बारे में मज़ीद गुफ़्तगू अगले अंको में इस लेख के अगले अंश-अंक साथ जारी रहेगी। फ़ारूक़ी साहब को समर्पित करने के लिए मुझे किसी शायर का ये शेर अक्सर याद आ जाता है-

तेरी तह्रीर जब से पढ़ रहा हूँ
नज़र बारीक होती जा रही है

यहाँ दिया जा रहा लेख उर्दू की क्लासिकल ग़ज़ल के तत्त्वों को ही नहीं बयान करता, बल्कि ग़ज़ल के कुछ अपरिहार्य, आधारभूत, बुनियादी तत्त्वों को भी प्रस्तुत करता है। किसी भी शेर में अर्थों की पर्तें कैसे एक-एक करके खुलती हैं, ये हुनर जाने बिना न ग़ज़ल कही जा सकती है, न समझी जा सकती है। फ़ारूक़ी साहब की बातें आलोचक की सीमाओं में बाँधकर नहीं समझी जा सकती, क्योंकि ये किसी आग्रह या वाद से ग्रस्त आलोचक नहीं, बल्कि ग़ज़ल-क्षेत्र में प्रचलित उस्ताद-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

क्लासिकी ग़ज़ल की शेरीआत-1

(कुछ तन्क़ीदी, कुछ तारीख़ी बातें)

क्लासिकी उर्दू-ग़ज़ल की शेरीआत(काव्यशास्त्र) जिन तसव्वुरात(विचारों) पर क़ायम है उन्हें मोटे तौर पर दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। एक वो प्रकार जिनका आधार इल्मियाती (Epistemological) है, यानी ये तसव्वुरात इस सवाल पर आधारित हैं कि शेर से हमें क्या हासिल होता है? दूसरे प्रकार के तसव्वुरात वो हैं जिन्हें वजूदयाती(Ontological) कहा जा सकता है, ये वो तसव्वुरात हैं जिनका ताल्लुक़ इस सवाल से है कि शेर का वजूद किन चीज़ों पर आधारित है—

इल्मियाती तसव्वुरात	**वजूदयाती तसव्वुरात**
मज़्मून-आफ़रीनी[1]	बामानी लफ़्ज़ (या मज़्मून)
मानी-आफ़रीनी[2]	वज़्नो-बह्र
ख़यालबन्दी	क़ाफ़िया
कैफ़ियत	रब्त
शोरअंगेज़ी	

ज़ाहिर है कि वजूदयाती तसव्वुरात की क़ायमकर्दा शर्तों और ज़रूरतों का लिहाज़ न रखा जाये तो शेर वजूद ही में न आयेगा, लेकिन उपरिलिखित चारों वजूदयाती तसव्वुरात के कुछ अन्य निकटवर्ती तसव्वुरात भी हैं, जिनको शेर के लिए लाज़िमी नहीं क़रार दे सकते। हाँ, अगर उनकी पाबन्दी की जाये तो शेर में ख़ूबी पैदा होगी, मस्लन् बामानी लफ़्ज़ या मज़्मून (अर्थपूर्ण शब्द या अर्थपूर्ण विषय-वस्तु) के तसव्वुर का एक तक़ाज़ा ये भी है कि शेर की बन्दिश चुस्त हो, यानी उसमें कोई ग़ैर-ज़रूरी, या कमज़ोर या अर्थ के लिए नामुनासिब लफ़्ज़ न हो। वज़्न-ओ-बह्र के तसव्वुर का एक तक़ाज़ा ये है कि शेर में रवानी हो, क्यूँकि ये मुम्किन है कि कोई इबारत मौज़ूँ हो (यानी बह्र और वज़्न की शर्तें पूरी करती हो), लेकिन उसमें रवानी न हो या कम हो। क्लासिकी ज़माने में अलग-अलग शायरों की दरजाबन्दी(स्तर या कोटि-निर्धारण) में ये सवाल हमेशा ज़ेरे-बहस आता है कि फ़लाँ शायर के यहाँ रवानी ज़ियादा है या कम है। फ़ारसी के दो सबसे बड़े ग़ज़लगोइयों, यानी ख़ुस्रो और हाफ़िज, दोनों ने रवानी पर बहुत ज़ोर दिया है। क़ाफ़िये के साथ अगर रदीफ़ हो तो क़ाफ़िये और रदीफ़ का आपसी तालमेल होना और रदीफ़ का क़ाफ़िये के मानी(अर्थ) क़ायम करने में कारगर होना ख़ास अहमियत रखता है। रब्त से मुराद ये थी कि शेर के दोनों मिस्रे मिलकर मुकम्मल बयान बनाते हैं कि नहीं। इन तमाम तसव्वुरात में बड़ी बारीकियाँ हैं जिनके बयान करने का मौक़ा

यहाँ नहीं। बुनियादी बात ये है कि शेर के वजूद के बारे में जिस अफ़्कार(चिन्तन) का हमारे यहाँ फ़रोग़(विकास) हुआ वो दो तरह के थे, कुछ वो जिनके बग़ैर शेर मुम्किन न था और कुछ वो जिनके ज़रिअे शेर में ख़ूबी पैदा होने की सम्भावनाएँ थीं।

जहाँ तक सवाल इल्मियाती तसव्वुरात का है, उनके भी बहुत-से अन्य निकटवर्ती तसव्वुरात थे। ख़यालबन्दी को मज़्मून-आफ़्रीनी का निकटवर्ती तसव्वुर भी कह सकते हैं, लेकिन ख़यालबन्दी ने एक ज़माने में इतनी मक़्बूलियत हासिल कर ली कि एक पूरा तर्ज़े-सुख़न उस तसव्वुर से वाबस्ता हो गया। मानी-आफ़्रीनी के निकटवर्ती तसव्वुरात में ईहाम, रिआयत[3] और मुनासबत[4] ख़ास अहमियत रखते हैं। कैफ़ियत और शोरअंगेज़ी को इल्मियाते-शेर के उस सिरे पर मान सकते हैं जिसका दूसरा सिरा मानी-आफ़्रीनी है। मज़्मून-आफ़्रीनी का एक निकटवर्ती तसव्वुर बयान की सफ़ाई भी था। बयान की सफ़ाई से मुराद ये थी कि मज़्मून ऐसा न हो, या उसे ऐसी तरह न बयान किया जाये कि उसको समझने में मुश्किल हो और जब उसे समझ लें तो मह्सूस हो कि सारी मेह्नत बेकार गयी। क्लासिकी ग़ज़ल की शेरीआत के इर्तिक़ा(उद्भव) की पहली अहम मंज़िल ये थी कि मानी और मज़्मून के दरमियान फ़र्क़ क़ायम हुआ, जिसके कारण मज़्मून-आफ़्रीनी को मर्कज़ी(केन्द्रीय) अहमियत हासिल हो गयी, फिर मानी-आफ़्रीनी की मुहिम में ईहाम, रिआयत, और मुनासबत के तसव्वुरात को बरुए-कार लाया गया(क्रियान्वित किया गया)। उन्नीसवीं सदी के शुरू या अठारहवीं सदी के आख़िरी बरसों में ख़यालबन्दी को मक़्बूलियत हासिल हुई। शेरीआत के दृष्टिकोण से क्लासिकी ग़ज़ल के सफ़र की अहम मंज़िलें यही हैं।

'ईहाम' की तारीफ़(परिभाषा) आम तौर पर ये की जाती है कि शायर ऐसा लफ़्ज़ इस्तेमाल करे जिसके दो मानी हों, एक क़रीब के और एक दूर के, और शायर ने दूर के मानी मुराद लिये हों। ऐसी सूरत में शायर को ऐसा कोई क़रीना भी रख देना चाहिए जिससे मालूम हो कि उसने क्या मानी मुराद लिये थे। ये क़रीना ख़ुफ़िया भी हो सकता है और स्पष्ट भी। इस तारीफ़ को ईहाम की 'ख़ालिस' और अक़ल(minimum) तारीफ़ कह सकते हैं ('अक़ल' मैंने इसलिए कहा कि ईहाम की बहस में बहुत-सी बारीकियाँ भी हैं और बहुत-से उलझावे भी)। इसके अलावा क्लासिकी उर्दू शायरों ने इज़्हार की कुछ और सूरतें अख़्तियार की हैं और उन्हें भी आम तौर पर ईहाम का नाम दिया है। मुख़्तसर तौर पर कहें तो हमारे ईहाम की तीन क़िस्में नज़र आती हैं—

1. **ईहामे-ख़ालिस :** यानी जहाँ एक लफ़्ज़ के दो मानी(अर्थ) हों, एक क़रीब के और एक दूर के, और शायर ने दूर के मानी मुराद लिये हों।
2. **ईहामे-पेचीदा :** जहाँ एक लफ़्ज़ के दो या दो से ज़ियादा मानी हों और तमाम मानी कमो-बेश मुफ़ीदे-मतलब(प्रयोजनानुकूल) हों, बजाय इसके कि शायर ने कौन-से मानी मुराद लिये थे।
3. **ईहामे-मुसावात :** जहाँ एक लफ़्ज़ के दो मानी हों, दोनों बराबर के, कमो-बेश या दोनों मानी बिल्कुल ज़ोरदार हों और ये फ़ैसला करना मुश्किल हो कि शायर ने कौन-से मानी मुराद लिये थे।

ईहाम को मानी-आफ़्रीनी की ग़रज़ से इस्तेमाल करनेवाले शोअरा ने ये भी मह्सूस किया होगा कि उर्दू में न सिर्फ़ कसीरुल-मानी अल्फ़ाज़(बहुअर्थी शब्द) बहुत हैं, बल्कि ऐसे अल्फ़ाज़ भी बहुत हैं जिनके दरमियान बज़ाहिर मानी का अलाक़ा(स्पष्ट अर्थ-सम्बन्ध) है, और ये बात भी उर्दू अल्फ़ाज़ की फ़ित्री कसीरुल मानवीयत(स्वाभाविक बहुअर्थिता) के कारण है। लिहाज़ा अगर ऐसा कलाम बनाया जाये जिसमें मानी का आपस में स्पष्ट सम्बन्ध रखनेवाले अल्फ़ाज़ हों तो ये मानी-आफ़्रीनी तो न होगी, लेकिन मानी की अर्थ-सदृशता के कारण एक तरह का ईहाम तो पैदा ही होगा। इस अमल को कलाम में रिआयत पैदा करने का अमल कह सकते हैं।

रिआयत कसीरुल-इत्लाक़ इस्तिलाह(बहुआयामी पारिभाषिक शब्द) है। अल्फ़ाज़ के दरमियान अर्थगत सम्बन्ध या अर्थगत समानता हो या कुछ सन्अतें(अलंकार) हों, मस्लन् ईहामे-

तज़ाद, ईहामे-सौत, ईहामे-तनासुब, लफ़्फ़ो-नस्र की कुछ सूरतें, ज़िला-जुगत, ये सब रिआयत के तहत आती हैं। रिआयत की वजह से हमेशा कलाम में हुस्न पैदा होता है। जो शख़्स रिआयत को नहीं समझता या उसे ग़ैर अहम समझता है या जिसे रिआयत में लुत्फ़ नहीं आता, उसे क्लासिकी शायरी पढ़ना छोड़कर कोई और धन्धा करना चाहिए। ये कहना भी ग़लत है कि रिआयत महज़ 'लफ़्ज़ी बाज़ीगरी' है और हमें कायनात के बारे में कुछ नहीं बताती। अव्वल तो 'लफ़्ज़ी बाज़ीगरी' कोई ऐसी बुरी चीज़ नहीं। जिस चीज़ का शेक्सपियर और हाफ़िज़ ने बड़े एहतमाम (व्यवस्थित ढंग) से अनुकरण-अनुसरण किया हो, जो कीट्स (Keats) से लेकर भर्तृहरि और अमारू के यहाँ बराबर की शान से जल्वागर हो, जिसे ख़ाक़ानी, ख़ुस्रो और टी.एस. इलियट ने अपने-अपने तौर पर हुस्ने-कलाम का माध्यम बनाया हो, उसे 'लफ़्ज़ी बाज़ीगरी' कहना शायरी की रूह को झुठलाना है। रिआयत हमें ज़बान और उसकी सम्भावनाओं, ज़बान की लताफ़तों और नज़ाकतों, मानी के ग़ैर-मुतवक़्क़ो(अनपेक्षित) पहलुओं के बारे में भी बहुत कुछ बताती है और ज़बान हमारी कायनात का अहमतरीन उंसुर(तत्त्व) है, यानी ज़बान नहीं तो कायनात नहीं। कायनात के बारे में बयानात ज़बान ही के ज़रिए मुम्किन् हैं, इसलिए सारी-की-सारी ज़बान हमारे इल्मे-कायनात की ईजाद करनेवाली है। जब वली कहते हैं—

न जा अँखियाँ में आ मुझ दिल में अय शोख़
कि नईं ख़ल्वत में दिल की ख़ौफ़ मर्दुम

तो वो 'मर्दुम' बमानी 'आँख की पुतली' और 'मर्दुम' बमानी 'इंसान' के ज़रिए हमें ये बताते हैं कि इंसान का वजूद किसी-न-किसी सत्ह पर आँख का मर्हूने-मिन्नत(आभारी, कृतज्ञ) है (मस्लन् किसी तस्वीर में से आँखें मिटा दीजिए और देखिए क्या बचता है)।

ये ख़याल ग़लत है कि मीर, ग़ालिब, अनीस वग़ैरह 'सच्चे' शायर थे, लिहाज़ा उन्हें रिआयत, ईहाम या किसी तरह की सन्अतगरी(अलंकारिता या कलात्मकता) से कोई सरोकार न था। हक़ीक़त ये है कि उन सब लोगों को इस बात का एहसास था कि उर्दू-ज़बान में ईहाम और रिआयत की इस क़दर सम्भावनाएँ हैं कि उनसे फ़ायदा हासिल करके शायर अपने कलाम का दामन नये-नये लालो-गुहर से मालामाल कर सकता है। उन्हें मालूम था कि हुनरमन्दी, फ़न्नी नज़ाकत और लफ़्ज़ी बारीकी हर जगह काम आती है। अगर शेक्सपियर, 'रोमियो और जूलिएट' में ख़ुदकुशी और मौत के मौक़े पर रिआयत से काम लेते हैं तो मीर अनीस और मीर भी बुका और हुज़्न(आर्त्तनाद, शोक-विलाप आदि) के मौक़े पर रिआयत को बरतते हैं और कलाम के हुस्न को दोबाला करते हैं। मिसाल के तौर पर Romeo and Juliet पाँचवें एक्ट का वो मौक़ा मुलाहिज़ा हो जब जूलिएट के मरने की ख़बर रोमियो को मिलती है। रोमियो का ख़ादिम बाल्थाज़ार (Balthasar) ख़बर लेकर आता है—

Romeo : How doth my lady? Is my father well?
How fares my lady? That I ask again.
For nothing can be ill if she be well.
Balthasar : Then she is well and nothing can be ill. (V.i., 4-17)

रोमियो How is my lady की जगह How doth my lady कहता है। दोनों के मानी एक हैं, लेकिन to do का एक प्राचीन अर्थ to go भी है और to go का एक अर्थ to die भी है। दूसरी पंक्ति में fares का अर्थ वही है जो doth के हैं, लेकिन fares की आवाज़ fair's की-सी है, जो fair is का लघु रूप है, यानी— How fair is my lady.

Fair के कई अर्थ हैं— 'ख़ूबसूरत', 'अच्छी हालत में', 'तनदुरुस्त', 'इंसाफ़पसन्द' वग़ैरह। जूलिएट चूँकि मर चुकी है इसलिए, ये मानी ईहाम की तंज़िया कैफ़ियत(व्यंजनापूर्ण स्थिति)से युक्त

हैं और अगली सतरों(पंक्तियों) में ill और well से मुनासबत भी रखते हैं। ख़ुद ill के कई अर्थ हैं— 'बीमार', 'बुरा', 'नामुनासिब' वग़ैरह और well का अर्थ है— 'तनदुरुस्त', 'बख़ैरियत'; well 'अच्छा', 'अच्छी' के अर्थ में भी है और ख़ादिम के जवाब में well के ये अर्थ ज़ियादा उभरे हैं कि (मर जाने के कारण) वो नेक है, मासूम है, अच्छी है, यानी अब उसे कोई बुराई, कोई गुनाह में लिप्त नहीं कर सकता। लिहाज़ा अब कोई भी शै बीमार या ख़राब नहीं हो सकती। चूँकि थोड़ी ही देर में रोमियो दुख की अधिकता से ख़ुदकुशी कर लेगा, लिहाज़ा nothing can be ill का अर्थ है कि जूलियट की मौत के नतीजे में रोमियो ख़ुद मर जायेगा और 'मुर्दा को मरज़ नहीं', वो हमेशा के लिए बीमारी से नजात पा जाता है। और आगे देखिए, रोमियो भागा-भागा जूलियट के मज़ार पर जाता है। उसके हाथ में ज़हर की शीशी है। वो जूलिएट की क़ब्र खोलता है। ताबूत का ढकना उठाता है, जूलियट के मुर्दा सरापा पर नज़र डालता है। ख़ुदकुशी करते वक़्त उसके अल्फ़ाज़ हैं—

Romeo : Eyes look your last,
Arms take your last embrace, and lips (you
The doors of breath) seal with righteous
Kiss. A cateless bargain on engrossing,
Death! Come bitter conduct, come unsave'ry guide,
Thou desp'rate pilot, now at once run on
The dashing rocks thy seasick weary bark.
Here's to my love. O true apothecary,
Thy drugs are quick. Thus with a kiss a die (V, iii., 114-121)

जहाँ look के बहुत-से अर्थ हैं, वहाँ एक (प्राचीन) अर्थ है— 'देखने की क़ूवत या सलाहियत (योग्यता/पात्रता) हासिल करना।' लिहाज़ा रोमियो की बात का एक मुख्य आशय ये हुआ कि ''अय मेरी आँखो! अब आख़िरी बार देखने की क़ूवत हासिल कर लो, क्यूँकि जब जूलियट न दिखायी देगी तो कुछ भी दिखायी न देगा''। इन अर्थों की पुष्टि इस बात से भी होती है कि पूरे ड्रामे में रोमियो ने जूलियट के लिए जगह-जगह रोशनी के इस्तिआरे(उपमा/रूपक) इस्तेमाल किये हैं। यहाँ look ईहाम की उम्दा मिसाल है। Take का अर्थ है 'लेना', 'फ़त्ह करना' और Arms का अर्थ है 'बाज़ू', 'हथियार', इनकी मुनासबत ज़ाहिर है। ईहाम तब खुलता है जब इस बात को ख़याल में लायें कि embrace का एक अर्थ 'मुबाशरत करना'(रतिक्रीड़ा) भी है और जिंसी अमल(sexual act) को 'क़िला फ़त्ह करने' से भी व्यक्त करते हैं। Embrace की एक शक्ल Embrase भी है, जिसका अर्थ है 'आग लगा देना'। इन अर्थों का ताल्लुक़ जिंसी जज़्बे(ऐन्द्रिक अनुभूतियाँ) की शिद्दत से ज़ाहिर है और से लफ़्ज़ Embrase से Embrasure हासिल होता है, जिसका अर्थ है क़िले के बुलन्द सूराख़दार बुर्ज, जिसमें बन्दूक़ रखकर और जिसकी आड़ लेकर दुश्मन पर निशाना लगाते हैं। इन सब अल्फ़ाज़ में जिंसी जज़्बे की शिद्दत और अमल की तरफ़ इशारे हैं। बक़िया पंक्तियाँ छोड़ता हूँ, क्यूँकि तफ़्सील बहुत लम्बी हो जायेगी। सिर्फ़ आख़िरी फ़िक़रे पर ग़ौर कीजिए— Thus with a kiss I die.

Kiss(बोसा) और जिंसी अमल(embrace) दोनों को मौत से ताबीर किया जाता है और चन्द सतरें पहले जूलियट की लाश को देखकर रोमियो कह चुका है कि मौत ने तेरी साँसों का शहद चूस लिया है। इसके बाद ज़ेरे-ग़ौर पंक्ति में वो होंठों को doors of breath कहता है। जब बोसा लेते हैं तो साँस रुक जाती है, यानी साँस के दरवाज़े बन्द हो जाते हैं, लेकिन जिस तरह 'नफ़स' 'साँस' के भी अर्थ में है और 'गुफ़्तगू' के अर्थ में भी, उसी तरह breath भी 'साँस' और 'गुफ़्तगू' के अर्थ में है। बोसा लेते वक़्त होंठ बन्द हो जाते हैं यानी साँस और गुफ़्तगू दोनों का दरवाज़ा बन्द हो जाता है। लिहाज़ा बोसा बराबर है मौत के; मौत जिसने जूलियट के होंठों से शहद चूसकर उसकी जान ले ली है। फिर die का अर्थ 'मरना' भी है और go भी, और come भी। लिहाज़ा

रोमियो की मौत उसके लिए विसाल भी है और वस्ल भी।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा, अगर इन सात-आठ मिस्रों का पूरा विश्लेषण करूँ तो कई पन्ने लगेंगे, लेकिन इस ज़रा-सी मिसाल से ये स्पष्ट है कि शेक्सपियर को इन चीज़ों से कितना लगाव था जिन्हें मैंने ईहाम, रिआयत और मुनासबत से ताबीर(परिभाषित, निर्वचित) किया है और जिन्हें हमारे किताबी नक़्क़ाद 'लफ़्ज़ी बाज़ीगरी' क़रार देते हैं और शर्मनाक चीज़ समझते हैं।

ऊपर मैंने ये भी कहा था कि मीर अनीस और मीर बुका और हुज़्न(आर्त्तनाद, शोक-विलाप आदि) के मौक़े पर भी ईहाम और रिआयतों का अनिवार्य रूप से पालन करते हैं। यहाँ एक-एक मिसाल को ही पर्याप्त मानकर पेश कर रहा हूँ। मीर अनीस के मर्सिये 'जब कर्बला में दाख़िला-ए-शाहे-दीं हुआ' में जनाब अब्बास(रजि॰) की जंग और शहादत के बयान में बैत है—

रक्खे हुए हैं मश्क पे मुँह प्यार देखिए
शाने कटे हैं शाने-अलमदार देखिए

अलमदार हुसैनी के दोनों शाने क़लम हैं(काँधे कटे हुए हैं), लेकिन वो दाँतों से मश्क(पानी भरने की चमड़े की खाल) पकड़े हुए हैं और उसी आलम में जामे-शहादात नोश करते हैं। जनाब अली अकबर(रजि॰) और इमाम हुसैन(रजि॰) अपने लश्कर के अलमदार(सेना के आगे झण्डा लेकर चलनेवाला) की तलाश में निकले हैं। हज़रत अली अकबर(रजि.) की निगाह जनाब अब्बास(रजि॰) पर पड़ती है और वो पुकार उठते हैं— 'शाने कटे हैं शाने-अलमदार देखिए'। अस्ल मिस्रे में 'शाने-अलमदार' मुज़ाफ़ मुज़ाफ़-इलैह(सम्बन्धकारक जातिवाचक है) है, लेकिन 'शान' पर कस्रा('ज़ेर' की अलामत) के कारण उसे 'शाने' भी पढ़ सकते हैं। ईहामे-सौत का मौक़ा हाथ आया तो मीर अनीस ने उसे फ़ौरन इस्तेमाल कर लिया। रोने-धोने का लम्हा अपनी जगह, लेकिन शायर हुनरमन्दी और फ़नकारी को हाथ से जाने नहीं देता। मीर अनीस की निगाह में दर्दो-ग़म के बयान और फ़नकारी के इज़्हार में कोई दोष नहीं।

मीर की मिसाल के लिए मैं महज़ एक लफ़्ज़ 'वाक़िआ' को पेश करता हूँ। 'वाक़िआ' के निम्नलिखित अर्थ उर्दू में निर्धारित हैं— 1. कोई बात जो पेश आये, event, 2. हक़ीक़त, 3. ख़्वाब, 4. मौत। मीर ने लफ़्ज़ 'वाकिआ' कई बार इस्तेमाल किया है। निम्नलिखित मिसालें देखिए कि उनमें मीर ने इस लफ़्ज़ की विभिन्न अर्थगत सम्भावनाओं को किस-किस तरह उजागर किया है—

आया जो वाक़िऐ में दरपेश आलमे-मर्ग
ये जागना हमारा देखा तो ख़्वाब निकला

दीवाने-अव्वल

ऐसा न हुआ होगा कोई वाक़िआ आगे
इक ख़्वाहिशे-दिल साथ मेरे जीती गड़ी है

दीवाने दोयम

जहाँ में 'मीर' से काहे को होते हैं पैदा
सुना ये वाक़िआ जिनने उसे तअस्सुफ़ था

दीवाने-सोयम

मरने के पीछे तो राहत सच है लेक
बीच में ये वाक़िआ हाइल है याँ

दीवाने-दोयम

ईहाम और रिआयत को एक-दूसरे का अक्स कह सकते हैं। जैसा कि मैंने ऊपर कहा, ईहाम की अक़ल(minimum) शर्तें दो हैं। अव्वल ये कि किसी लफ़्ज़ के दो अर्थ हों, एक क़रीब और एक

दूर का; और दूसरी ये कि शायर ने दूर के मानी मुराद लिये हों। इसी तरह, रिआयत की कम-से-कम शर्तें दो हैं। अव्वल ये कि किसी लफ़्ज़ या फ़िक़रे के दो अर्थ हों, एक क़रीब और एक दूर का। दूसरी शर्त ये कि क़रीब का अर्थ बयान के मुनासिब हों, लेकिन दूर का अर्थ उसी जगह के किसी और लफ़्ज़ या फ़िक़रे से मुनासबत रखते हों। ज़ाहिर है कि ईहाम के मुक़ाबले में रिआयत ज़ियादा मुश्किल है। ईहाम का तक़ाज़ा ये है कि ऐसा लफ़्ज़ या फ़िक़रा लाया जाये जिसके दो अर्थ हों और रिआयत का तक़ाज़ा ये है कि ऐसा लफ़्ज़ या फ़िक़रा लाया जाये जिसके दो अर्थ भी हों और एक अर्थ का सम्बन्ध उसी इबारत में वहीं कहीं किसी और लफ़्ज़ या फ़िक़रे से भी हो। इसी एतबार से ये बारीक बात भी है कि जिस लफ़्ज़ या फ़िक़रे पर ईहाम का आधार रखा गया है उसे बदलकर कोई मुरादिफ़(पर्यायवाची) रख दें तो कलाम बेमानी हो जायेगा, लेकिन अगर रिआयतवाला लफ़्ज़ या फ़िक़रा बदलकर कोई दूसरा बामानी मुरादिफ़ रख दें तो कलाम बेमानी न होगा, लेकिन उसकी क़ूवत कम हो जायेगी।

रिआयत की इस बहस से ये बात स्पष्ट हो गयी कि रिआयत भी एक तरह का ईहाम है। 'मुनासबत' को भी पुराने लोग रिआयत की स्थिति(condition) से समझते थे, क्यूँकि मुनासबत की भी शर्त यही है कि कलाम में अल्फ़ाज़ या फ़िक़रे(वाक्य या वाक्यांश) ऐसे हों जिनका आपस में अर्थगत सम्बन्ध हो, लेकिन इन दोनों में एक बुनियादी फ़र्क़ भी है। रिआयत में अल्फ़ाज़ या फ़िक़रे के दरमियान अर्थगत सम्बन्ध का महज़ गुमान गुज़रता है और मुनासबत में अर्थगत सम्बन्ध वाक़ई होता है। मुनासबत के ज़रिअे शेर के मानी में जो अफ़्ज़ाइश और इस्तेहकाम(वृद्धि और स्थायित्व) वजूद में आता है वो रिआयत के बस का नहीं, यानी मुनासबत का अर्थ है कलाम में ऐसे अल्फ़ाज़ का इस्तेमाल जो आपस में अर्थगत सम्बन्ध रखते हों और जो कलाम के मानी में इज़ाफ़ा करें या उसे उत्तरोत्तर दृढ़ता, विस्तार और गहराई प्रदान करें।

हाली और आज़ाद के ज़ेरे-असर जो शायरी पैदा हुई, उसके रद्दे-अमल(प्रतिक्रिया) के तौर पर (या बज़अमे-ख़ुद इसकी इस्लाह करके और उसमें 'नयी' ख़ूबियों का इज़ाफ़ा करके) नज़्मे-जदीद के दूसरे-तीसरे दौर के जो शायर सामने आये मस्लन् 'जोश', 'सीमाब' वग़ैरह वो क्लासिकी तसव्वुरात से नावाक़िफ़ थे और पाश्चात्य विशेषताओं के ज्ञान से भी वंचित थे। लिहाज़ा उनका नुक़्सान सबसे ज़ियादा हुआ। उन शायरों को मुनासबत की ख़ूबियों की कुछ ख़बर न थी। हस्रत मोहनी ने 'महासिने-सुख़न' में मुनासबत का ज़िक्र ज़रूर किया था, लेकिन न मिसालें दी थीं और न तफ़्सील बयान की थी। ऊपर उल्लिखित शायर और उनके साथियों का ख़याल था कि 'ख़याल' मुकम्मल तौर पर अदा हो जाये तो काफ़ी है। वो इस नुक्ते(मर्म) को न जानते थे कि ख़याल जितनी ख़ूबी से बयान किया जाये, वो उतना ही उम्दा होगा, यानी हुस्ने-बयान के बग़ैर हुस्ने-ख़याल नहीं। वो आम तौर पर हुस्ने-बयान को हुस्ने-ख़याल से अलग समझते थे। ये लोग रिआयत को सरसरी क़िस्म की ज़िला-जुगत(पहलूदार बात, बहुअर्थी या बहुआयामी बात) से ज़ियादा न समझते थे। ईहाम की सिर्फ़ अक़्ल तारीफ़ से वो वाक़िफ़ थे और बहरहाल वो ईहाम को बाइसे-शर्म समझते थे, बल्कि वो लोग ईहामे-ख़ालिस को भी बरतने में समर्थ न थे। मुनासबते-अल्फ़ाज़ का अभाव, भाषा की सृजनात्मक सम्भावनाओं को उजागर करने से गुरेज़, ज़बान का मैकेनिकी और बेरूह इस्तेमाल, ये जोश साहब की ख़ास विशेषताएँ हैं और जोश ही क्यूँ उस ज़माने के तमाम शायरों का कमोबेश यही हाल था। फ़र्क़ सिर्फ़ दशा का था, दिशा का नहीं।

रिआयत और ईहाम जैसे विचारों के समाप्त होने और कमोबेश इनके इस्तेमाल कम हो जाने से हमारी शायरी को जो नुक़्सान पहुँचा उसकी थोड़ा-बहुत तलाफ़ी(क्षतिपूर्ति) तो यूँ हुई कि 'आज़ाद'-ओ-'हाली' के ज़ेरे-असर 'हक़ीक़त-निगारी' और 'जज़्बात-निगारी' का विकास हुआ और ऐसी शायरी कम हो गयी जिसमें ज़ेह्न पर ज़ोर देना पड़े, लेकिन मुनासबत का तसव्वुर ग़ायब

हो जाने, या मुनासबत का लिहाज़ न रखने के कारण जो नुक़्सान पहुँचा उसकी सीमित तलाफ़ी उसी वक़्त हो सकी जब जदीदियत पर आधारित शायरी और ख़ासकर जदीदियत-पसन्द नज़्म का बोलबाला हुआ। जदीदियत की शेरीआत में भी ईहाम वग़ैरह की गुंजाइश है, लेकिन उसका काम इसके बग़ैर भी चल सकता था और चला। जदीदियत-पसन्द नज़्म चूँकि ज़ियादातर ज़ाती तास्सुरात(व्यक्तिगत अनुभवों-अनुभूतियों) पर आधारित थी, इसलिए उसने मुनासबत, तश्बीहात, इस्तिआरात और अलामत को तो अख़्तियार किया, लेकिन अलग से मुनासबत वग़ैरह पर कोई ख़ास तवज्जो न दी। इसकी एक वजह ये भी है कि जदीदियत का ज़माना आते-आते क्लासिकी शेरीआत की क़द्र-ओ-क़ीमत बिल्कुल जाती रही थी। जदीदियत ने अपना जवाज़(वैधानिकता, औचित्य) ज़ियादातर ग़ालिब के यहाँ से हासिल किया, या फिर मग़रिबी(पाश्चात्य) ग़ैर-अफ़्लातूनी(Non-platonic) नज़रियाते-अदब से, जिनमें अलामत-परस्ती और रूमानियत सबसे ज़ियादा नुमायाँ थीं। जदीदियत को क्लासिकी अदब से मुहब्बत थी, लेकिन अभी उसे क्लासिकी शेरीआत को दर्याफ़्त करना था, जिसकी रोशनी में सिर्फ़ ग़ालिब ही नहीं, बल्कि तमाम क्लासिकी अदब को और ख़ुद ग़ालिब को भी, उन्हीं तक़ाज़ों की रोशनी में पढ़ना मुम्किन होता जिन तक़ाज़ों ने क्लासिकी अदब को जन्म दिया था।

जदीदियत-पसन्द नज़्म में तज्रुबा और इज़्हार की आज़ादी पर ज़ोर सबसे ज़ियादा था। लिहाज़ा क्लासिकी तसव्वुराते-शेर इसकी फ़ौरी ज़रूरत न थे। 'इक़्बाल' ने अपनी नज़्म में क़दीम तर्ज़(पुरानी शैली) को बहुत-कुछ बाक़ी रखा था। इसलिए उनके यहाँ मुनासबत ख़ूब कारफ़र्मा है। रिआयत भी मौजूद है, यहाँ तक कि वो ईहाम भी बरत लेते हैं। 'हाली' और 'आज़ाद' के ज़ेरे-असर 'इक़्बाल' भी शायरी को 'पैग़ाम' का मुरादिफ़(समानार्थी) क़रार देते थे और आम तौर पर वो इस बात से इन्कार भी करते थे कि वो शायर 'या फ़नकार' भी हैं, लेकिन वास्तविकता ये है कि 'इक़्बाल' के यहाँ 'फ़नकारी' या क्लासिकी तर्ज़ की शेरगोई जगह-जगह कारफ़र्मा है। 'इक़्बाल' के ख़याल की नवीनता-मौलिकता(या उसका तत्कालीन वास्तविकताओं से सम्बन्धित होना) और पैग़म्बराना-हकीमाना(दर्शनपूर्ण) लहजे के कारण और इस कारण कि उनका कलाम कुछ सियासी-समाजी ज़रूरतों को पूरा करता हुआ नज़र आता था; लोगों ने उनके 'पैग़ाम' पर फ़ौरी तवज्जो दी और दिल खोलकर उसकी दाद दी, या फिर सियासी वजूद के आधार पर उनके 'पैग़ाम' की दिल खोलकर मुख़ालिफ़त भी हुई। इस शोरगुल में 'इक़्बाल' के फ़न की तरफ़ ध्यान कम दिया गया।

'इक़्बाल' के साथ दूसरी बात ये हुई कि उनके प्रारम्भिक आलोचक सब-के-सब 'हाली' 'आज़ाद' के शागिर्द थे और बाद में आनेवाले भी यानी तरक़्क़ी-पसन्द और मक्तबी नाक़िदीन (पाठ्य-पुस्तकीय आलोचक), दोनों इस बात पर इत्तफ़ाक़ रखते थे कि शायरी ख़यालात के अलावा और कुछ नहीं। लिहाज़ा इक़्बाल के साहित्यिक सौन्दर्य पर और ख़ासकर उन सौन्दर्य पर कोई तवज्जो न हुई जो क्लासिकी शेरीआत से कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण किये गये थे; और तवज्जो क्यूँ होती, जब क्लासिकी शेरीआत के बारे में ये ख़याल आम था कि वो ज़ियादातर इन्हितात-पज़ीर तसव्वुरात(पतनोन्मुख विचार) पर आधारित है और उसमें 'लफ़्ज़ी बाज़ीगरी' के सिवा किसी चीज़ की अहमियत नहीं, वर्ना कुल्लियाते-इक़्बाल का कोई पृष्ठ खोलिए— आपको रिआयत, मुनासबत और कहीं-कहीं ईहाम की भी जल्वागरी नज़र आयेगी। मुम्किन है (बल्कि यक़ीनन्) कि 'इक़्बाल' ने इन चीज़ों को शऊरी तौर पर(जानबूझकर या प्रयासपूर्वक) न अख़्तियार किया हो, लेकिन हर अच्छे शायर की तरह (और 'इक़्बाल' अच्छे ही नहीं, बड़े शायर भी हैं)। भाषागत सम्भावनाओं और विशेषताओं को क्रियान्वित करना और मानी को बिलक़िता से बिलफ़ेल से मुंतकिल करना उनका फ़ित्री रुज़्हान था। मैंने अभी कुल्लियाते-इक़्बाल को फ़ेहरिस्त देखे बग़ैर बस यूँ ही खोला

तो 'शम्अ और शायर' का आठवाँ बंद(बंध) सामने था, इसके हर शेर में मुनासिबतें और रिआयतें हैं। मैं शुरू के सिर्फ़ तीन शेर नक़्ल(उद्धृत) करता हूँ—

पर्दए-दिल में मुहब्बत को अभी मस्तूर रख
यानी अपनी मय को रुस्वा सूरते-मीना न कर

'मस्तूर' के मानी हैं 'छुपा हुआ', औरतों को इसीलिए 'मस्तूरात' कहते हैं कि वो पर्दे में छुपी रहती हैं। लिहाज़ा 'पर्दा' और 'मस्तूर' रिआयत है, ख़ासकर जब ये ख़याल करें कि लफ़्ज़ 'मुहब्बत' ख़ुद मुअन्नस(स्त्रीलिंग) है। 'दिल' को 'मीना' से और दिल के ख़ून को शराब से तश्बिया(उपमित करना) देते हैं। 'रुस्वा' के एक मानी हैं— 'खुला हुआ, बेपर्दा, वो जिसे सब के सामने कर दिया जाये, ख़ासकर तौहीन की ग़रज़ से। अब 'दिल', 'मीना', 'रुस्वा', 'पर्दा' और 'मय' की मुनासबत स्पष्ट है।

ख़ेमाज़न हो वादिए-सीना में मानिन्दे-कलीम
शोलए-तह्क़ीक़ को ग़ारतगरे-काशाना कर

हज़रत मूसा तुग़रा को वादिए-सीना('सीना' सीरिया के एक पहाड़ का नाम है। इसे ही 'तूर' या 'कोहे-तूर' भी कहते हैं। 'तूर' को 'तूरे-सीना' भी कहते हैं- अनु.) में अल्लाह तआला का नूर शोले की शक्ल में दिखाया गया था। उस शोले ने कोहे-तूर को जलाकर ग़ारत कर दिया था। हज़रत मूसा तुग़रा उस वक़्त एक घरेलू आदमी थे। वो अपनी हामिला(गर्भवती) बीवी हज़रत सफ़ूरा को लेकर कहीं जा रहे थे। रात का वक़्त था। हज़रत सफ़ूरा की तबीअत ख़राब हुई तो कोहेतूर पर वो आग लेने गये थे और शोला-ए-जमाले-इलाही ने उनको पैग़म्बर बना दिया, यानी अब वो घरेलू आदमी न रह गये। अल्लाह के रसूल बन गये। अब उन्हें घर और घरवालों से वो मतलब न रहा जो किसी आम शख़्स का होता है। इन मुनासबतों की रौशनी में 'वादिए-सीना', 'कलीम', 'शोला' और 'ग़ारतगरे-काशाना' के अर्थ और लफ़्ज़ दोबाला हो जाते हैं।

शम्अ को भी हो ज़रा मालूम अंजामे-सितम
सर्फ़े-तामीरे-सहर ख़ाकस्तरे-परवाना कर

'शम्अ' और 'ख़ाकस्तरे-परवाना' में मुराआतुन्नज़ीर[5] तो है ही, जो मुनासबत की अदना सूरत है। 'शम्अ' और 'सितम' में भी मुनासबत है। एक तो ये कि शम्अ के शोले को तल्वार से तश्बिया(उपमा देना) देते हैं और दूसरी ये कि परवाने की मौत शम्अ के इश्क़ में होती है, लेकिन शम्अ इस क़ुर्बानी के बावजूद परवाने का कुछ ख़याल नहीं करती। बारीक बात ये है कि तामीर के लिए ख़ाक इस्तेमाल करते हैं; 'तामीर' और 'ख़ाकस्तर' का रंग भूरा(Gray) होता है और 'सहर' को सफ़ेद मानते हैं, लेकिन उस सफ़ेदी के नुमूदार(उदित) होने से पहले आस्मान का रंग ख़ाकस्तरी(Gray) होता है। लिहाज़ा 'सहर' और 'ख़ाकस्तर' में भी मुनासबत है।

मैंने ऊपर कहा कि इक़्बाल के कलाम में ईहाम भी नज़र आता है। ये दावा दलील चाहता है, लिहाज़ा चन्द मिसालें पेशे-ख़िद्मत हैं—

मर्दुमे-चश्म ज़मीं यानी वो काली दुनिया
वो तुम्हारे शुहदा पालनेवाली दुनिया
गर्मिए-मेह्र की परवर्दा हिलाली दुनिया
इश्क़वाले जिसे कहते हैं बिलाली दुनिया

×× ×× ××

तैश-अंदोज़ है इस नाम से पारे की तरह
ग़ोताज़न नूर में है आँख के तारे की तरह

('जवाबे-शिकवा' से)

'मर्दुमे-चश्म' (यानी आँख की पुतली, जो काली होती है) और 'काली' में मुनासबत ज़ाहिर है, लेकिन 'काली' में ईहाम भी है, कि इसके एक मानी हैं Black जो क़रीब के मानी हैं और दूसरे मानी हैं 'काले रंगवालों की', ये बाद-मानी हैं और यही मानी शायर ने मुराद लिये हैं। 'पालनेवाली' में भी ईहाम है। एक मानी हैं 'परवरिश करनेवाली' और एक मानी हैं 'गोद में लिये रहनेवाली'। पहला मानी क़रीब के हैं(यानी प्रथम दृष्टया अथवा सामान्य अर्थ), दूसरा मानी-ए-बाद है; और वही मुरादे-शायर है, यानी अफ़्रीक़ा की ज़मीन मुसलमानों के शुहदा('शहीद' का बहुवचन) को आग़ोश में लिये हुए है। पहला मानी भी नामुनासिब नहीं, यानी ये वो ज़मीन है जो ऐसे लोगों को पालती-पोसती है जो बड़े होकर शुहदा होंगे (अफ़्रीक़ी मुसलमानों और पश्चिम के साम्राज्यवादी हाकिमों के दरमियान जेहाद की तारीख़ बहुत पुरानी और ख़ूनी है। यहाँ फ़ौरी हवाला अल्जीरिया, मराक़िश और सूडान के मुसलमानों के जेहाद का मालूम होता है)। 'मेह्र' बमानी 'सूरज' है, ये मानी क़रीब के हैं, लेकिन बाद-मानी (मेह्र : मुहब्बत, इश्क़) भी कारआमद हैं, जैसा कि अगले मिस्र्रे से मालूम होता है। 'हिलाली' में भी ईहाम है। इसके क़रीबी मानी हैं 'हिलाली शक्ल की', लेकिन ये मानी मुराद(अभीष्ट) नहीं। बाद-मानी (इस्लामी) मुराद हैं कि 'हिलाल'(द्वितीया का चाँद) को तमाम दुनिया में इस्लाम की अलामत(प्रतीक) क़रार दिया जाता है। 'बिलाली' में फिर ईहाम है। क़रीब के मानी हैं हज़रत बिलाल(रज़ी॰) का देश (हज़रत बिलाल जहाँ से आये वो ख़ित्तए-ज़मीन) ये मानी मुनासिब हैं, लेकिन मुरादे-शायर है 'वो दुनिया जिसके वासियों में हज़रत बिलाल(रजी॰) जैसी सिफ़ाते-इश्क़िया(इश्क़िया विशेषताएँ) पायी जाती हैं। बैत के मिस्र्रों में ईहाम नहीं, लेकिन पहले के चार मिस्र्रों के कलीदी अल्फ़ाज़(keywords) से मुनासबत रखनेवाले अल्फ़ाज़ बहुत हैं ('आँख का तारा' मुहावरा है लिहाज़ा इसको शायर का बनाया हुआ ईहाम नहीं कह सकते, मगर ईहाम इसमें बहरहाल मौजूद है कि आँख की पुतली जो सियाह होती है, उसे 'तारा' यानी रोशन शै कहा जा रहा है।)

ये और इस तरह की तमाम मिसालें इस बात को साबित करने के लिए काफ़ी हैं कि इक़्बाल के यहाँ रिआयत, मुनासबत और ईहाम का व्यवस्थित रूप मौजूद है चाहे उस अधिकता और क्रमबद्धता से न हो जो हमें मीर, ग़ालिब, मीर अनीस वग़ैरह के यहाँ नज़र आता है। शायरी के मंसब और शेर के तफ़ाएल के बारे में 'इक़्बाल' के ख़यालात से हमें इत्तफ़ाक़ हो या न हो, लेकिन उनकी शेरी अमलआवरी(Practice) से कमोबेश पूरा इत्तफ़ाक़ करना पड़ता है। 'इक़्बाल' को क्लासिकी तौर-तरीक़ों का पूरा ज्ञान था और वो जदीद मग़रिबी तसव्वुरात से भी अच्छी तरह परिचित थे। उनके बरख़िलाफ़, 'जोश' जैसे शायर जो 'क्लासिकी रख-रखाव' के साथ 'जदीद ख़यालात' को बयान करने के दावेदार थे, 'न ख़ुदा ही मिला न विसाले-सनम' के उदाहरण होकर रह गये। 'क्लासिकी रख-रखाव' से उनका परिचय 'आज़ाद', 'हाली', 'तबातबाई', हस्रत मोहानी और हद-से-हद शिब्ली की तहरीरों के ज़रीअे थी। तमाम इल्मियत, संजीदगी और ख़ुलूसे-नीयत के बावजूद उर्दू की क्लासिकी शेरीआत से इन हज़रात की वाक़िफ़ीयत कुछ तअस्सुबात(अनुचित पक्षपात) और कुछ नुक़्सानदेह पश्चिमी प्रभावों के आधार पर नाक़िस(त्रुटिपूर्ण) रह गयी। जब शिब्ली जैसे लोग कुछ पाश्चात्य ख़यालात से प्रभावित होने और 'ईरानी मज़ाक़'(ईरानी सौन्दर्यबोध) को सब्के-हिन्दी(Indian style of Persian poetry) से अधिक तर्जीह देने के कारण क्लासिकी उर्दू-ग़ज़ल के सच्चे मिज़ाजशनास न बन सके तो फिर 'जोश' जैसे लोगों से कहाँ मुम्किन था कि वो हमारी क्लासिकी रवायत से वाक़िफ़ भी हों, उसे समझना तो बड़ी बात है। 'जदीद ख़यालात' से इन लोगों की मुलाक़ात इण्टर और हद-से-हद बी.ए. में पढ़ायी जानेवाली अँग्रेज़ी नज़्मों तक सीमित थी और ये नज़्में उन्हें जिस तरह पढ़ायी गयी थीं और जिस नज़रिया-ए-शेर की तर्बीयत उन्हें थी, उस दृष्टि से शैली, टेनीसन, टॉमस ग्रे, टॉमस मूर और वर्ड्सवर्थ वग़ैरह सब एक ही तरह

के शायर थे (यानी सब एक दर्जे के अच्छे शायर थे)। (......**शेष अगले अंक में**)

कुछ पारिभाषिक शब्द

1. एवं 2. मज़्मून और मानी : 'मज़्मून' का अर्थ है– विषय, मामला, दशा। शेर के सन्दर्भ में 'मज़्मून' का आशय उस 'सब्जेक्ट' से होता है जो शेर में उल्लिखित हो, या व्याख्याकार को लगे कि इसमें यही 'सब्जेक्ट' है, जिसे शायर कहना चाह रहा है। इसी 'मज़्मून' शब्द से ही 'मज़्मून-आफ़्रीनी' जैसा शब्द-पद बनता है। 'मानी' का शब्दकोशीय अर्थ है– 'अर्थ, मतलब, आशय, मंशा'। शेर के सन्दर्भ में इसका प्रयोग सम्बन्धित शेर में निहित अर्थ को इंगित करने के लिए किया जाता है। इसी 'मानी' शब्द से ही 'मानी-आफ़्रीनी' जैसा शब्द-पद बनता है। फ़ारूक़ी साहब लिखते हैं– '' 'मानी-आफ़्रीनी' और 'मज़्मून-आफ़्रीनी' अलग-अलग चीज़ें हैं। 'मज़्मून-आफ़्रीनी' का आशय है– (i) कोई नया मज़्मून पैदा करना, (ii) किसा पुराने मज़्मून में कोई नया पहलू निकालना, या (iii) किसी पुराने मज़्मून को नये ढंग से बयान करना; 'मानी आफ़्रीनी' का मतलब है– (i) किसी वस्तु, हक़ीक़त में नये मानी दर्याफ़्त करना, या (ii) कलाम के मानी बज़ाहिर कुछ हों, लेकिन ग़ौर करें तो कुछ और मानी ही निकलें, या (iii) कलाम के एक मानी ज़ाहिर हों, लेकिन ग़ौर करें तो मालूम हो कि उसमें कई अर्थ हैं, या (iv) कलाम ज़ाहिर और साफ़ तौर पर बहुअर्थी हो या (v) कलाम में ऐसी रिआयतें हों जिनसे नये मानी का क़रीना निकले।'' ('शेरे-शोरअंगेज़' से)

3. एवं 4. मुनासबत और रिआयत : 'मुनासबत' का अर्थ है– 'सम्बन्ध, अनुकूलता, मुआफ़क़त'। कहीं-कहीं इसका इस्तेमाल 'संगतपूर्ण होने' या 'औचित्यपूर्ण होने' के अर्थ में भी किया जाता है। इसी 'मुनासबत' शब्द से ही 'मुनासबते-अल्फ़ाज़' शब्द-पद भी बनता है, जिसे अक्सर 'लफ़्ज़ों की मुनासबत' ही कहते हैं या सिर्फ़ 'मुनासबत' का आशय भी शेर के सन्दर्भ में 'लफ़्ज़ों की मुनासबत' ही है। 'रिआयत' शब्द का अर्थ शेर के सन्दर्भ में– 'ध्यान, ख़याल' होता है। इसी 'रिआयत' शब्द से ही 'रिआयते-फ़न', 'रिआयते-लफ़्ज़ी', 'रिआयते-मानवी' और 'रिआयते-अल्फ़ाज़'(या यूँ भी कह दिया जाता है कि– यहाँ लफ़्ज़ों की रिआयत की गयी है।) जैसे शब्द-पद भी बनते हैं। जब सिर्फ़ 'रिआयत' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ 'रिआयते-लफ़्ज़ी' या 'रिआयते-अल्फ़ाज़' ही होता है, जिसका आशय है– ''वह शब्दालंकार जिसमें किसी शेर आदि में एक शब्द के अनुकूल और भी शब्द लाये जायें, जैसे– नदी के साथ नाव, कर्णधार, पतवार आदि शब्द।'' इसके अलावा 'रिआयते-मानवी' का अर्थ है– ''वह अर्थालंकार जिसमें किसी शेर आदि में किसी एक अर्थ से सम्बन्धित और भी समानार्थक शब्द लाये जायें।'' 'मुनासबत' और 'रिआयत' में अन्तर बताते हुए स्वयं फ़ारूक़ी साहब लिखते हैं– ''मुनासबत और रिआयत में फ़र्क़ करना चाहिए। रिआयत के ज़रिअे या तो मानी का विस्तार होता है, या ऐसे मानी पैदा होते हैं जो शेर के मज़्मून से सीधे तौर पर सम्बन्धित नहीं होते। इस तरह ज़बान की सम्भावनाएँ अप्रत्याशित रूप से सामने आती हैं और बयान के लुत्फ़ या कसाव में इज़ाफ़ा करती हैं। रिआयत अगर न भी हो तो मानी निश्चित-निर्धारित हो जाते हैं, लेकिन शेर के लुत्फ़ो-ताज़गी और मानी के विस्तार में कमी आ जाती है। मुनासबत अगर न हो तो शेर में सन्तुलन, हमवारी और चुस्ती नहीं आती और मानी कमज़ोर रह जाते हैं।''

5. मुराआतुन्नज़ीर : ''एक शब्दालंकार जिसमें एक चीज़ के वर्णन में उससे सम्बद्ध और चीज़ों को भी लाया जाय, जैसे– धनुष के साथ बाण, निषंग अथवा प्रत्यंचा आदि का उल्लेख हो।'' 'मुराआतुन्नज़ीर' और 'रिआयते-लफ़्ज़ी' लगभग एक जैसी परिभाषा रखते हैं, लेकिन दोनों में एक विशेष फ़र्क़ होता है– 'रिआयते-लफ़्ज़ी' में एकत्र किये शब्दों का अर्थ महत्त्वपूर्ण होता है, जबकि 'मुराआतुन्नज़ीर' में अर्थ की महत्ता नहीं होती।

(मूल उर्दू से अनुवाद : दीपक रूहानी)

FORM IV

Statement about ownership and other particulers about newspaper (six monthly magazine) -

1. Place of publication : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh(U.P.)PIN-230132

2. Periodicity of its publication : Six Monthly

3. Printer's Name : Deepak Tripathi
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

4. Publisher's Name : Deepak Tripathi
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

5. Editor's Name : Deepak Ruhani
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

6. Name and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital :
   Yathaasambhaw (A registered socity by U.P. Government)
   Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

I, Deepak Tripathi, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

(Deepak Tripathi)
Signature of Publisher

Date : 3 November 2013

फ़ारूक़ जायसी
फ़्लैट नं.-402, संगीता अपार्टमेण्ट्स
14/59, सिविल लाइंस, कानपुर-208001
मो.- 09839375197

फ़ारूक़ जायसी कस्टम विभाग के असिस्टेण्ट कमिश्नर पद से रिटायर्ड होने के बाद अब पूरी तरह से शेरो-शायरी के प्रति समर्पित हैं। इन्हें फ़ार्सी और ग़ज़ल के इल्मे-अरूज़ का अच्छा ज्ञान है। नयी पीढ़ी के लिए जो ज्ञान दुर्लभ होता जा रहा है, फ़ारूक़ जायसी उसके अहम अमानतदार हैं। इनकी कुछ किताबें भी प्रकाशित हो चुकी हैं तथा हिन्दी-उर्दू की पत्रिकाओं में लेख इत्यादि अक्सर प्रकाशित होते रहते हैं।

यहाँ अल्लामा कौसर जायसी पर जो लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, उससे न केवल कौसर साहब के मेआर और वक़ार का अन्दाज़ा होगा, बल्कि ग़ज़ल के अन्तर्गत कलात्मक स्तर की नवीन और विचित्र सम्भावनाओं से भी हम अवगत होंगे। उर्दू-शायरी ऐसे शायरों पर फ़ख़्र करती है, जिन्होंने ग़ज़ल की जटिलताओं को कोमलता के साथ सुरक्षित-संरक्षित रखा और उसके दामन में एक-से-एक गुलबूटे टाँक दिये। ऐसे सार्थक लेख के लिए फ़ारूक़ जायसी को साधुवाद, क्योंकि ये लेख उनके उस्ताद अल्लामा कौसर साहब के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि है साथ ही शागिर्द के कर्तव्यों का निर्वहन भी।

फ़ारूक़ जायसी

अल्लामा कौसर जायसी : आस्माने-अदब का रौशन सितारा

मैं शायरी और अदब में दो हज़रात से डरने की हद तक प्रभावित रहा हूँ। एक तो मेरे उस्तादे-मोह्तरम अल्लामा कौसर जायसी और दूसरे मोह्तरम डॉ. मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी। दोनों ही साहिबान अपने दौर के बहुत मोतबर शायर और माने हुए अरूज़दाँ (छन्दशास्त्री) थे। मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी साहब दिल्ली युनिवर्सिटी में उर्दू के उस्ताद थे और रीडर के पद से रिटायर होकर कानपुर में स्थायी निवास अख़्तियार कर लिया। मेरी अदबी हैसियत जो भी है, इन दोनों हज़रात की सोह्बतों, नवाज़िशों और तवज्जो का नतीजा है।

मेरे अहबाब अक्सर मुझसे माँग किया करते थे कि अपने उस्तादे-गिरामी पर कोई मज़्मून क्यों नहीं लिखते जबकि आपके लेख बराबर प्रकाशित होते रहते हैं और आपके लेखों पर आधारित आधारित किताब 'मत्महे-नज़र' शाए(प्रकाशित) हो चुकी है, तो मेरा जवाब होता कि जब भी मैं अल्लामा कौसर जायसी या डॉ. मुग़ीसुद्दीन साहिबान पर कुछ लिखना चाहता हूँ तो मेरे दिल से आवाज़ आती है कि 'तेरी क्या हैसियत है कि तू इन कामिलाने-फ़न पर क़लम उठाये' और ये अहम काम जो मुझ पर क़र्ज़ की हैसियत रखता था, मैं कभी शुरू ही न कर सका; मगर दीपक रूहानी ने कुछ मज्बूत तर्क रखे और कुछ ऐसे वक़्त में रखे कि शायद ऐसे वक़्त के लिए लोहा गर्म होने का मुहावरा ईजाद हुआ है। उनकी हिम्मत-अफ़्ज़ाई की वज्ह से मैंने उनसे वादा कर लिया कि 'कोशिश करूँगा'। आज 24 जनवरी 2014 ई. जुमा के शुभ दिन मैंने इस लेख की शुरूआत कर दी है। इस लेख के लिखा लेने का सेहरा मोहतरम दीपक रूहानी साहब के सर है। मैं उनसे अभी तक नहीं मिला हूँ, मगर सिर्फ़ फोन पर गुफ़्तगू से उनकी शाइस्तगी, शराफ़त, अन्दाज़े-गुफ़्तगू और उनके अदबी जुनून से मुतास्सिर हुए बग़ैर न रह सका। सबसे बड़ी बात ये कि उन्होंने मुझे आज़ादी दे दी कि लेख के विस्तृत होने की परवाह न कीजिएगा, वो जितना भी बड़ा हो, मैं 'ग़ज़लकार' में शाए करूँगा।

मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा है कि— *'जायस नगर धरम अस्थानू। तिहाँ आय कवि कीन्ह बखानू।'* धर्म-स्थान, विद्यानगरी और 'जा-ए-ऐश'(आराम की जगह) के नाम से मशहूर इसी क़स्बा जायस के मोहल्ला ख़्वाजगान में अब्दुल हमीद 'कौसर' जायसी का जन्म स्कूल सर्टिफिकेट के मुताबिक़ 1916 ई. में हुआ। ये तारीख़ी क़स्बा अँग्रेज़ों के ज़माने से मायावती के ज़माने तक ज़िला रायबरेली में शामिल था, मगर अब सियासी उठा-पटक से ज़िला अमेठी में शामिल कर लिया गया है। उनके वालिद का नाम मुहम्मद अहमद था जो पेशे के ऐतबार से ख़ैयात थे। ये वो दौर था जब यहाँ तह्ज़ीब, तमीज़, मुहब्बत, अदब, एहतेराम और मज़हबी परम्परा का बोलबाला था। जायस के

अहले-क़लम, आलिम और अदीब का लखनऊवाले ही नहीं, बल्कि ईरान और इराक़वाले भी लोहा मानते थे। यहाँ के धोबी, नाई और दीगर निचले तब्क़े में शुमार होनेवाले लोग भी ज़बान की सफ़ाई, तह्ज़ीब, तमीज़ और तलफ़्फ़ुज़ का ख़ास ख़याल रखा करते थे, क्योंकि उनका उठना-बैठना उन लोगों में था जो ज़बान की दिशा और दशा तय करते थे और उनके मुँह से निकले हुए अल्फ़ाज़ सनद का दर्जा रखते थे। कौसर साहब की परवरिश इसी माहौल में हुई। उनके वालिद साहब कोई अदीब तो न थे, हाँ शेख़ अब्दुर्रहमान 'जामी' का फ़ार्सी कलाम उन्हें ख़ूब याद था, उसे वो बहुत तरन्नुम से पढ़ते थे। यहीं से उनके दिमाग़ में सुर और लय की उत्पत्ति मानी जा सकती है, जिसने आगे चलकर शेरगोई का रुख़ अख़्तियार कर लिया। मेरा ख़याल है कि कौसर जायसी का बेह्तरीन और शरीफ़ाना तरन्नुम भी उसी ज़ेह्नी तर्बियत का समरे-ख़ुशज़ायक़ा(स्वादिष्ट फल) था।

1936 ई. में उन्होंने वर्नाक्युलर फ़ाइनल इम्तिहान फ़र्स्ट डिवीज़न में पास किया, मगर नासाज़गार हालात की वज्ह से हाईस्कूल भी न पास कर सके। इसी दरमियान उनकी शायरी का ज़ौक़ परवान चढ़ता रहा। जायस में लगातार होनेवाली मीलाद और मजालिस की मह्फ़िलों में शेरख़्वानी ने उनके ज़ौक़-ओ-शौक़ को और भी बढ़ा दिया। अब वो ख़ुद भी स्टेज पर बैठकर अश्आर पढ़ते और दूसरे शायरों के मुक़ाबले ज़ियादा तवज्जो से सुने जाते थे। उनकी शादी 1934 ई. में हो गयी। उनकी शायरी की इब्तिदा 1932 ई. में हो चुकी थी।

उन्होंने अपने इब्तिदाई कलाम पर अपने क़स्बा ही के 'मेह्र' जायसी से इस्लाह ली जो फ़ार्सी, अँग्रेज़ी और उर्दू का गहरा इल्म रखते थे। दो ग़ज़लें अल्लामा 'सीमाब' अकबराबादी के पास भी इस्लाह के लिए बज़रीअे डाक भेजी, क्योंकि उस ज़माने में 'सीमाबी' होना बहुत मेयारी समझा जाता था, मगर उनकी इस्लाह से 'कौसर' साहब मुत्मइन न हुए और अपने अध्ययन ही को अपना रहनुमा बना लिया।

रोज़गार की तलाश में पहली बार 1943 ई. में कानपुर आये और यहीं के हो रहे। 1944 ई. में उनको सेण्ट्रल आर्डिनेंस डिपार्टमेंट में बहैसियत क्लर्क मुलाज़िमत मिल गयी, मगर आज़ादी के बाद उस डिपार्टमेण्ट से हज़ारों मुलाज़िमीन नौकरी से निकाल दिये गये, उनमें 'कौसर' साहब भी शामिल थे। एक बार फिर बेरोज़गारी का दैत्य सामने आ खड़ा हुआ। ख़ुदा की मेह्रबानी और चन्द अहबाब की मदद से उनको ब्रिटिश इण्डिया कार्पोरेशन की एक कपड़ा बनानेवाली 'एल्गिन मिल न. 1' में बहैसियत कैण्टीन मैनेजर मुलाज़िमत मिल गयी और वहीं से वो 1976 ई. में रिटायर हुए।

उनके हमअस्रों(समकालीन) शायरों में क़ासिम शब्बीर नक़्वी नसीराबादी, सिद्क़ जायसी, मानी जायसी, शाह मुबारक अश्रफ़ जायसी, मज्रूह सुल्तानपुरी, कैफ़ी आज़मी, नाज़िश प्रतापगढ़ी, साक़िब कानपुरी, फ़ना निज़ामी, नुशूर वाहिदी, हक़ बनारसी, शारिक़ ऐरायानी, नुद्रत कानपुरी, गंगाधर 'फ़रहत', फ़िराक़ गोरखपुरी, शकील बदायूँनी, ख़ुमार बाराबंकवी और जिगर मुरादाबादी वग़ैरह के नाम बहुत अहम हैं। बक़ौल इश्रत ज़फ़र साहब उनके शागिर्दों में कामिल फ़तेहपुरी, नवाब लतीफ़, इश्रत जहाँगीरपुरी, डॉ. मतीन नियाज़ी, मुश्ताक़ निज़ामी, शैदा कानपुरी, होश असफ़हानी, ताहिर कानपुरी, विद्या सक्सेना, एजाज़ शम्स, फ़ारूक़ जायसी, ख़लिश नियाज़ी, ख़ालिद फ़तेहपुरी, शर्क़ी मलीहाबादी, तारिक़ ऐरायानी और कमाल जायसी अहम हैं। उनके शागिर्दों में उस्ताद शायर कय्यूम 'नाशाद' और ज़ेब ग़ौरी कानपुर ही नहीं हिन्दुस्तानगीर शोह्रत के मालिक हुए।

किसी भी बड़े मुशायरे में, ख़्वाह वो तरही हो या ग़ैर-तरही, कौसर साहब का शामिल होना बहुत अहम माना जाता था, क्योंकि उनके अश्आर मेयारी होते थे और उनका तरन्नुम भी बहुत पसन्द किया जाता था। उन्होंने हमेशा शेर के मेयार ही को अव्वलीयत दी। मुशायरे में कामयाब होने

के लिए अदबी मेयार से कभी नीचे आना पसन्द नहीं किया। यही वज्ह है कि बदलते हुए माहौल में वो धीरे-धीरे मुशायरों से आउट हो गये, जबकि मजरूह, ख़ुमार और शकील बदायूँनी जैसे सहल पसन्द शायरों ने फ़िल्मी दुनिया और मुशायरों से ख़ूब फ़ायदा उठाया। एक बार मैंने उनसे अर्ज़ किया कि आप भी मज्रूह, ख़ुमार और शकील जैसी आसान शायरी क्यों नहीं करते, फ़र्माया कि ''मेरे अश्आर से जिसे लुत्फ़ उठाना हो वो ख़ुद अपनी अदबी सत्ह बुलन्द करे, मैं क्यों अपने मेयार से नीचे आऊँ''। अगर यही अन्दाज़े-फ़िक्र सारे शायरों और अदीबों का होता तो बदलते हुए माहौल में भी अदब का वही मेयार क़ायम रह सकता था जो पहले था।

उनकी इल्मी और अदबी ख़िद्मात को लिखित रूप से ख़िराजे-अक़ीदत(श्रद्धांजलि) पेश करनेवालों में प्रो. क़मर रईस, प्रो. शारिब रुदौलवी, शाद आरिफ़ी रामपुरी, डॉ. सईद आरिफ़ी और मोह्तरम इश्रत ज़फ़र वग़ैरह के नाम बहुत अहम हैं। ये वो हज़रात हैं जिन्हें उर्दू-अदब का स्तम्भ माना जाता है। इन हज़्रात के लेखों को आलमी शोह्रतयाफ़्ता शायर और नक़्क़ाद इश्रत ज़फ़र साहब ने अपनी किताब 'निशाते-फ़िक्र' में बड़े सम्मानित और व्यवस्थित ढंग से प्रकाशित किया है, जिसमें उनका भी शानदार मज़्मून शामिल है। यही नहीं, उनकी अदबी हैसियत के ऐतराफ़(पक्ष-पोषण) के लिए 25 जनवरी 1979 ई. को मुम्बई में एक अज़ीमुश्शान 'जश्ने-कौसर जायसी' का आयोजन किया गया, जिसकी सदारत माहिरे-ग़ालिबयात अल्लामा कालीदास गुप्ता 'रज़ा' ने फ़र्मायी थी। दूसरा आयोजन अहले-शाहजहाँपुर ने 1982 ई. में 'जश्ने-कौसर' के ज़ेरे-एहतमाम किया। इसमें भी यादगार मुशायरा मुनअक़्क़िद किया गया जिसमें कमोबेश 65 मश्हूर शायरों ने अपना कलाम पेश किया, यहाँ तक कि सुब्ह हो गयी। इसी मुशायरे में 'कमींगाहे-ख़याल' का लोकार्पण उमर अंसारी लखनवी के हाथों अमल में आया। ये प्रोग्राम मुझ नाचीज़ फ़ारूक जायसी की कन्वीनरशिप में अंजाम पाया। फिर एक और यादगार 'जश्ने-कौसर जायसी' कानपुर में 2004 ई. में मनाया गया जिसके लिए कानपुर के बिजनेसमैन और शायर मोहम्मद अरशद साहब मुबारकबाद के हक़दार हैं। सन् 1979 ई. में मेरा तबादला कस्टम आफ़िसर के बतौर शाहजहाँपुर हो गया था। जहाँ के शायरों और अदीबों ने ख़्वाहिश की कि एक बार शाहजहाँपुर में कौसर साहब को बुलवा दीजिए ताकि हम लोग भी उन्हें सुनने का शरफ़ हासिल कर सकें। मेरी दरख़्वास्त पर गुरुदेव कौसर जायसी साहब शाहजहाँपुर तश्रीफ़ लाये और अहले-शाहजहाँपुर ने उनके लिए अपनी पलकें बिछा दीं। किसी शायर को सुनने के लिए ख़ुद शायरों और अदीबों में इतनी शदीद ख़्वाहिश बहुत कम देखने में आती है। यही नहीं शाहजहाँपुर के दो अहम ग्रुप (नसीम शाहजहाँपुरी ग्रुप और अस्रार हसन ख़ाँ 'असीर' ग्रुप) जो शायद दसियों साल से किसी अदबी प्रोग्राम में इकट्ठा नहीं हुए थे, इस नशिस्त में एक साथ शामिल हुए। अब मुझसे ये भी माँग शुरू हुई कि उनका काव्य-संग्रह प्रकाशित किया जाय। चुनांचे मैंने उनका शेरी मज्मूआ 'कमींगाहे-ख़याल' 1981 में शाए किया। इस किताब को क्रमबद्ध करने का शरफ़ भी मुझे हासिल हुआ। इसमें जो फोटो कौसर साहब की शामिल है, वो शाहजहाँपुर की उसी यादगार नशिस्त की यादगार है जो यूसुफ़ ख़ान साहब के घर के वसीअ दालान में मुन्अक़्क़िद की गयी थी। किताब के सरे-वरक़ उनकी फ़ार्सी ग़ज़ल का ये शेर लिखा है—

कारफ़र्मास्त दिले-मा ब 'कमींगाहे-ख़याल'
शेर तीरेस्त कि जस्ता ज़े कमाने-फ़ने-मा

(ख़याल की शिकारगाह में मेरा दिल अपने काम में मस्रूफ़ है। शेर तीर है जो मेरे फ़न की कमान से निकला है।)

ग़ज़लिया मज्मूआ 'कमींगाहे-ख़याल' के बाद उनकी नातों का मज्मूआ 'मश्रिक़े-ईमाँ' शाए हुआ। इस तरह कौसर साहब की दूसरी किताब सामने आयी और हाथो-हाथ लपक ली गयी।

'कमींगाहे-ख़याल' के बाद जो भी अदबी सरमाया था, वो रिसर्च स्कॉलर मीना गिल साहिबा ने प्रो. साहब अली, सद्र शोबए-उर्दू, मुम्बई युनिवर्सिटी की निगरानी में 'बाक़ियाते कौसर जायसी : तहक़ीक़-ओ-तद्वीन' के उन्वान से 2013 ई. में शाए कर दिया। क़ाजी मीना गिल साहिबा, अल्लामा कौसर जायसी पर मुम्बई युनिवर्सिटी से पीएच. डी. कर रही हैं। इस किताब में कौसर साहब के कलाम के साथ-साथ उनके बहुत अहम पत्र भी प्रकाशित हुए हैं, जो उनकी शायराना, ख़ास तौर से उनकी अरूज़ी अहमियत को ज़ाहिर करते हैं। मुझे ये कहने में कोई हिचक नहीं है कि इस किताब के प्रकाशन में लेख इत्यादि की उपलब्धता के लिए अहरार आज़मी साहब ने दिन-रात एक कर दिए। वो ख़ुद भी मुम्बई युनिवर्सिटी में पीएच. डी. के स्कॉलर हैं। अगर वो इतनी दिलचस्पी न लेते तो शायद कौसर साहब का बाक़ी काम इतनी आसानी से और इस क़दर जल्द मंज़रे-आम पर न आ पाता।

अल्लामा कौसर जायसी अपने दौर के अहम और क़ाबिले-कद्र शायर तो थे ही, वो हिन्दुस्तानगीर शोह्रत के अरूज़दानों (छन्दशास्त्रियों) में शुमार किये जाते थे। उनके दौर का शायद ही कोई अरूज़दाँ रहा हो जो उनके फ़न का प्रशंसक न हो। अरूज़ी मुआम्लात में तबादलए-ख़याल और उनका नज़रिया जानने के लिए उनके पास अहमतरीन अदबी शख़्सियात और अरूज़दानों के ख़त आते रहते थे, जिनके वो बहुत दलील सहित जवाब लिखते रहते थे। अफ़्सोस ये है कि उनके बेशतर ख़त दस्तयाब न हो सके, ख़ासकर वो ख़त जो उन्होंने जवाब के तौर पर सवाल करनेवालों को लिखे थे। फिर भी जो कुछ हासिल हो सका उसे 'बाक़ियाते कौसर जायसी : तहक़ीक़-ओ-तद्वीन' में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार के पत्राचार में वैसे तो बहुत-से नाम गिनाये जा सकते हैं, मगर उनमें जाफ़र अली ख़ाँ असर लखनवी, सिद्क़ जायसी, उमर अंसारी लखनवी, शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, प्रो. उन्वान चिश्ती, तनवीर चिश्ती, होश असफ़हानी, ताबिश हलीमी और असीफ़ जायसी वग़ैरह जैसे प्रतिष्ठित लोग बहुत अहमियत रखते हैं।

अल्लामा कौसर जायसी सिर्फ़ अरूज़दाँ ही नहीं थे, बल्कि इस फ़न को अपने अश्आर में भी बरतने में उन्हें महारत हासिल थी। अरूज़ की अहमियत से नावाक़िफ़ लोगों का ख़याल है कि अरूज़दाँ अच्छा शायर नहीं हो सकता, ये बात अल्लामा कौसर जायसी ने बिल्कुल झूठ साबित कर दी और अपनी ज़ू वज़्नैन और चहार वज़्नैन ग़ज़लों (जो ग़ज़ल दो बह्र में हो उसे ज़ू वज़्नैन तथा जो ग़ज़ल चार बह्र में हो उसे चहार वज़्नैन कहते हैं) से इस ख़याल की धज्जियाँ उड़ा दी। उनकी ये ग़ज़लें दो औज़ान और चार औज़ान ('वज़्न' का बहुवचन) में तक़्तीअ(मात्रा या वर्ण-गणना) की जा सकती है। ये ग़ज़लें उनकी क़ादिरुल-कलामी(काव्य-सामर्थ्य) और फ़ने-शायरी पर पूर्ण अधिकार का खुला और ज़िन्दा सबूत हैं। मिसाल के तौर पर एक ग़ज़ल का ये शेर देखें—

ग़म की है मौजें लिये जामे-ग़ज़ल
नूर से पुर है मेरी शामे-ग़ज़ल
हुस्न से रिश्ते ये है बाँधे हुए
मिट नहीं सकता कभी नामे-ग़ज़ल

चार वज़्न में—

मिट नहीं सक/ ता कभी ना/ मे-ग़ज़ल
फ़ाइलातुन/ फ़ाइलातुन / फ़ाइलुन (बह्रे-रमल मुसद्दस की एक शाख़)

मिट नहीं सक/ त कभी ना/ मेग़ज़ल
फ़ाइलातुन / फ़इलातुन / फ़इलुन (बह्रे-रमल मुसद्दस की एक शाख़)

मिट नहिं सक/ ता कभि ना/ मे-ग़ज़ल
मुफ़तइलुन/ मुफ़तइलुन / फ़ाइलुन (बह्‌रे-सरीअ मुसद्दस की एक शाख़)

मिट नहिं सक/ ता कभी/ नामे-ग़ज़ल
मुफ़तइलुन/ फ़ाइलुन / मुफ़तइलुन (बह्‌रे-बसीत मुसद्दस की एक शाख़)

उनके मज्मूअए-कलाम 'कमींगाहे-ख़याल' में तीन और ऐसी ग़ज़लें हैं जो ज़ू-वज़्नैन हैं, उनकी तक़्तीअ दो औज़ान में हो सकती है। इन ग़ज़लों की ख़ास बात ये है कि रवानी में कहीं भी कमी नहीं है। एक ग़ज़ल में 5 अश्आर, दूसरी में 9 अश्आर और तीसरी ग़ज़ल में 20 अश्आर हैं। आम शायरों के लिए ऐसे चन्द अश्आर कह लेना बहुत मुश्किल काम है, मगर कौसर साहब के लिए ये मामूली बात थी। लगता है कि एक नदी है जो बहुत शान से रवाँ है। एक और ज़ू वज़्नैन ग़ज़ल के चन्द अश्आर हाज़िर हैं—

बाहमी रब्तो-मुहब्बत का यहाँ जल्वा है आम
नक़्शे-हिन्दी को भी चमकाये है उर्दू का निज़ाम

क़स्त्र लम्हों का है वीराँ-सा, वो आयें तो सजे
ख़त लिखें आओ फिर इक रूठी तमन्नाओं के नाम

उनको मिलता ही नहीं है कोई उन्वाने-जदीद
पैकरे-कुहना से लिपटे हैं अदीबाने-किराम

सुब्हे-ईजादे-सुख़न का वो उजाला था लिये
पाते तुम नुक़्ते नये सुनते जो 'कौसर' का कलाम

उपर्युक्त अंकित अश्आर के एक मिस्रा की तक़्तीअ नमूने के तौर पर नीचे दी रही है—
नक़्शे-हिन्दी/ को भी चमका/ ये है उर्दू / का निज़ाम
फ़ाइलातुन/ फ़ाइलातुन/ फ़ाइलातुन/ फ़ाइलान (बह्‌रे-रमल मुसम्मन मक़्सूर)

नक़्शे-हिन्दी/ कुभि चमका/ य ह उर्दू / क निज़ाम
फ़ाइलातुन/ फ़इलातुन/ फ़इलातुन/ फ़इलान (बह्‌रे-रमल मुसम्मन मख़्बून मह्‌ज़ूफ़)

इसी तरह दूसरी ज़ू-वज़्नैन ग़ज़लों में भी सलासत और रवानी की कमी नहीं मह्‌सूस की जा सकती और ये कहना मुश्किल नज़र आता है कि ये अश्आर किसी ख़ास मक़्सद को नज़र में रखकर कहे गये हैं। कुछ और अश्आर हाज़िर हैं जो ज़ू-वज़्नैन हैं—

साज़े-दिल छेड़ो मुहब्बत के तराने के लिए
फिर बहार आयी ग़ज़ल ताज़ा सुनाने के लिए

आँसुओ! आओ बिखर जाओ सितारों की तरह
रात आयी है हँसी मेरी उड़ाने के लिए

फ़ित्रत इंसाँ की, सँवरने ही प आमादा नहीं
वर्ना ग़म आते हैं आईना दिखाने के लिए

×× ×× ××

इश्क़ ने मेरे दिया ऐसा ज़माने को पयाम
मिट गयी आहो-फ़ुग़ाँ की वो जो थी रस्मे-क़दीम
शीशए-दिल से मुख़ातिब है वो नौइश्क़े-निगाह
लौहे-ख़ारा भी हुई जिसके इशारे पे दुनीम

अच्छा छन्दशास्त्री अपनी छन्दशास्त्रीय योग्यताओं को प्रत्यक्ष करने के लिए उन शायराना मैदानों में आज़ादाना सफ़र करता है जिनमें आम शायरों का गुज़र मुश्किल है। फ़िराक़, यास यगाना चंगेज़ी, अज़ीज़ लखनवी और अल्लामा कौसर जायसी ऐसे ही फ़नकारों में थे जिन्होंने अपनी छन्दशास्त्रीय योग्यताओं से फ़ायदा उठाते हुए फ़ने-रुबाई में भी अपने कमालात का प्रदर्शन किया है। कौसर साहब की रुबाइयात भी बहुत मेयारी हैं। उन्होंने ग़ज़ल के मौज़ूअ पर भी बहुत ख़ूबसूरत रुबाइयत कही हैं। चन्द रुबाइयात हाज़िर हैं—

ये ज़ीनए-वक़्त से फिसलती हुई रात शानों पे ख़याल के मचलती हुई रात
टकरा के मेरी धुआँ-धुआँ साँसों से तपती हुई जा रही है ढलती हुई रात

×× ×× ××

शम्अए-उम्मीद बन के जल जाय ग़ज़ल निक्हत की तरह मचल-मचल जाय ग़ज़ल
तक़्दीरे-जमाले-ज़िन्दगी जाग उट्ठे एहसास के साँचे में जो ढल जाय ग़ज़ल

रुबाइयात के मुआम्ले में मौजूदा दौर के शायर बहुत ग़लतफ़ह्मी में मुब्तिला हैं। वो हर चार मिस्र्रे की नज़्म या क़त्अ को रुबाई समझ लेते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। दो साल पहले भाई जितेन्द्र 'जौहर' ने 'सरस्वती सुमन' में हिन्दी रुबाइयात पर एक ख़ुसूसी नम्बर(विशेषांक) 'मुरुक़' शाए किया था। 'मुरुक़' से उनकी मुराद थी मु=मुक्तक, रु=रुबाई और क़=क़त्अ। उनके इस रिसाले से किसी हद तक ये भरम दूर करने की कोशिश की गयी थी, जो क़ाबिले-तारीफ़ है।

रुबाई दरअस्ल चार मिस्र्रों की नज़्म होती है, जिसमें चार अर्कान (लय-खण्ड, रुक्न का बहुवचन) इस तरह इस्तेमाल किये जाते हैं कि सबब(दीर्घ या गुरु) के बाद सबब और वतद(लघु) के बाद वतद रखा जाय; यानी अगर रुक्न लघु पर ख़त्म हो तो अगला रुक्न लघु से शुरु होनेवाला होना चाहिए। रुबाई में सिर्फ़ दस रुक्न ही इस्तेमाल होते हैं और उनके इस्तेमाल की जगहें भी मुक़र्रर हैं। रुबाई के अर्कान और उनके इस्तेमाल होने की जगहें निम्नांकित हैं। ये ख़ाका मेरी अपनी ईजाद है, इसे अल्लामा 'नावक' हम्ज़ापुरी जैसे अरूज़दानों ने बहुत पसन्द किया है—

पहला रुक्न	**दूसरा रुक्न**	**तीसरा रुक्न**	**चौथा रुक्न**
मफ़ऊल ऽऽ।	मफ़ऊल ऽऽ।	मफ़ऊल ऽऽ।	फ़अल ।ऽ
मफ़ऊलुन ऽऽऽ	मफ़ऊलुन ऽऽऽ	मफ़ऊलुन ऽऽऽ	फ़अ ऽ
	मफ़ाईल ।ऽऽ।	मफ़ाईल ।ऽऽ।	फ़ऊल ।ऽ।
	मफ़ाईलुन ।ऽऽऽ	मफ़ाईलुन ।ऽऽऽ	फ़ाअ ऽ।
	फ़ाइलुन ऽ।ऽ		
	मफ़ाइलुन ।ऽ।ऽ		

ऊपर लिखे गये अर्कान की सबब और वतद(दीर्घ और लघु) मात्राओं की गणना 'ऽ'(दीर्घ) और '।'(लघु) से ज़ाहिर की गयी है। इसमें लघु को लघु के साथ तथा दीर्घ को दीर्घ के साथ जोड़ते रहने से चौबीस औज़ान बरआमद होते हैं। अर्कान के मुक़ामात पर ग़ौर करने से मालूम हो जाता है कि जो दस अर्कान रुबाई में इस्तेमाल होते हैं, उनमें से सिर्फ़ दो अर्कान(मफ़ऊल और मफ़ऊलुन) ही से रुबाई का मिस्रा शुरू किया जा सकता है। रुबाई के आख़िर में इस्तेमाल होने वाले सिर्फ चार अर्कान (फ़अल, फ़अ, फ़ऊल और फ़ाअ) हैं। दूसरे रुक्न की जगह पर छः अर्कान (मफ़ऊल, मफ़ऊलुन, मफ़ाईल, मफ़ाईलुन, फ़ाइलुन और मफ़ाइलुन) इस्तेमाल हो सकते हैं। तीसरे रुक्न के लिए चार अर्कान(मफ़ऊल, मफ़ऊलुन, मफ़ाईल, मफ़ाईलुन) होते हैं। इस तीसरे रुक्न की जगह फ़ाइलुन और मफ़ाइलुन नहीं इस्तेमाल किये जा सकते।

कौसर साहब ने बहुत-सी ऐसी बह्रों में अश्आर कहे हैं जो अरूज़ जाने बग़ैर सिर्फ़ ज़ेह्नी मौज़ूनियत के भरोसे पर नहीं कहे जा सकते, मगर उनमें रवानी की कमी कहीं भी नहीं मह्सूस की जा सकती। आजकल देखने में ये आता है कि पूरा-का-पूरा मज्मूआ(काव्य-संग्रह) चन्द प्रचलित और आसान बह्रों में सिमट जाता है। ज़ियादातर शोअरा('शायर' का बहुवचन) जो शायर होने का दावा करते हैं वो फ़ने-शायरी की इब्तिदा से भी वाक़िफ़ नहीं हैं, कामिल होना तो बहुत दूर की बात है। कौसर साहब के ये अश्आर देखें जिसे लोग सिर्फ़ अरूज़दानों का हिस्सा समझते हैं। अगर शायर, शायरी की बुनियादी मालूमात रखता है तो इन बह्रों में शेर कहना मुश्किल नहीं है। मिसाल के तौर पर ये अशआर देखें जिनमें लम्बी-लम्बी मस्नवियाँ लिखी गयी हैं, मगर आजकल शायर इस बह्र को भी नहीं छूते। वज्ह साफ़ है कि उनको फ़न की इब्तिाई जानकारी भी नहीं है, मगर अपने को शायर कहलाने पर बज़िद हैं—

ऐ दर्द इसे गले लगा ले
मुद्दत से उमीद बेवतन है
मह्बूब है इसलिए हमें ग़म
हर ग़म किसी माथे की शिकन है

(बह्रे-हज़ज मुसद्दस, अख़रब मक़्बूज़ मह्ज़ूफ़ **वज़्न** : मफ़ऊल मफ़ाइलुन फ़ऊलुन)
ऽऽ। ।ऽ।ऽ ।ऽऽ

×× ×× ××

मुझे फूँक रहें है ख़ुनक ऐश के लम्हात
किसे जाके सुनाऊँ नया ग़म है, नयी बात
न अश्कों की महक थी न ख़्वाबों की धनक थी
ख़बर क्या थी कि यूँ ही गुज़र जायेगी बरसात

(बह्रे-हज़ज मुसम्मन मक्फ़ूफ़ मह्ज़ूफ़/ मुसब्बअ— एक हर्फ़ आख़िर में बढ़ा हुआ)
वज़्न : मफ़ाईल फ़ऊलुन मफ़ाईल फ़ऊलुन/ फ़ऊलान
।ऽऽ। ।ऽऽ ।ऽऽ। ।ऽऽ ।ऽऽ।

×× ×× ××

तेरे तसव्वुर का बदला नहीं समाँ अब तक
उलझे हैं मेरे अश्कों से महताबो-कहकशाँ अब तक
मैं ख़ुद जहाँ हुआ था गुम गर्दे-ख़याले-मंज़िल में
उस वादिए-तमन्ना में ठहरे हैं कारवाँ अब तक

(बह्रे-हमीम अज़्मार मअसूब **वज़्न :** मुस्तफ़इलुन मफ़ाईलुन मुस्तफ़इलुन मफ़ाईलुन)
ऽऽ।ऽ ।ऽऽऽ ऽऽ।ऽ ।ऽऽऽ

नाज़ उठाना पड़ा है दर्द का वर्ना
फ़िक्रे-सुख़न का मुझे दिमाग़ कहाँ था
कोई न 'कौसर' हमारे दर्द को समझा
होने को कितना हुजूमे-दीदावराँ था

(बहरे-मुंसरह मुसम्मन मुतव्वी, अरूज़-ओ-ज़र्ब अस्लम मह्ज़ूफ़)

वज़्न : मुफ़तइलुन फ़ाइलात मुफ़तइलुन फ़अ
SIIS SISI SIIS S

अल्लामा कौसर जायसी की ये ग़ज़ल भी पढ़े-लिखे तब्क़े में बहुत मश्हूर है, इस ज़मीन में भी बहुत अच्छे अशआर हैं, जिससे ये साफ़ ज़ाहिर होता है कि अगर शायर में क्षमता एवं काव्यात्मक जानकारी है तो इन ज़मीनों में भी, जिसे लोग आमतौर पर मुश्किल ज़मीनें कहते हैं, ख़ूबसूरत अश्आर निकाले जा सकते हैं। ये अश्आर भी मुलाहिज़ा हों—

फ़स्ले-जुनूँ कब शिगूफ़ाकार नहीं है ख़ुश्क अभी शाख़े-इन्तिज़ार नहीं है
उनकी इनायात का शुमार नहीं है कौन-सा नावक जिगर के पार नहीं है
तंज़ मेरे शेर में हुनर है अदब का नस्र में गाली मेरा शिआर नहीं है
फ़िक्र ने मेरी जो गुल खिलाये हैं कौसर अब ये ज़मीं सख़्तो-नागवार नहीं है

इसी सिल्सिले की एक और ग़ज़ल देखें जहाँ शायर की फ़िक्र अपने उरूज पर है। कम बरती जानेवाली ज़मीनों में कैसे-कैसे शिगुफ़्ता अश्आर निकाले हैं कि मुँह से वाह-वाह कहते ही बनती है। इन अश्आर में फ़नकारी और ख़यालआफ़रीनी के साथ-साथ तग़ज़्ज़ुल की भरपूर चाश्नी भी मौजूद है। कौसर जायसी की यही ख़ासियत है जो उनके समकालीनों में कम पायी जाती है—

ज़ेह्न चमन था तेरे रुख़्सारों से फूल उभरते रहे अंगारों से
बात न जब कोई बनी यारों से काम लिया झूठ की तलवारों से
वादिए-एहसास में सोना बरसा अब्र उठा याद के कुहसारों से
मेरी नवाओं का सहारा लेकर रूहे-ज़मीं मिलती है सैयारों से

उर्दू ज़बान में शायरी के साथ-साथ सुबुक-फ़ार्सी(आसान फ़ार्सी) में ग़ज़ल कहनी हो, मशहूर शायरों के मशहूर कलाम पर तज़्मीन कहनी हों, नज़्मों में नये-नये ख़यालात का इज़्हार करना हो, अपने हमअस्रों(समकालीनों) के इन्तिक़ाल पर ताज़ियती(शोकपूर्ण) नज़्में कहनी हो या अरूज़ी मालूमात में उस्ताद शायरों की रहनुमाई करनी हो, इन सब मुआम्लात में अल्लामा कौसर जायसी अपने पुरवक़ार क़लम और फ़न का लोहा मनवा लेते थे।

मौजूदा दौर में ख़ुदसाख़्ता क़लमकार दूसरे की जायज़ तारीफ़ करने में भी कंजूसी से काम लेते हैं। आइये मैं आपको कौसर साहब के उस दौर में ले चलूँ जहाँ एक सच्चा फ़नकार दूसरे सच्चे फ़नकार की तारीफ़ करने में फ़ख़्र मह्सूस करता था। निम्नांकित वाक्यांश उन शायरों और नक़्क़ादों के हैं जो अदब की दुनिया में अपनी मिसाल आप हैं। इश्रत ज़फ़र साहब अपनी शायरी, आलोचनात्मक लेखों और सम्पादन दृष्टि के लिए हिन्दुस्तान ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में अपना अहम मक़ाम रखते हैं, वो 'निशाते-फ़िक्र' में कौसर साहब के बारे में लिखते हैं— ''कौसर साहब एक साहिबे-तर्ज़ तो थे ही, उर्दू, फ़ार्सी, इल्मे-अरूज़ो-मानी के ज्ञानसिन्धु थे ....उन्होंने जिस तर्ज़े-सुख़न की बुनियाद डाली थी वो अपने अहद में जदीद थी और ये कि मक़ामी-ओ-ग़ैरमक़ामी समकालीन शायरों से उनका रंगे-सुख़न मेल नहीं खाता था ......रंगे-सुख़न की विशिष्टता उनके

फ़ार्सी–अदब के गहन अध्ययन से पैदा हुई थी। उस ज़माने में कौसर जायसी की ग़ज़ल ऐसे मौसम की तरह थी जिसका ज़ायक़ा किसी ने चखा नहीं था, मगर वो बेहद एतमाद और सलाहियत के साथ इस शाहराह पर मह्वे–सफ़र रहे, आख़िरकार उनकी अज़्मत और उनके विस्तृत ज्ञान को सबने स्वीकार किया और फ़ैज़याब हुए। मेरे ख़याल में फ़नकार का मुमताज़ होना या उसके मंसब का यक़ीन, आइन्दा नस्लों के हाथों में मह्फ़ूज़ होता है। कौसर जायसी की शायरी में वो सब कुछ है जिसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। माज़ी की पासदारी करनेवाला ये मुन्फ़रिद तर्ज़े–फ़िक्र का शायर सिर्फ़ अपने अहद में ही नहीं, बल्कि हर अहद में एक इम्तियाज़ी वस्फ़ का हामिल रहेगा और उसके कलाम के आईनों में आफ़रीदा–ओ–नाआफ़रीदा ज़बानों की नमूद होती रहेगी।''

उनकी ग़ज़लों के चन्द अश्आर जो अपने दौर में जदीदियत, इन्फ़िरादियत, सादगी और पुरकारी लिये हुए थे, हाज़िर हैं। ये अश्आर पढ़ते वक़्त पाठक को ये बात नज़र में रखनी चाहिए कि ये वो दौर था जब उर्दू–ग़ज़ल अब भी लखनवीयत के असर में थी—

नुक़ूशे–अहदे–गुज़िश्ता समेट लाते हैं   ये रंग–रंग के बादल कहाँ से आते हैं
कभी–कभी सफ़रे–ज़िन्दगी से रूठ के हम   तेरे ख़याल के साये में बैठ जाते हैं
हमें है डर कहीं तारे–उमीद टूट न जाय   सँभल–सँभल के उन्हें हाले–दिल सुनाते हैं

×× ×× ××

तामीर के पर्दे में सितम टूट रहे हैं   आज़र ही के हाथों से सनम टूट रहे हैं
ढायी कहीं जाती है जो तामीरे–मुहब्बत   मह्सूस ये होता है कि हम टूट रहे हैं
रात और जवाँ हो तो फ़ज़ा में हो उजाला   पलकों से सितारे अभी कम टूट रहे हैं
अल्लाह के होते मुझे क्यों फ़िक्र हो 'कौसर'   बन्दों के जो आईने–करम टूट रहे हैं

प्रो.शारिब रुदौलवी ने फ़र्माया—''जनाब कौसर जायसी उर्दू के ऐसे मुमताज़ शायरों में हैं जिन्हें ज़बान पर दस्तरस, इज़्हार पर क़ुदरत और फ़न पर उबूर हासिल था। कौसर जायसी क्लासिकी अदब पर गहरी निगाह रखते थे, इल्मे–अरूज़ पर उन्हें इतनी क़ुदरत थी कि अहले–इल्म हज़रात भी ज़रूरत पड़ने पर उनसे रुजूअ करते थे और इस सिल्सिले में उनकी राय मोतबर समझी जाती थी। नवाब जाफ़र अली ख़ाँ 'असर' की फ़िराक़ गोरखपुरी से बहस इस सिल्सिले में बहुत मश्हूर हुई जिसने अदबी मारका की शक्ल अख़्तियार कर ली। ये बहसें रोज़नामा 'क़ौमी आवाज़' में तसल्सुल से शाए होती रहीं। मुझे याद है कि कौसर जायसी साहब ने इस बहस में 'असर' लखनवी के नज़रिये का साथ दिया था।''

प्रो.शारिब रुदौलवी ने कौसर जायसी के ज़बानो–बयान के अधिकारी विद्वान होने का पक्ष लिया है। इस सिल्सिले में उनके चन्द अश्आर भी मैं हाज़िर करना चाहता हूँ जो सह्ले–मुम्तना (ऐसा शेर जो बहुत सरल जान पड़े, लेकिन वैसा शेर कहना असम्भव नहीं तो अत्यन्त मुश्किल अवश्य हो) की उम्दा मिसालें हैं। ज़बानो–बयान पर ये अख़्तियार, अर्थ में ये गहराई और गीराई कौसर साहब के शायराना अज़्मतों की गवाही देते हैं। जो ज़र्रों की ज़बान समझता हो, कली के चटकने की आवाज़ सुनता हो और मरने के बाद उसके बारे में लोग क्या कहेंगे, इस पर भी नज़र रखता हो, उसके ख़यालों की परवाज़ का क्या कहना—

उड़ते हुए ज़र्रों की ज़बाँ मैंने समझ ली   ख़त उनका बहार अब कोई लाये कि न लाये

×× ×× ××

मिलेगी तुमको नये साज़े–शेर की झन्कार   कभी सुनो तो चटकती कली की आवाज़ें

×× ×× ××

ख़ाक उड़ती है सनमख़ानए-दिल की हर सम्त   आइना-आइना फिरती है अदा मेरे बाद
बाख़बर कौन है इससे कि सितमगारों ने   किस मुहब्बत से मेरा नाम लिया मेरे बाद

×× ×× ××

क़ौसे-क़ज़ह रफ़्तार है उनकी   पानी-पानी सर्वे-चमन है
गुचो! हँसो, तुम मुझको न देखो   मेरी हँसी जीने की थकन है

×× ×× ××

निशाँ क़दम के मिटे सायए-शजर न बचा   हवा थी वो कि कोई नक़्शे-रहगुज़र न बचा
जुनूँ की राह में नुक़्सान आबरू का नहीं   जो पत्थरों की हो बारिश तो अपना सर न बचा
ज़मीन पी गयी दरिया को इतनी प्यासी थी   पहुँचने तक मेरे पानी पियाला भर न बचा

अल्लामा कौसर जायसी के बारे में कानपुर के दो अहम कामिलाने-फ़न अल्लामा शारिक़ ऐरायानी और अल्लामा हक़ बनारसी की आरा('राय' का बहुवचन) भी बहुत अहम हैं। इन दोनों हज़रात को ख़ुद भी इल्मो-फ़न में महारत हासिल थी। उनके शागिर्दों की कसीर तादाद हिन्द-ओ-पाक में मौजूद है। यही नहीं उनके शागिर्दों में भी 'जो है जहाँ-जहाँ पे वहीं ख़त-कशीदा है'। शारिक़ ऐरायानी साहब के शिष्यों में नाज़िर सिद्दीक़ी, जलील फ़तेहपुरी, जयसिंह 'फ़ित्रत बहराइची', अनवर पटकापुरी और शायर फ़तेहपुरी वग़ैरह और हक़ बनारसी साहब के शागिर्दों में जनाब यावर वारिसी, मौलाना क़ासिम हबीबी, जनाब नसीर नादान और नाज़ प्रतापगढ़ी शामिल हैं। इन हज़रात के भी शागिर्दों की अच्छी-ख़ासी तादाद है। नाज़ साहब से तो उर्दूदाँ ही नहीं, हिन्दीदाँ तब्क़ा भी फ़ैज़याब हो रहा है।

कौसर साहब के बारे में शारिक़ ऐरायानी साहब फ़र्माते हैं— ''उन्होंने कभी शोह्रत की तमन्ना नहीं की। मुशायरों में बहुत कम शिरकत की। उनकी शायरी में संजीदगी है, गम्भीरता है, बुलन्द परवाज़ी है। उनके अश्आर में लिट्रेरी वक़ार मिलता है जो हर शायर को नसीब नहीं। (इनके कुछ) ऐसे शागिर्द भी हैं जो इस्लाह तो हज़रते कौसर से लेते हैं, लेकिन अपनी उस्तादी का झण्डा बुलन्द किये हुए हैं। लुत्फ़ ये है कि ये ख़ुदसाख़्ता असातिज़ा(स्वयंभू गुरु) हज़रते कौसर की शागिर्दी के पक्षधर भी नहीं।

कौसर साहब तो ग़मो-मसाइब दुख एवं मुसीबत में भी हँसते रहने की शिक्षा देते हैं—

हँसो तो यूँ कि मुक़द्दर के दिल पे तीर लगे
मुझे पसन्द नहीं बेदिली की आवाज़ें

×× ×× ××

ऐ दिल न पनपने दे कमज़ोर इरादों को
हम जमुअ करें कब तक टूटी हुई तलवारें

×× ×× ××

दिया है ग़म ने उसी के जुनूँ को आबे-हयात
जो पी गया है ज़माने का ज़ह्रे-ख़न्दाज़नी

×× ×× ××

उभरा हूँ अँधेरे में डूबा हूँ उजाले में
एहसास बनाया है एहसास को मुश्किल से''

(शारिक़ ऐरायानी, मत्बूआ-ए-सोवेनियर जश्ने-कौसर जायसी, 1979, बहवाला 'निशाते-फ़िक्र' अज़ इश्रत ज़फ़र)

डॉ.क़मर रईस अन्तरराष्ट्रीय शोह्‌रत के मालिक नक़्क़ाद और शायर थे, उन्होंने लिखा है—''इनके तग़ज़्ज़ुल में अजीबो-ग़रीब तनव्वो(रंगारंगी) और तहदारी है। वो फ़िक्रो-ख़याल के ऐसे पैकर तराशते हैं जिनमें उनकी अपनी रूहानी और अख़्लाक़ी ज़िन्दगी के तल्ख़ो-शीरीं, लेकिन फ़ित्री और ताज़ा बर्गो-बार नज़र आते हैं। बहुत-से अश्आर कौसर जायसी की ग़ज़लों में क़ीमती नगीनों की तरह बिखरे हुए हैं। सिर्फ़ क़ुदरते-कलाम ही नहीं, जिन्दगी के नौ-ब-नौ-मुज़ाहिरे उनकी गहरी और मानीख़ेज़ वाबस्तगी का सुबूत हैं।''

उनकी शायरी उनके अपने दिल की आवाज़ है। उन्होंने बाहर की दुनिया से ज़ियादा ख़ुद अपने दिल में झाँकने की कोशिश की है और अपने दिली जज़्बातो-एहसासात सच्चाई के साथ दुनिया के सामने रखने की कामयाब कोशिश की है। उनका दिल ही इस सफ़र में उनका रफ़ीक़, रहनुमा और हमसफ़र है। ये अलग बात है कि उनके दिल की आवाज़ अक्सर दुनिया की आम आवाज़ से हमआहंग हो गयी है—

लुटते हैं फ़न की राह में फ़िक्रो-नज़र के क़ाफ़िले
दिल न अगर हो रहनुमा सह्‌ल नहीं है शायरी

×× ×× ××

बहुत तपा है मुक़द्दर की आग में इंसाँ
अब उसके वास्ते दोज़ख़ की आग पानी है

×× ×× ××

बदल सका न ज़माना मेरा मिज़ाज कभी
शिकस्तगी में अजब बाँकपन का आलम है

आख़िर में डॉ .सईद आरिफ़ी के ख़यालात भी पाठकों के सामने रखना चाहूँगा। मेरा भी यही नज़रिया और ख़याल गुरुदेव के बारे में है जो डॉ.सईद आरिफ़ी साहब का है—''कौसर जायसी की ग़ज़लें लहजे के रिवायतीपन और डिक्शन की क़दामत के बावजूद अस्री ज़िन्दगी के तक़ाज़ों से बड़ी हद तक हमआहंग हैं। वे अपनी फ़नकारी और हुनरमन्दी के रिश्ते आम लोगों की ज़िन्दगी और इस कायनात से मज़्बूत रखते हैं। कौसर जायसी ने अपनी ग़ज़लों में अपनी ज़ात का इज़्हार और फ़नकारी के दरमियान एक ख़ास क़िस्म का सन्तुलन पैदा कर दिया है। इस अमल ने उनकी ग़ज़लों में पाये जानेवाले जज़्बों में सदाक़त, नर्मी और लुत्फ़ पैदा कर दिया है। कौसर जायसी की ग़ज़लें हमें सिर्फ़ उनके उस्तादाना और फ़नकाराना उस्लूब से ही आश्ना नहीं करतीं, बल्कि उनमें सच्ची और हक़ीक़ी शायरी की सदाएँ भी हैं और हमारी रगों में दौड़नेवाले लहू में तहज़ीबी और सक़ाफ़ती क़द्रों, अलामतों के नग़्मे भी हैं। उनके यहाँ मतानत, संजीदगी, यक़ीन और एतमाद की कैफ़ियत पायी जाती है, न कि टूटने और बिखरने की। ज़िन्दगी पर उनका गहरा एतमाद ही उनकी ग़ज़लों की बुनियादी विशेषता है। यही वो ख़ूबियाँ हैं जो उनकी शायरी को उनके समकालीनों से मुमताज़ और अलग करती हैं और उनके लबो-लहजे को इन्फ़िरादियत बख़्शती हैं।''

कौसर साहब के वो अश्आर जो ज़ेह्‌नो-दिल को मसर्रत, शादमानी, हिम्मत, हौसला, तवानाई और ग़िनाइयत का एहसास दिलाते हैं और तहज़ीबी क़द्रों को क़ायम रखने में मददगार साबित होते हैं, उनकी तादाद बहुत है, उनमें से चन्द अश्आर पाठकों के सुपुर्द करते हुए मुझे बेहद ख़ुशी महसूस हो रही है। इन अश्आर से उनके फ़िक्र का अन्दाज़ा बख़ूबी लगाया जा सकता है। इन शेरों से ये भी साबित होता है कि उनके युग में ये अन्दाज़े-फ़िक्र बिल्कुल अछूता था—

मैं चुप हूँ मगर हुस्न से नफ़रत तो नहीं है
इज़्हारे-मुहब्बत ही मुहब्बत तो नहीं है

ख़ामोश भी कर देती है तासीर सुख़न की
कुछ दाद ही अश्आर की क़ीमत तो नहीं है

×× ×× ××

न बयाँ में ये लचक थी न ख़याल में नज़ाकत
तेरा तज़किरा जो आया तो सँवर गया तकल्लुम

×× ×× ××

बना गये हैं वो यूँ साज़े-आर्ज़ू दिल को
कि आज तक दरो-दीवार गुनगुनाते हैं

×× ×× ××

मुम्किन है उभर आयें कुछ नक़्श तमन्ना के
ऐ रात के सन्नाटे अफ़्साना सुना कोई

×× ×× ××

लकीर खींच के अपने लहू की सहरा में
बहार के लिए हम रास्ता निकाल गये

शायरी और अदब में अल्लामा कौसर जायसी मन्फ़रिद नज़रिया-ए-फ़िक्र की वकालत करते थे। उन्होंने जो मेयार क़ायम किया था, उन पर सारी ज़िन्दगी बग़ैर किसी स्वार्थ के ख़ुद भी अमल करते रहे। मुनासिब मालूम होता है कि ख़ुद कौसर साहब का नज़रिया आप लोगों के सामने रख दूँ ताकि आप ये फ़ैसला कर सकें कि उन्होंने जिस रास्ते का निर्धारण किया था, क्या वो उन रास्तों से सलामतरवी और शान से गुज़र सके हैं या नहीं। अपने मज्मूआ-ए-कलाम 'कमींगाहे-ख़याल' में 'तौज़ीहात' शीर्षक से लिखते हैं कि—''मैं ज़बान की आराइश और मुहावराबन्दी तक शायरी को सीमित नहीं समझता। वही अन्दाज़े-सुख़न प्रिय रहा जो ज़बानो-ख़याल, दोनों का सन्तुलित रूप हो। ये रिवायत से बग़ावत का ज़माना है और सालेह रवायात को भी हदफ़ बनाया जा रहा है। मैं तब्अन तनव्वोपसन्दी और ईजाद का पक्षधर रहा हूँ, लेकिन ऐसी ख़ुदसरी और कज़रवी को पसन्द नहीं करता जो मुसल्लिमाते-इल्मो-फ़न के ख़िलाफ़ बग़ावत का झण्डा बुलन्द करे। मैंने फ़ैशन के तौर पर किसी अदबी तह्‌रीक के धारे पर आँखें बन्द करके बहना बेह्‌तर नहीं समझा। मेरा नज़रियए-अदब आलमगीर जज़्बए-इंसानी की तर्जुमानी है। मैंने हुस्नो-इश्क़ के तज़्किरे में संजीदगी और मतानत का लिहाज़ रखा है। इसमें सई को दख़्ल नहीं, बल्कि मेरी उफ़्तादे-तब्अ यूँ ही है........'बरहना सुख़न गुफ़्तन' मेरे आदाबे-शायरी के ख़िलाफ़ है। ज़बान के इस्तेमाल में हमेशा मैंने मोतबर और मुस्तनद असातिज़ा की पैरवी की है और उनके फ़र्मूदात को सनदन् पेशे-निगाह रखने की कोशिश की है। अपनी छन्द-योग्यता के मुताबिक़ मैंने जिन मख़्सूस बह्‌रों में तब्अ-आज़माई की है, मेरे नज़दीक वो बह्‌रें क़ाबिले-इस्तेमाल और ख़ुशआइन्द हैं। ये और बात है कि उन औज़ान को आमतौर पर शोअरा ने न अपनाया हो।''

ऊपर उल्लिखित शेरों पर ग़ौर करने से पता चलता है उनकी शाायरी में हर वो ख़ुसूसियत पायी जाती है जो एक बड़े शायर और बड़ी शायरी के लिए ज़रूरी होती है। इसीलिए उनके हमअस्र भी उनका एहतराम करते थे और उनके नाम से पहले 'अल्लामा' लगाते थे। लोगों को उस्ताज़ी (गुरुदेव) अल्लामा कौसर जायसी के ज़िम्न में उनका ये शेर ख़ूब याद है—

जहाने-इश्क़ में कब सब का नाम चलता है
हज़ार साल में कोई चराग़ जलता है

हम्द, नात, मन्क़बत, उर्दू-ग़ज़ल, फ़ार्सी-ग़ज़ल, नज़्म, तज़्मीन, रुबाई, तहनियत-निगारी, अरूज़ी बारीकियों पर मुकम्मल अधिकार रखनेवाला और उन्हें अपनी शायरी में ख़ल्लाक़ाना बरतनेवाला शायर जिसे दुनिया-ए-अदब अल्लामा कौसर जायसी के नाम से जानती है, वो 4 अगस्त, 2005 ई. को 'सफ़रे-ज़िन्दगी से रूठकर' अपने मालिके-हक़ीक़ी के साये में पहुँच गया। जब हम कानपुर की ईदगाह के सामनेवाले क़ब्रिस्तान में, अपने किसी दोस्त या अज़ीज़ को उसकी आख़िरी आरामगाह में पहुँचाने, दाख़िल होते हैं तो दाहिनी दीवार के मोड़ के पास मौलश्री के दरख़्त के नीचे एक क़ब्र नजर आती है जिसके सराहने तख़्ती पर ये शेर लिखा हुआ है—

कोई इधर से जो गुज़रे कभी ख़ुदा के लिए उठाये हाथ मेरी क़ब्र पर दुआ के लिए

तो मैं अपने दिल की तमाम गहराइयों से अपने उस्तादे-मोह्तरम की मग़्फ़िरत के लिए दुआ में मश्ग़ूल हो जाता हूँ। आइये आप भी मेरे साथ उनकी मग़्फ़िरत के लिए ख़ुदा से दुआ करने में शामिल हो जाइये।

(मूल उर्दू से अनुवाद : नाज़ प्रतापगढ़ी)

विजयबहादुर सिंह
29, निराला नगर,
दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल–462003
मो.– 09425030392

विजयबहादुर सिंह जी मूलतः फ़ैजाबाद, सुल्तानपुर और अम्बेडकर नगर जैसे ज़िलों के सीमान्त से घिरे परिक्षेत्र के रहनेवाले हैं, इसीलिए इनकी आलोचना का एक सिरा बौद्धिक प्रतिबद्धताओं को सन्तुलित करता है तो दूसरा सिरा भावों की देसीयता को सँभाले रहता है। कविता और शायरी के मूल पाठ में ही रहकर आलोचनात्मक और समीक्षात्मक निष्कर्षों को निकालने की इनकी प्रवृत्ति इन्हें आग्रही होने से बचाती है और किसी 'वाद' से ग्रस्त होने से भी बचाती है।

आपने भवानीप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली (आठ खण्ड), दुष्यन्तकुमार ग्रन्थावली (चार खण्ड), नन्ददुलारे वाजपेयी ग्रन्थावली का सम्पादन करने के अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री शमशेरबहादुर और मुक्तिबोध की कविताओं का सम्पादन भी 'जनकवि' शृंखला के अन्तर्गत किया। भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता के निदेशक पद को भी आप सुशोभित कर चुके हैं।

यहाँ दिया जा रहा इनका लेख 'शलभ' श्रीराम सिंह की शायरी पर केन्द्रित है। 'शलभ' जी को कुछ लोग हिन्दी–ग़ज़ल की परम्परा में मानते हैं, परन्तु इनका लबो–लहजा और कलात्मक बारीकियाँ ग़ज़ल की परम्परागत शैली का निर्वहन करती दिखायी देती हैं। 'शलभ' जी की ग़ज़लें और नज़्में अक्सर लोकतान्त्रिक मूल्यों के लिए संघर्षरत युवाजन और आन्दोलनों में सक्रिय एक्टिविस्ट गाते–गुनगुनाते हैं। प्रसंगवश ये भी याद आ गया कि कुछ दिनों पूर्व 'आम आदमी पार्टी' के गठन के पूर्व उसके सदस्य अपने साथियों के साथ 'शलभ' जी की नज़्में रैलियों और सम्मेलनों में कभी–कभी सस्वर पाठ किया करते थे।

विजयबहादुर सिंह

बग़ावत और बदलाव के शायर : 'शलभ' श्री राम सिंह

शलभ की ग़ज़लों को सुनते हुए एक हिन्दी आलोचक ने कहा कि ये सामान्य कवि और शायर की सर्जना नहीं हैं। इसकी जो भाषा है बुनियादी तौर पर रवायती उर्दू की गम्भीर अनुगूँजों को लिये हुए है, पर अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर यह हमारे अपने ज़माने की तमाम होश उड़ा देनेवाली हक़ीक़तों और उनका सामना करनेवाली जवाँमर्दी से भरी हुई है। बग़ैर किसी यूटोपिया को रचे हुए ये शायर हमें जीने की उन्हीं राहों की याद दिलाता है जिससे हमारे पुरखों की ज़िन्दगी गुज़रती आयी है। यानी कि मुश्किलों और हौसलों की इबारतें एक साथ उठती-बैठती और अपनी आँखें चार करती हुईं। इस सन्दर्भ में शलभ के दो शेरों की याद अपने आप हो आती है—

मुश्किलें-ही-मुश्किलें हैं राहे-मंज़िल में यहाँ
हौसले-ही-हौसले हैं आज़माने के लिए

×× ×× ××

इन्हीं पेचोख़म, इन्हीं ठोकरों में हैं मर्कज़ों की बलन्दियाँ
अभी चल सँभल के क़दम-क़दम अभी मुश्किलों का न ज़िक्र कर

शलभ के यहाँ जो शख़्स है, वो भी कोई सामान्य दुनियादार आदमी नहीं है। एक जीता-जागता विद्रोही है, दुनिया की तक्लीफ़ों का चेह्रा बना हुआ और अत्याचारियों द्वारा रचे दारो-रसन तक जाने को हर पल तैयार। शलभ उसे परिभाषित करता है—

तेरा ज़ख़्म रूए-हयात है अरे अय 'शलभ'! न मलाल कर
तेरा बिस्मिलों में शुमार है, अभी क़ातिलों का न ज़िक्र कर

उसकी ग़ज़लों में 'दारो-रसन' वाला बिम्ब बार-बार जैसे कि मौक़ा खोज-खोजकर चला आता है—

दारो-रसन तलक 'शलभ' आये हैं चलके आप हम
ख़्वाब से इन्क़लाब तक आप भी ख़ुद को लायँ लायँ

शायर की सोच और आम सोच में यही तो फ़र्क़ है कि शायर सिर्फ़ ख़्वाब नहीं देखता, उस तक पहुँचनेवालों को वो रास्ता भी बताता है, जिसे इन्क़लाब कहते हैं। शलभ की शायरी में सिर्फ़ ख़्वाब नहीं है, इन्क़लाब की राहें भी हैं। इसे तभी समझा जा सकेगा जब हमारा इतिहास-बोध ही नहीं, संस्कृति-बोध भी ठीक-ठाक हो; अन्यथा तो ये सब लफ़्फ़ाज़ी भर माना जायेगा। शलभ बार-बार

हमें याद दिलाता है कि आदमीयत की जो भी राहें रही हैं वे बग़ैर इन्क़लाब के कभी नहीं सम्भव हो पायी हैं। इसलिए कोई उसे इन्क़लाब का शायर कहना चाहे तो तबीयत से कह सकता है। उसकी ज़बान में ये अनुगूँजें भरी हुई हैं। उसकी नज़्में, जो ग़ज़लों से कहीं ज़्यादा पापुलर हैं उनमें इन अनुगूँजों की आवाज़ और साफ़ है। ये विचित्र बात है कि यहाँ पस्तहिम्मती, नाउम्मीदी, रोना-धोना, कापुरुषता या फिर घुटने टेकना कहीं नहीं है। एक स्थायी जुझारूपन है। सनातन संघर्ष। शलभ की शायरी का अगर कोई सन्देश है तो यही है। मध्यवर्ग में पैदा होकर मध्यवर्ग की सुविधापरस्ती, संघर्ष-विमुखता और चालाकियाँ यहाँ नदारद हैं; न उनका कोई दार्शनिकीकरण ही। विपरीत इसके बार-बार ये आग्रह है कि इतिहास और सभ्यता के इस मोड़ पर अगर कोई एक बात बग़ैर किसी द्वन्द्व के लाज़िमी है तो यही संघर्ष और इन्क़लाब है।

शलभ आज़ादी मिलने से आठ-नौ साल पहले पैदा हुआ था और भारतीय गणतंत्र और संविधान के बनते-बनते किशोरावस्था की दहलीज़ पर था। तभी उसकी चेतना में ये बात आती चली गयी थी कि इन्क़लाब अभी पूरा नहीं हुआ है। उसे अगली पीढ़ी द्वारा पूरा किया जाना है। उसकी ग़ज़लों और शेरों में बार-बार 'बिस्मिलों' की मौजूदगी ये इशारे करती है कि इन्क़लाब अभी अधूरा है। इसके लिए बिस्मिलों की एक तादाद तो चाहिए ही। उस साथी हिन्दी-आलोचक ने शलभ को लेकर कहते हुए पहले तो यही कहा कि ये जीनियस है, फिर ये भी कि कई लाख में कोई एक जीनियस पैदा होता है। उस हिसाब से गाँवों से पैदा होनेवाले जीनियसों की संख्या शह्‌रों की तुलना में कहीं ज़्यादा होगी। हिन्दी-साहित्य तो ख़ासतौर से गाँववालों से भरा हुआ है— प्रेमचन्द, निराला, रेणु, नागार्जुन, परसाई आदि। गाँवों में हज़ारों साल के संचित अनुभवों का सुसंस्कार बग़ैर किसी कोशिश के हाथ आ जाता है, सप्रमाण। फिर वो बुद्धि-बल, जो उन ऐतिहासिक अनुभवों से संवाद करके अपने को दुरुस्त किया करता है। प्रेमचन्द और रेणु अगर इस गाँव को जानते न होते तो शायद ही इतना भरोसेमन्द लिख पाते। संयोग से शलभ भी गाँववाले अनुभवों का ये संस्कार पैदाइशी तौर पर लिये आया था। गाँवों में तमाम चकरोडों के बन जाने के बाद ये मुश्किलें कोई कम नहीं हुई हैं, जैसे कि अँधेरा, अशिक्षा, असमानता, ग़रीबी, अन्याय और अपराध; और अब तो नौकरशाही ख़ुद एक वर्ग की तरह अपराधी भूमिका में अघोषित तौर पर यहाँ उतर पड़ी है। इसे अदम गोण्डवी की नज़्म 'चमारों की गली' में पढ़कर ख़ूब समझा जा सकता है। शलभ की नज़्मों और ग़ज़लों में ऐसे लोकल अनुभवों की संख्या यूँ नदारद है। वो हमेशा नेशनल नक़्शों पर निगाह गड़ाये हुए रहता है। इसलिए अनुभवों के चेह्‌रे उसके यहाँ ज़रा बारीक किन्तु सन्देशों की ज़बान ज़रूरत से ज़्यादा मुखर है। तब भी उसकी शायरी में इन्क़लाब की बातों को लेकर कोई शुबह्‌ा नहीं।

शलभ जो बार-बार अपनी शख़्सीयत को 'मजाज़' के पास ले जाकर खड़ी करता है, उस बिरादरी में रहकर पहचाने जाने की माँग करता हुआ दिखता है। उसका एक और कारण उसकी वो रोमाण्टिकता है जो 'मजाज़' में भी ख़ूब थी। 'मजाज़' भी इश्क़ और रिवोल्ट के शायर थे। शलभ को भी इस तरह पहचाने जाने पर कोई एतराज़ नहीं है। ज़रा ये टुकड़ा पढ़ें—

वो कि आवारा भटकता रहा जो सड़कों पर
इसे न भूल कि अब तुझमें ढल गया है वो

×× ×× ××

जो मेरे चेह्‌रे पर दिखती है दोस्तो तुमको
खरोच वक़्त की मेरी नहीं है, उसकी है
तुम्हारे ज़ेह्‌न की दुनिया को परीशाँ करती
ये सोच वक़्त की मेरी नहीं है, उसकी है

'मजाज़' यहाँ एक शख़्स से उठकर शायरी की एक अलग क़िस्म की क़ौम में जैसे ढल जाते हैं और शलभ भी। कविता या शायरी अगर अपनी ऐसी पहचान बना लेते हैं तो ये कहना भी कठिन नहीं रह जाता कि विद्रोह बग़ैर रोमाण्टिक हुए सम्भव नहीं है। रोमाण्टिक का अर्थ ही है स्वच्छन्दता। ये जो कवि की चेतना को तमाम बन्धनों से मुक्त करती है और उसे उस छन्द में आने को कहती है जो मनुष्यता का स्वाभाविक और बुनियादी छन्द है। वो राग जिसके बग़ैर भारतीय धारणा के अनुसार सृष्टि सम्भव ही नहीं। यही राग हमें प्रेम तक ले जाता है और विद्रोह तक भी। यही राग अपनी प्रचण्ड तीव्रता में सृष्टि से प्यार करना सिखाता है और इसके लिए कैसी भी क़ीमतें चुकाने के लिए हमें तैयार करता है। भगतसिंह और उनके साथी इसी राग से भरे-पूरे थे, अन्यथा वे कभी वसन्ती चोले की माँग नहीं करते। ये वसन्ती चोला 'फ़ैज़' में भी आया, 'मजाज़' में भी। शलभ के यहाँ तो है ही। कोई देखना ही चाहे तो इन शेरों में उसे दिख जायेगा—

शह्र-दर-शह्र भटकने का वक़्त आ पहुँचा
उनकी नज़रों में खटकने का वक़्त आ पहुँचा

×× ×× ××

हम भी हैं बज़िद वो भी शम्शीर बकफ़ हैं अब
बिस्मिल के इरादे पर क़ातिल की पहल होगी

×× ×× ××

क़ौमों के रहनुमाओं से जाकर कहो 'शलभ'
जिसको वो ढूँढ़ते हैं वही इन्क़लाब हूँ

दुष्यन्त और अदम गोण्डवी भी यथार्थ के इस चेह्रे से ग़ैरवाक़िफ़ नहीं हैं। ये तो दुष्यन्त ही कह गये थे— *'मत कहो आकाश में कुहरा घना है'*। शलभ के बाद आये अदम ने लिखा— *'मैंने अदब से हाथ उठाया सलाम को, समझा उन्होंने इससे है ख़तरा निज़ाम को'*। अदम ज़रा कुछ ज़्यादा ही डाइरेक्ट हैं। फावड़े और कुदाल के साथ हर वक़्त खेत-खलिहान में रहने के चलते उनका लहजा भी उसी तरह का है— बेलाग-लिहाज़ और मर्दानगीवाला। शलभ का सम्बन्ध यों तो बचपन से खेती-किसानीवाला ही था, दोनों एक ही अंचल अवध के पड़ोसी ज़िलों के हैं। सरजू इस पार के शलभ उस पार के अदम। शलभ शायर पहले हैं, विद्रोही बाद में। अदम के यहाँ विद्रोह और अक्रामकता का सौन्दर्य प्रधान है। 'मजाज़' भी तो इसी अवध के हैं। यही धरती जायसी, तुलसी और त्रिलोचन की भी है। निराला तो ख़ैर हैं ही। इतिहास में जायँ तो अवध के मंगल पाण्डेय के बग़ैर अठारह सौ सत्तावन का इतिहास लिखा कैसे जाएगा। ये सब ख़ानदानी किसान-परिवारों के लोग हैं। 'मजाज़' और दुष्यन्त का ख़ानदान भी तो खेती-किसानीवाला था। दुष्यन्त ज़रूर रूहेलखण्ड के ठहरे। इस अर्थ में जो ये ग़ज़ल का तेवर है उसमें उसी किसान का तेवर मिल जायेगा जिसकी ज़ेह्नियत में ये सब है। याद करना चाहें तो वे किसान जिनकी ज़िन्दगी हमेशा ख़तरों से जूझने की आदी रही है, जो उसे जुए की तरह खेलने को हर वक़्त तैयार मिलते हैं, जिनमें आवेगों की कोई कमी कभी नहीं रहती और जो अपने इन आवेगों की क़ीमत ख़ूब जानते-समझते हैं। इन किसानों का साथ अगर भारत के जुझारू वामपंथ के साथ बना रह पाता जैसा कि गाँधी के साथ था तो वामपंथ के लिए वे मुश्किलें नहीं ही आती जो आज आ खड़ी हैं। वामपंथ जितना किताबी और अभिजात होता गया, बौद्धिक तबक़ों की तरफ़ उसकी रुझानें बढ़ती गयीं, आज वो जिस शह्री मध्यवर्ग तक महदूद है, वो काफ़ी चिन्ताजनक है। हमारे इन शायरों और कवियों ने जैसे उस पर रहम खाते हुए उसे अपने कलामों में बचा रखा है कि अगली पीढ़ियाँ शायद कभी उस रास्ते पर आयें जो उनका असली रास्ता है। ज़िन्दगी जहाँ मेह्नत, पसीने और संघर्ष की ज़बान बनी हुई है, जहाँ कवि और

समाज आपस में बातचीत करने की आज भी सुखद सुविधा में हैं। जहाँ कवित्व भद्रलोक की निजी वार्ता नहीं, सचमुच अवाम से गुफ़्तगू है। कविता/शायरी जहाँ अलग संसार का स्वायत्त व्यापार नहीं है, उसकी अपनी सबसे गम्भीर और ज़रूरी भाषा है। लोक के संघर्षों और सपनों में डूबकर और नहाकर जो हर बार तारो-ताज़ा लिये लौटती है। दुष्यन्त हों, अदम गोण्डवी या शलभ में अगर ये रुज्हान और लगाव है तो मान लेना पड़ेगा कि कविता अभी कहीं गयी नहीं है; वो हमारे बीच है। उसकी पहचान कोई नया पुराना छन्द नहीं, वो जीवन है जो सिर्फ़ कविता के मार्फ़त अपने गूँगेपन, अपनी लाचारियों से मुक्ति पाता है, वो भाषा है जो दोनों के बीच की है। वो विचार है जिसे दोनों कर्म में उतारने की इच्छा रखते हैं। इस पर कोई विवाद शायद ही हो कि भाव ही कर्म के प्रेरक हुआ करते हैं। कविता इन्हीं भावों की सृष्टि है। दुखद है कि यहाँ ऐसे भी लेखक और कवि आये जिन्होंने भाव को पीछे फेंक विचार का दामन थाम लिया और कविता को घिसे-पिटे आकारों(फार्म्स) में ढालने लग गये। ये वे लोग थे जो कवि जैसे कर्म करते हुए दिखते ज़रूर थे, अफ़्सोस ये कि कवि नहीं थे ये। कवि के होने का मतलब होता है, समाज का संवेदनशील बने रहना, चेतना प्रखर होना और कर्म-अकर्म की पहचान और बोध का होना। कवि हों या कथाकार अगर उनका रिश्ता व्यापक लोक-जीवन से टूट चुका है और उनके शब्द किसी भी रूप और स्तर पर लोक के लिए उपयोगी नहीं बचे हैं तो वो कौन-सा समाज होगा जो प्रेमचन्द के शब्दों में उन्हें अपनी 'सभ्यता के अँधेरे की मशाल' मानेगा। वे तब अपने शब्दों की इस पूँजी को ख़र्चेंगे कहाँ? दुष्यन्त हों या शलभ या फिर अदम गोण्डवी— ये समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल की वो त्रयी है जिसकी शायरी में गहरी सामाजिक अनुभूति और कवि की तीव्र और सघन संलग्नता है। सामाजिक जीवन के विकास और उसके रास्ते में आनेवाली मुश्किलों की ख़बर है। इन मुश्किलों पर सोचने और इनसे आँखें चार करने का जज़्बा है। इससे भी बड़ी बात ये कि निजी स्तर पर भी ये इस जज़्बे को जीते हैं और क़ीमत चुकाने को तैयार दिखते हैं। शलभ ने भी ये क़ीमतें ख़ूब चुकायी हैं। समझौता जैसे उसके जीवन-व्यवहार की सबसे घृणित और भद्दी गाली रही हो। उसने जैसे इसके ख़िलाफ़ रहते हुए ही ये शेर लिखे—

मयख़ाना, सनमख़ाना या मह्फ़िल तो नहीं है
कुछ भी हो, मेरा क्या, मेरे क़ाबिल तो नहीं है
राहों के पेचोख़म बने हैं रहनुमा 'शलभ'
तेरे क़दम के साथ ही मंज़िल तो नहीं है

×× ×× ××

अँधेरे यूँ ही रहेंगे कि रहते आये हैं
चिराग़ हो तो जलाकर रहे-सफ़र देखो

×× ×× ××

हर ख़रीदी हुई सुविधा के ख़िलाफ़
एक लाठी है एक कम्बल है

अपनी समूची शायरी को 'मज़्मूने-बग़ावत' और अपने शायर को सीधे-सीधे 'इन्क़लाब' कहकर शलभ ने ये साफ़ कर दिया है कि वो बग़ावत और बदलाव का शायर है। इसलिए उसकी शायरी इन शब्दों के आस-पास के ख़यालों से अँटी पड़ी है, पर अगर कोई इसे फ़ौरी और रस्मी कहना चाहे और इसका क़द छोटा करने की कोशिश करे तो वो इसलिए मुश्किल-तलब होगा कि शलभ के यहाँ इतिहास और राजनीति, सत्ता और समाज, परम्परा और प्रगति की भी अच्छी-भली तक़रीरें हैं। उनके भीतर के शायर को परम्परा और समाज की भी पहचान है, समय की उठापटक और धड़कनों की भी। उसकी निगाह में वो सब है जिससे शायरी बनती है और शायर अपनी पहचान

पाता है। शलभ ने ये पहचानें उस भाषा में बनायी हैं जिसमें उर्दू के उस्तादों की भारी मौजूदगी है। शलभ वहाँ उस ख़ानदान के अधिकृत युवराज की तरह गये हैं, जैसे कि ये सब उनकी बपौती हो। इसीलिए शलभ के यहाँ ज़रूरत से ज़्यादा अरबी-फ़ार्सी के शब्द आते चले गये हैं और वो क्लासिकल अन्दाज़ भी मिला, जो उन्हें उस्तादों की ज़मीन ही नहीं, उनकी बिरादरी की ओर भी ले जाता है। अगर कभी ये ग़ज़लें फ़ार्सी-लिपि में छपीं तो उर्दू की आधुनिक वामधारा का गौरवपूर्ण हिस्सा मानी जायेंगी। इनकी कहन की ख़ूबसूरती और विलक्षणता की भी भरपूर सराहना होगी, मुझे कोई सन्देह नहीं। शलभ को इसकी जैसे पहले से ख़बर-सी हो—

परवाज़ तख़य्युल की इसको न 'शलभ' समझो
अब तक न हुई है जो वो बात भी कल होगी

आबशार आदम
c/o आबशार स्टूडियो
ककराला, बदायूँ-243637
मो.- 09759279686, 08979812431

आबशार आदम पिछले 25 वर्षों से उर्दू-अध्यापन के पेशे से जुड़े हैं। इस वक़्त ज़िला रामपुर में नियुक्त हैं। इनके अदबी उस्ताद हज़रत नूर ककरालवी साहब हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनकी ग़ज़लें और मज़्मून प्रकाशित होते रहते हैं। आकाशवाणी और विभिन्न टी. वी. चैनलों से भी इनका जुड़ाव है।

राजेन्द्रनाथ 'रहबर' का शुमार पंजाब ही नहीं, बल्कि पूरे हिन्दुस्तान के उस्ताद शायरों में होता है। आपकी शायरी में पंजाब की अक्खड़ता नहीं, बल्कि वहाँ की दिलकश रूमानियत और मिठास स्थायी भाव में हैं। इनकी बहुत-सी रचनाएँ ग़ज़ल-गायकों द्वारा गायी जाती रहती हैं, जिनमें जगजीत सिंह द्वारा गायी गयी फ़िल्म '*अर्थ*' की नज़्म *'तेरे ख़ुश्बू में बसे ख़त मैं जलाता कैसे'* विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। पंजाब के विभिन्न सरकारी और ग़ैरसरकारी हिन्दी-उर्दू संस्थानों से रहबर साहब का सक्रिय जुड़ाव है। रहबर साहब जितने बड़े शायर हैं उससे भी बढ़कर वो एक पुरख़ुलूस इंसान हैं। उनसे मिलकर ये बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी गुफ़्तगू में भी ग़ज़ल की ख़ुश्बू समायी रहती है। प्रस्तुत लेख में इनसे जुड़ी तमाम बातों का उल्लेख हुआ है।

आबशार आदम

तेरे ख़ुश्बू में बसे ख़त मैं जलाता कैसे

मोह्तरम राजेन्द्रनाथ 'रहबर' साहब उर्दू-अदब के वो चिराग़ हैं जिसने अपने नूर से पूरे अदबी गलियारों को रोशन कर रक्खा है। वो शेरो-सुख़न का वो सूरज हैं जो अपनी चमक से पूरी अदबी दुनिया को चकाचौंध किये हुए हैं। वो अदब का ऐसा सरचश्मा हैं जिसने वीरानों को सैराब करके वहाँ बहारें ला दी हैं। राजेन्द्रनाथ 'रहबर' उर्दू-अदब के उस किसान का नाम है जिसने मुहब्बत, इंसानी हमदर्दी और भाईचारे की फ़ज़ा हमवार करके ग़ज़लों और नज़्मों की पैदावार को विकसित किया है। त्रिलोकचन्द 'मह्रूम', ब्रजनारायण 'चकबस्त', मेलाराम 'वफ़ा', रघुपति सहाय 'फ़िराक़', बालमुकुन्द 'अर्श' मल्सियानी की क़बील के इस शायर ने मीर, ग़ालिब, इक़्बाल और फ़ानी की विरासत को न केवल बख़ूबी सँभाला है, बल्कि उसमें बेशुब्हा इज़ाफ़ा किया है। मश्हूर शायर ईश्वरदत्त 'अंजुम' के छोटे भाई और दरवेश-सिफ़त उस्ताद शायर जनाब रतन पण्डोरवी के होनहार शागिर्दे-ख़ास शायर जनाब राजेन्द्रनाथ 'रहबर' की पैदाइश 5 नवम्बर 1931 को मश्हूर वकील पण्डित त्रिलोकचन्द के घर शंकरगढ़ ज़िला गुरदासपुर पंजाब (अब पाकिस्तान) में हुई। उनकी आठवीं तक की तालीम उर्दू-मीडियम से हुई, यानी आपने तमाम मज़ामीन उर्दू में ही पढ़े। जिस स्कूल में रहबर साहब ने तालीम पायी वहाँ के कुछ टीचर शेरी ज़ौक़ भी रखते थे और अक्सर शेर गुनगुनाते रहते थे। टीचर्स के इस अमल से रहबर साहब का शायर-मन कब इस ओर प्रवृत्त हो गया कि पता ही नहीं चला। रहबर साहब के ख़ुद कुछ उस्ताद उन्हें सबक़ कभी-कभी अश्आर के माध्यम से याद कराते थे, मस्लन इतिहास में बादशाह अकबर की फ़ुतूहात(फ़तेह या फ़त्ह का बहुवचन) निम्नलिखित शेर के ज़रिअे याद करायी जाती थी—

फ़ुतूहाते-अकबर जो था शाहे-हिन्द
उड़ीसा-ओ-बंगाल, गुजरात, सिन्ध

इसी तरह दूसरे मुल्कों के शह्रों के नाम इस शेर के माध्यम से याद कराये जाते थे—

समरकन्द, कोकन्द, खेवा, खजन्द
बदख़्शाँ, बुख़ारा, बलख़, ताशकन्द

इस तरीक़े से ये होता था कि सबक़ हमेशा के लिए याद हो जाता था। इस तरीक़ा-ए-तालीम ने रहबर साहब को बचपन से शेरो-सुख़न के रास्ते पर डाल दिया।

बक़ौल रहबर साहब— ''स्कूल के हॉल और कमरों में बड़े ख़ूबसूरत ढंग से बड़े साइज़ के चार्ट दीवारों पर लटके रहते थे। उन पर उर्दू के बड़े-बड़े और नामवर शायरों के फोटो और हालाते-ज़िन्दगी, विलादतो-वफ़ात की तारीख़ दर्ज होती थी, जिनमें मीर, ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन,

अमीर मीनाई, इंशा, दाग़, हाली, सौदा और बहादुर शाह ज़फ़र के नाम ख़ास तौर से क़ाबिले-ज़िक्र हैं। इन सभी चार्टों को मैं बड़ी अक़ीदतमन्दी और जोश के साथ एक-एक करके पढ़ता जाता और इन्हें बार-बार पढ़ने से ज़्यादातर मुझे ज़बानी याद हो गये थे।''

स्कूली ज़िन्दगी की इसी फ़ज़ा ने रहबर साहब को सैकड़ों अश्आर ज़बानी याद करा दिये और इसी अदबी माहौल ने इन्हें शायर बनाने में बहुत बड़ा रोल अदा किया या यूँ कहिए कि ये शुरूआत थी उनके शायर बनने की। रहबर साहब का लड़कपन ऐसे मख़्लूत(मिले-जुले, मिश्रित) समाज में गुज़रा जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख सब मिलजुल कर रहते थे और एक दूसरे के लिए अपने-अपने दिलों में हमदर्दी भरे जज़्बात रखते थे, एक-दूसरे के सुख-दुख में पेश-पेश रहते थे। अचानक इस ख़ुशनुमा माहौल को किसी की नज़र लग गयी, अँग्रेज़ हुक्मरानों ने भारत को आज़ादी देने का फ़ैसला कर लिया, मगर उसके दो टुकड़े करके। मुस्लिम लीग ने अलग मुल्क की माँग रख दी जिसे अँग्रेज़ों ने फ़ौरन क़ुबूल कर लिया और इस तरह भारत के दो टुकड़े हो गये और पाकिस्तान नाम के नये मुल्क का वुजूद अमल में आया। फिर शुरू हो गया मारकाट, ख़ून-ख़राबे का भयानक दौर जिसे याद करके तारीख़ आज भी ख़ून के आँसू बहाती है। मिल-जुलकर रहनेवाले हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे हो गये। सड़कों और गलियों में लाशों के अम्बार लग गये, हज़ारों लाशों को कफ़न और क़ब्र तक नसीब नहीं हुई। कितनी ही लाशें चिता के इन्तज़ार में सड़ गयीं, उनके मुर्दा जिस्मों को कुत्तों और चील-कौवों ने नोच-नोचकर खाया। ऐसी दरिन्दगी, ऐसी हैवानियत जिस पर शैतान भी शर्मा गया। ज़ुल्मो-सितम की वो आँधियाँ चलीं कि इंसानियत तहस-नहस हो गयी। ऐसे में शुरू हुआ आबादी का तबादला (जनसंख्या की अदला-बदली) लाखों हिन्दू बहन-भाई अपने घरबार, कारोबार, खेत-खलिहान छोड़कर भारत में शरणार्थी जीवन जीने को मज्बूर हुए। करोड़ों मुसलमान, अपनी तिजारत, अपना वतन, अपने मकानात, अपने प्यारे शहर, गाँव छोड़कर पाकिस्तान गये जहाँ आज भी उनके माथे पर मुहाजिर(शरणार्थी) का लेवल चस्पाँ है। राजेन्द्रनाथ रहबर और उनका परिवार हज़ारों हिन्दू परिवारों के साथ किसी तरह अपनी जान बचाकर पैदल सफ़र करके एक क़ाफ़िले की शक्ल में भारतीय सीमा में दाख़िल हुआ। कितनी रातें उन्हें खुले आसमान के नीचे खेतों में गुज़ारनी पड़ीं। अपने आबाई वतन शंकरगढ़ को छोड़ने का रहबर साहब को बहुत मलाल था और सबसे ज़ियादा मलाल इस बात का था कि जिन मुसलमानों के साथ वो बरसों से रहते चले आये थे उनमें से सिर्फ़ एक के सिवा किसी ने भी उनसे हमदर्दी का इज़्हार नहीं किया। उन्होंने जब क़स्बा शंकरगढ़ छोड़ा तो एक पंजाबी शायर सरदार अली 'आतिश' जो एक नेकदिल इंसान थे, उनके क़ाफ़िले के साथ भारतीय सीमा तक साथ आये। वो बेचारे आबादी के बँटवारे की वज्ह से काफ़ी आहत थे। रहबर साहब का क़ाफ़िला जब भारतीय सीमा में दाख़िल हुआ तो शाम हो चुकी थी। आतिश साहब को वापस शंकरगढ़ पहुँचने के लिए 15 मील का सफ़र पैदल तय करना था, रास्ते में कई नदियाँ और दरिया भी पार करने थे। ये नेकदिल इंसान जब रहबर साहब और उनके क़ाफ़िले से जुदा हुआ तो सभी लोग ये दुआ करते रहे कि 'या ख़ुदा! वो ख़ैरियत के साथ अपने घर पहुँच जाये'। बक़ौल रहबर साहब—''हमें आज तक पता नहीं चला कि वो नेकदिल इंसान अपने घर तक पहुँच सका या नहीं, या उस पर वापसी के सफ़र में क्या गुज़री''। रहबर साहब का ये क़ाफ़िला भारतीय रियासत जम्मू-कश्मीर में दाख़िल होकर रुकता-रुकाता 2 सितम्बर 1947 ई. को पठानकोट में दाख़िल हुआ जो उसकी मंज़िले-मक़्सूद थी। उस वक़्त रहबर साहब की जो दिली कैफ़ियत थी वो इस शेर से अयाँ होती है—

कोई हिन्दू कोई सिख कोई मुसलमाँ निकला
एक चालीस करोड़ों में न इंसाँ निकला

कई हफ़्तों की तलाश के बाद बमुश्किल रहबर साहब को पठानकोट में एक निकासी मकान मिला,

निकासी मकान वो मकान थे जो उन मुसलमानों के थे जो अपने मकान छोड़कर पाकिस्तान चले गये थे। पठानकोट में आने के बाद रहबर साहब ने तालीमी सिल्सिला शुरू करने की ग़रज़ से अमृतसर के हिन्दू कॉलेज में एफ.ए.में दाख़िला ले लिया। इस कॉलेज की अदबी फ़ज़ा ने रहबर साहब के अदबी सफ़र को तह्रीक दी। इसी कॉलेज के प्रोफेसर एम.ए.माथुर मुशायरे कराते थे, इन मुशायरों में बहुत-से नामवर शायर शिकरत फ़र्माते थे, जिनमें अर्श मल्सियानी, पूरन सिंह 'हुनर', जनाब कृपाराम 'नाज़िम' और जनाब पन्नालाल 'रिन्द' वग़ैरह के नाम ख़ासतौर से उल्लेखनीय हैं। रहबर साहब ने इन मुशायरों में सामईन की हैसियत से शिरकत करके बार-बार इन शायरों को सुना और अपने अदबी शौक़ को मज़ीद परवान चढ़ाया। हिन्दू कॉलेज अमृतसर की इस अदबी फ़ज़ा में रहकर रहबर साहब ने टूटे-फूटे शेर कहना शुरू कर दिया। एफ.ए.से एम.ए. तक की पढ़ाई के दौरान ही रहबर साहब हर शनिवार को अमृतसर से पठानकोट जाते थे और इतवार का दिन वहीं गुज़ारते। इतवार के दिन उर्दू-ज़बान का रोज़नामा 'प्रताप' उनके घर आता था, जिसमें एक अदबी पेज होता था, उसमें 8-10 ग़ज़लें छपी होती थीं। रहबर साहब के बड़े भाई मोह्तरम ईश्वरदत्त 'अंजुम' साहब बआवाज़े-बुलन्द तरन्नुम के साथ उन ग़ज़लों को पढ़ते थे। रहबर साहब उन ग़ज़लों को सुनते और ख़ुद भी बार-बार पढ़ते थे। उन्हीं दिनों जालन्धर में रोज़ाना अख़बार 'हिन्द समाचार' का विमोचन हुआ। इस अख़बार के सण्डे एडीशन में तरही कलाम छपना शुरू हुआ जिसे रहबर साहब ने बिलानाग़ा पढ़ना शुरू किया। एक बार का मिस्रा था— *'तस्वीर बन गया तेरी तस्वीर देखकर'*। जनाब रहबर साहब ने भी इस मिस्रे पर तब्अ आज़माई की और तरही ग़ज़ल के पाँच अश्आर कहकर अख़बार के एडीटर को भेज दिये। अगले इतवार को जब 'हिन्द समाचार' आया तो उसमें रहबर साहब की ग़ज़ल के दो शेर छपे थे—

तूने लिखा है भूल जा गुज़रे हुए वो दिन
हैरान हो गया हूँ मैं तह्रीर देखकर
सब पूछने लगे मेरे दिल की हक़ीक़तें
हर वक़्त तेरी याद में गम्भीर देखकर

ये मार्च 1949 ई.की बात है, और सच कहा जाये तो सही मायनों में यहीं से रहबर साहब का शेरी सफ़र शुरू हुआ, क्योंकि अख़बार में दो शेर पहली ही कोशिश में छप जाने से रहबर साहब को बहुत हौसला मिला; फिर ये हुआ कि उनका कलाम अक्सर 'हिन्द समाचार' में छपने लगा। रहबर साहब के शायरी से इस दर्जा लगाव को देखकर उनके बड़े भाई जनाब ईश्वरदत्त 'अंजुम' साहब ने उन्हें मश्विरा दिया कि मश्हूर शायरों के कलाम का अध्ययन करो। बात उनकी समझ में आ गयी। एक दिन वो अपने बड़े भाई साहब के साथ अमृतसर गये और वहाँ से चन्द बड़े शायरों के मज्मूआ-ए-कलाम ख़रीद लाये, जिनमें उस दौर के मश्हूर-ओ-मारूफ़ शायर जनाब साहिर लुधियानवी का मज्मूआ 'तल्ख़ियाँ' भी था। इस मज्मूअे में साहिर की कई मश्हूर नज़्मों में 'ताजमहल' और 'मरघट की ज़मीन से' भी थीं। साहिर के इस मज्मूअे ने रहबर साहब को बहुत प्रभावित किया और उसे इतनी बार पढ़ा कि वो उन्हें पूरा-का-पूरा ज़बानी याद हो गया। रहबर साहब का ये अदबी सफ़र बराबर जारी था कि उसी दौरान उनकी मुलाक़ात पठानकोट में एक शायर दरबारीलाल 'मासूम' से हुई और यहीं से एक-दूसरे को सुनने-सुनाने का सिल्सिला शुरू हुआ। जनाब मासूम साहब उस्ताद शायर जनाब रतन पण्डोरवी के शागिर्द थे। उन्होंने रहबर साहब को सलाह दी कि आप भी उन्हीं से इस्लाह लिया करें। बात रहबर साहब को जँच गयी और इस तरह वो ख़तों के ज़रिअे रतन साहब से इस्लाह लेने लगे। रतन पण्डोरवी साहब एक दरवेश-सिफ़त इंसान थे और दुनिया की चहल-पहल से बेनियाज़ होकर गाँव हरगोविन्दपुर (गुरुदासपुर) के क़रीब व्यास नदी के किनारे एक ग़ैरआबाद शिव-मन्दिर में रहकर फ़क़ीराना ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे। ख़ुद रतन

साहब दिल शाहजहाँपुरी के शार्गिद थे। रतन साहब इंसानियत, ख़ाकसारी, इन्क़िसारी, ख़ुदापरस्ती और अख़लाक़ियात की जीती-जागती तस्वीर थे। कमाले-सुख़न के साथ इल्मे-नजूम (ज्योतिष) में भी महारत रखते थे। शायरी की इस्लाह के साथ-साथ रतन साहब के तमाम गुण और विशेषताएँ भी रहबर साहब को मयस्सर हुईं, जिसको उन्होंने इस शेर में स्वीकार भी किया है—

हमको दरवेशी की दौलत भी मिली है फ़न के साथ
हम रतन पण्डोरवी के सीनियर शागिर्द हैं

ये बिल्कुल ऐन हक़ीक़त है कि उर्दू की परवरिश और तरक़्क़ी में पंजाब का बहुत बड़ा रोल रहा है। इस अमल में जिन शायरों और अदीबों ने अपना ख़ून-पसीना बहाया है उनमें एक मोअतबर नाम जनाब राजेन्द्रनाथ रहबर का भी है। उन्होंने रतन साहब की सरपरस्ती में आगे बढ़ते हुए उर्दू-शायरी में भरपूर महारत हासिल की और उर्दू की तरक़्क़ी में अपना नाम सुनहरे हर्फ़ों में लिखवा लिया, और ये दावा भी किया—

अभी न गुलशने-उर्दू को बेचराग़ कहो खिले हुए हैं अभी चन्द फूल शाख़ों पर

रहबर साहब बुनियादी तौर पर ग़ज़ल के शायर हैं, लेकिन इसके बावजूद आपने तमाम अस्नाफ़े-सुख़न(साहित्य-विधा) में न सिर्फ़ तब्अ-आज़माई की है, बल्कि काफ़ी शोहरत भी हासिल की है। नज़्म के अलावा आपने नस्र (गद्य) के मैदान में भी अपनी सलाहियतों के जौहर दिखाये हैं। उन्होंने इस मैदान में पहला दीबाचा(भूमिका) 1959 ई. में प्रकाशनाथ 'परवेज़' के क़त्आत के मज्मूअे में लिखा था। उसके बाद कई अख़बारों में मज़ामीन(लेख) लिखने का सिल्सिला शुरू हुआ। आपके जिन मज़ामीन को शोहरत मिली उनके नाम हैं—1.रात की बाहों में पठानकोट, 2.नगर मश्हूर इक दीना नगर है, 3.जिगर जालंधरी तू कहाँ है, 4.मुझको सारे बेवफ़ाओं के पते मालूम हैं, 5.झील में आपने कोई पत्थर फेंका क्यों है, 6.बस्ती की लड़कियों में बदनाम हो रहा हूँ, 7.वकालत का पेशा, 8.उर्दू-नज़्मगोई में पंजाब का हिस्सा, वग़ैरह-वग़ैरह।

रहबर साहब की एक बहुत ही मश्हूर नज़्म 'तेरे ख़ुश्बू में बसे ख़त मैं जलाता कैसे' सुप्रसिद्ध फ़िल्म-निर्देशक महेश भट्ट की फ़िल्म 'अर्थ' में हिन्दुस्तान के मशहूर ग़ज़ल-गायक जगजीत सिंह ने गायी थी। उसके बाद ये नज़्म मुल्क की तमाम बड़ी पत्रिकाओं में छपी और ये सिल्सिला आज भी बदस्तूर जारी है। इस नज़्म ने रहबर साहब की शोहरतों में चार चाँद लगा दिये। यूँ तो ये नज़्म काफ़ी बड़ी है (आठ बन्द), लेकिन उसका सबसे मशहूर बन्द पेशे-ख़िदमत है—

तेरे ख़ुश्बू में बसे ख़त मैं जलाता कैसे
प्यार में डूबे हुए ख़त मैं जलाता कैसे
तेरे हाथों के लिखे ख़त मैं जलाता कैसे
तेरे ख़त आज मैं गंगा में बहा आया हूँ
आग बहते हुए पानी में लगा आया हूँ

रहबर साहब की शायरी के नौ मज्मूअे छपकर मंज़रे-आम पर आ चुके हैं— 1.मल्हार (देवनागरी में, 1975), 2. और शाम ढल गयी (उर्दू में, 1978), 3. ज़ेबे-सुख़न (उर्दू में, 1997), 4.आग़ोशे-गुल (उर्दू में, 1961), 5.कलस (उर्दू में, 1962), 6.तेरे ख़ुश्बू में बसे ख़त (देवनागरी और उर्दू में, 2003, 2008), 7.याद आऊँगा (उर्दू और देवनागरी में, 2006) वग़ैरह।

उनके मज्मूआ-ए-कलाम 'और शाम ढल गयी' को बिहार उर्दू एकेडमी द्वारा एवार्ड देकर उनकी अदबी ख़िद्मात को सराहा गया। इसके अलावा उनके मज्मूअे 'ज़ेबे-सुख़न' को पंजाब लैंग्वेज डिपार्टमेंट ने 1997 में बेस्ट उर्दू बुक का एवार्ड दिया। रहबर साहब पंजाब उर्दू अकादमी के सदस्य भी रहे हैं। मुशायरों की दुनिया में भी रहबर साहब का नाम किसी परिचय का मोहताज

नहीं हैं उन्होंने अपने दौर के तमामतर बड़े शोअरा के साथ मुशायरे पढ़े हैं और उनसे दाद-ओ-तह्सीन हासिल की है।

राजेन्द्रनाथ रहबर नाम के इस आशिक़े-उर्दू ने तख़्लीक़ात के ज़रिए ही उर्दू की ख़िद्मत नहीं की, बल्कि इस फ़न को ज़िन्दा रखने के लिए इसे अपने लगभग 100 शागिर्दों में बाँट दिया है। आपकी उस्तादाना सलाहियतों से जो शोअरा फ़ैज़याब हो चुके हैं उनमें चन्द मशूहूर नाम हैं— महावीर सिंह 'दुखी', पूरन 'एहसान', सुरेशचन्द 'शौक़', स्वतंत्र देव 'आरिफ़', मोहतरमा अनु जसरोटिया, नरेश 'निसार', कृष्ण गौतम, मोहतरमा कुसुम 'ख़ुश्बू', रविकान्त 'अनमोल', श्यामसुन्दर 'नन्दा', अशोक चित्रकार, चन्द्रहास 'चाँद' और विजया ठाकुर सलाथिया वग़ैरह-वग़ैरह। चण्डीगढ़ आर्कीटेक्चर कॉलेज के रिटायर्ड प्रधानाचार्य एस.एस. भट्टी 'तामीर' की लिखी किताब 'कंटम्परेरी उर्दू पोइट्री' में पंजाब के दस उर्दू शायरों के कलाम पर तहक़ीक़ी बहस की गयी थी, जिनमें एक नाम मोहतरम राजेन्द्रनाथ रहबर का भी है और उन पर लिखा मज़्मून ग्यारह पेज का है।

रहबर साहब का एक छोटा-सा ख़ुशहाल परिवार है। इनके परिवार में इनकी पत्नी श्रीमती कैलाश शर्मा हैं जो सरकारी टीचर के ओहदे से रिटायर होकर घरेलू ज़िन्दगी गुज़ार रही हैं। एक ही सुपुत्र दरपन पठानकोटी साहब हैं, जो साहिबाबाद (यू.पी.) की एक फैक्ट्री में इंजीनियर हैं और अपनी शरीके-हयात व दो बेटों आस्तिक, मंथन के साथ दिल्ली के निवासी बन चुके हैं। सुनने में 'दरपन पठानकोटी' नाम किसी कवि या शायर का नाम लगता है, लेकिन ऐसा नहीं है....रहबर साहब बातचीत में बताते हैं कि— मैंने ये सोच के ऐसा नाम रखा कि मान लो कविता या शायरी के क्षेत्र में रुचि हुई तो तख़ल्लुस हो जायेगा, नहीं तो एक नाम के तौर पर भी ठीक रहेगा। फ़िलहाल दरपन पठानकोटी साहित्य-क्षेत्र में बिल्कुल सक्रिय नहीं हैं और अपने माँ-बाप का बड़ा ख़याल रखते हैं।

अपनी बात ख़त्म करने से पहले रहबर साहब के चन्द अश्आर बानगी के तौर पर पेश करना ज़रूरी समझता हूँ, मुलाहिज़ा फ़र्मायें—

कहीं ज़मीं से तअल्लुक़ न ख़त्म हो जाये   बहुत न ख़ुद को हवा में उछालिये साहब

×× ×× ××

काश कुशादा-दिल भी रखता   जिस घर की दहलीज़ बड़ी थी

×× ×× ××

ये कैसी चारागरी है इलाज कैसा है   पिला के ज़ह्र कहे है मिज़ाज कैसा है

×× ×× ××

जिस बात को कहने से माज़ूर हैं लब तेरे   मैंने तेरी आँखों में वो बात भी पढ़ ली है

×× ×× ××

हाथ उट्ठे थे किसी और की ख़ातिर उनके   मैं ये समझा कि मेरे हक़ में दुआ माँगी है

×× ×× ××

कल रात निहत्था कोई देता था सदाएँ   हम घर से मगर ख़ौफ़ के मारे नहीं निकले

×× ×× ××

बेअख़्तियार आँखों से आँसू निकल पड़े   कल रात अपने आप से जिस वक़्त हम मिले

इन अश्आर के अलावा हज़ारों शेर ऐसे हैं जो रहबर साहब की शायराना अज़्मतों की चीख़-चीख़ कर गवाही देते हैं। आख़िर में इस दुआ के साथ मैं अपनी बात ख़त्म करता हूँ कि— ख़ुदाया उर्दू के इस अज़ीम ख़ादिम की उम्र दराज़ कर, ताकि वो अपने फ़न से उर्दू और आशिक़ाने-उर्दू की मज़ीद ख़िद्मत कर सके।

ख़ुर्शीद अकरम
एफ–19/14, जोगाबाई एक्सटेंशन,
नफ़ीस रोड, ओखला
नयी दिल्ली–25
मो.– 08010470440

ख़ुर्शीद अकरम उर्दू–अदब में मूलत: एक कहानीकार और नज़्मनिगार के रूप में जाने जाते हैं। इनके लेख, नज़्में और इनकी कहानियाँ हिन्दो–पाक की बहुत–सी पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। 'एक ग़ैरमश्रूत माफ़ीनामा'(कहानी–संग्रह), 'पिछली पीत के कारने'(नज़्म–संग्रह), 'जदीद हिन्दी शायरी'(हिन्दी–कविताओं का संकलन और उर्दू–अनुवाद), 'अन्दाज़े–नज़र मेरा'(साहित्य–आलोचना) इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इसके अलावा इन्होंने साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा पब्लिकेशन डिवीज़न के लिए कई किताबों का अँग्रेज़ी, हिन्दी और बाँग्ला से उर्दू में अनुवाद किया है। उर्दू–अदब की प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका 'आजकल' के सम्पादक भी रह चुके हैं। इस वक़्त ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली में असिस्टेण्ट डाइरेक्टर हैं।

यहाँ इरफ़ान सिद्दीक़ी के हवाले से जो मज़्मून पेश किया जा रहा है उसमें न केवल इरफ़ान सिद्दीक़ी, बल्कि पिछले चालीस बरस के चार विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण शायरों की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। इरफ़ान सिद्दीक़ी ग़ज़ल के विकास–क्रम का एक अहम मरहला हैं। इन्होंने परम्परा और आधुनिकता के दरमियान एक नया रास्ता निकाला। इस रास्ते से ग़ज़ल को नये सब्ज़ेक्ट भी मिले और वैचारिकता भी ख़त्म नहीं होने पायी। इरफ़ान सिद्दीक़ी के बहुत–से शेर मैंने सुन रखे थे, लेकिन जानता न था कि किसके हैं। ऐसा मेरे अकेले के ही साथ नहीं था, बहुत–से लोग ऐसे हैं। इससे किसी भी शायर की मक़्बूलियत का नहीं, बल्कि उसकी शायरी की मक़्बूलियत का अन्दाज़ा लगता है। ये लेख 'सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उ. प्र.' की पत्रिका 'नया दौर' के इरफ़ान सिद्दीक़ी विशेषांक से साभार लिया गया है तथा उसमें कुछ संशोधन भी किया गया है।

ख़ुर्शीद अकरम

इरफ़ान सिद्दीक़ी और हाफ़िज़े का खेल

इरफ़ान सिद्दीक़ी के इंतक़ाल की ख़बर जिस सुब्ह अख़बारों में छपी तो ये ऐसे दिन की बात है कि मैं दफ़्तर में था। अब्रार रहमानी का फोन आया कि क्यों न एक ताज़ियती(शोक-संवेदना) बयान जारी किया जाय कि हमारा एक तरहदार शायर अपने बेह्तरीन दिनों में इस जहाँ से गुज़र गया। उन्होंने ये भी कहा कि कुछ अश्आर जो हाफ़िज़े(स्मृति) में हों उन्हें भी एक काग़ज़ पर नोट कर लूँ। हम लोग कमज़ोर हाफ़िज़े के लोग हैं और हादसों की रफ़्तार तेज़ है, उस पर ख़बरों की भरमार, जो उससे भी तेज़तर है। ऐसे में मीर, ग़ालिब, इक़्बाल, फ़ैज़, अनीस, अकबर जैसे बड़े शायरों के सिवा किसी हमअस्र(समकालीन) शायर के कितने शेर हाफ़िज़े में रह सकते हैं। मैंने सामने से एक काग़ज़ उठाया और लिखने लगा। एक, दो, पाँच, दस जैसे-जैसे नोट करता जाता था वैसे-वैसे इरफ़ान सिद्दीक़ी के शेर हिरनों की तरह हाफ़िज़े के सब्ज़े पर कलीलें भरते नज़र आने लगे। फिर इस झुण्ड के सारे हिरनों को गिरफ़्तार करने के लिए किसी का ऊला(पहला मिस्रा) किसी का सानी मिस्रा(दूसरी पंक्ति) नोट करना शुरू किया। उस वक़्त इरफ़ान सिद्दीक़ी के शेर एक के बाद एक मुझ पर वारिद हो रहे थे और मैं बिला किसी मक़्सद शेर पर शेर नोट किये जा रहा था, यहाँ तक कि मैं तक़रीबन् थक-सा गया। तक़रीबन् सत्तर-अस्सी शेर मेरी ख़राब writing का पर्दा चाक करके मोतियों की तरह झिलमिला रहे थे।

ये वो इरफ़ान सिद्दीक़ी थे जिन्हें उस वक़्त मेरे हाफ़िज़ा ने दर्याफ़्त किया था और जिसके सामने अचानक इरफ़ान सिद्दीक़ी के इंतक़ाल का ग़म मांद-सा(मद्धिम-सा) हो गया था। मैं ठिठक गया। सोचने लगा कि इतने सारे शेर मैंने कब याद किये या मेरे हाफ़िज़े को अल्क़ा(किसी दैवी शक्ति द्वारा कोई कार्य आदि होना) हुआ है। मेरे दायें और बायें बहुत-से दोस्त हैं जो इरफ़ान साहब की बात करते हैं, मौक़ा-बेमौक़ा उनके शेर कभी कोई पढ़ता है कभी कोई सुनाता है। ये बेमौक़ा शेर पढ़ने-सुनानेवाली बात हम दोस्तों की बदमज़ाक़ी नहीं। ये अपने एक बहुत चिर-परिचित और समकालीन ग़ज़लिया शायरी की सबसे अलग, सबसे रौशन आवाज़ का पक्ष-पोषण और उसकी क़द्रशनासी का इज़्हार कहा जा सकता है। लेकिन क्या ये मुम्किन है कि बेतकल्लुफ़ गुफ़्तुगूओं में सुने-सुनाये गये सारे शेर याद हो गये। हम और भी शायरों के बारे में बात करते है, हमें औरों के भी शेर याद हैं। पुराने क्लासिकल शायरों को छोड़िए तरक़्क़ीपसन्दवालों को छोड़िए। नासिर काज़मी से फ़रहत एहसास तक दर्जनों ऐसे शायर हैं; मुहम्मद अल्वी, ज़फ़र इक़्बाल, जॉन एलिया, अहमद मुश्ताक़, शहरयार, निदा फ़ाज़ली, बशीर बद्र, बानी, जुबैर रिज़्वी, मज़्हर इमाम, मख़्मूर सईदी, हसन नईम, मुनीर नियाज़ी, आदिल मंसूरी, ज़ेब ग़ौरी, शहाब जाफ़री, निश्तर ख़ानकाही, राज

नारायण राज, कुमार पाशी, साक़ी फ़ारूक़ी, जिनके पाँच-सात अश्आर मुझे याद हो सकते हैं। जदीद ग़ज़ल फ़िक्रो-इज़्हार की एक ऐसी राह दर्याफ़्त करने में कामयाब रही कि दर्जनों निहायत उम्दा ग़ज़लकार सामने आये और हर एक के यहाँ पाँच-दस ऐसे शेर हैं जो उर्दू-ग़ज़ल की पूँजी में इज़ाफ़ा की हैसियत रखते हैं, लेकिन क्या किसी और शायर के इतने शेर मुझे याद हो सकते हैं। शायद मैं उस वक़्त इसका जवाब एक सादा इन्कार में देता। यद्यपि कि अब मेरा जवाब मुख़्तलिफ़ होगा। वक़्ती तौर का ठहराव जब हैरत का चोला उतार फेंकता है तब हमें हक़ीक़त के दीगर आयामों(dimensions) से परिचय होता है। आज मैं इस बात को सोच-समझ सकता हूँ कि जो मेरी और मेरे हमउम्र दोस्तों की सरगर्म ज़ेहनी, सरगर्मी-ओ-सरमग़्ज़ी का ज़माना है, वही इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल के उत्थान का ज़माना है। इरफ़ान सिद्दीक़ी को हमने इस तरह नहीं पढ़ा। यकमुश्त किताब-दर-किताब-ओ-मज़ामीन और उद्धरणों में जिस तरह जदीद और फिर नयी ग़ज़ल के दर्जनों उनसे ज़ियादा नामवर शायरों को पढ़ा। उधर एक दरिया था जिसमें हम डुबकी लगाते। सेराब होते और लौट आते। इरफ़ान सिद्दीक़ी शेर-दर-शेर, गज़ल-दर-ग़ज़ल बारिस की फुहारों की तरह हमारे हाफ़िज़े में उतरे और इस तरह जज़्ब हुए जैसे पत्थर में पानी जज़्ब होता है।

ये सवाल मगर फिर भी रह जाता है कि इतने सारे शेर कैसे याद रह गये। इसके दो जवाब मेरे ज़ेह्न में आते हैं। एक जवाब का तअल्लुक़ इसी शायरी की अर्थवत्ता, प्रभावशालिता, कलात्मक सौन्दर्य वग़ैरह से है; जिस पर गुफ़्तगू के लिए मुझे आलोचना के क्षेत्र में क़दम रखना पड़ेगा सो उस पर गुफ़्तगू बाद में। दूसरी वज्ह है 'अदबी समाजियात'। मेरी हक़ीर राय में किसी शायर या अदीब की मक़्बूलियत, मान-सम्मान का ख़ासा दारो-मदार उस अहद(युग) के अदबी(साहित्यिक), समाजियाती(सामाजिक) मंज़रनामे(परिदृश्य)पर होता है। आज अगर हम मंटो की बेपनाह मक़्बूलियत की बात करते हैं तो दरअस्ल ये हमारे पूर्ववर्तियों ने हमें और उनके पूर्ववर्तियों ने उन्हें साहित्यिक परम्परा के तौर पर सौंपी है, लेकिन मंटो को जो मक़्बूलियत अपनी ज़िन्दगी में हासिल हुई उसका खरा-खोट समझने और आँकने के लिए उस युग के साहित्यिक परिदृश्य पर असरअन्दाज़(प्रभावी) होनेवाले सामाजिक परिदृश्य को भी नज़र में रखना होगा। ये बात क़ुर्रतुल ऐन हैदर, फ़िराक़, जोश और उन तमाम लोगों के बारे में दुरुस्त होगी, जिन्हें हमारी आलोचना और सम्पूर्ण साहित्यिक स्मृति ने बुलन्द मक़ाम दिया है। इरफ़ान सिद्दीक़ी की मक़्बूलियत के बारे में भी मैं इसी पहलू से सोचना शुरू करता हूँ। वाक़िआ ये है कि 1990 के बाद अगले पन्द्रह बरसों का जो साहित्यिक परिदृश्य है उसमें बावजूद ये कि उनसे ज़ियादा मुमताज़, मोतबर, नामवर शायर मौजूद थे (जिनका ज़िक्र ऊपर भी आ चुका है), लेकिन शायद वो सब अपना बेह्तरीन सृजनात्मक ज़माना गुज़ारकर सुस्ता रहे थे। वो और उनके बाद के किसी और शायर की ग़ज़ल में ज़बान और बयान दोनों की चुस्ती, शुस्तगी, शिगुफ़्तगी, नये-नये जज़्बे, अदायगी, संवेदनाओं की सम्प्रेषणीयता, लहजे की शफ़्फ़ाफ़ियत, दर्राकी, ख़ल्लाकी, समसामयिक परिवेश से रचनात्मक जुड़ाव, पुराने लफ़्ज़ों को उस नुद्रत-ओ-अदा के साथ अपनी ग़ज़ल में पै-ब-पै समो देने की क़ुव्वत नज़र नहीं आ रही थी। ऐसा नहीं कि जिनका ज़िक्रे-ख़ैर ऊपर किया जा चुका है हमारे वो बेह्तरीन ग़ज़लकार महज़ क़ाफ़ियापैमाई कर रहे थे। ना! हुआ बस ये था कि उनकी ग़ज़लें हमवार सतह पर आ गयी थीं। उस आवाज़ से क़ारी के कान परिचित हो चुके थे या कहें कि अरुचि उत्पन्न हो रही थी। मुझे अगर अपनी बात के लिए प्रमाण या सुबूत की आवश्यकता हो तो मैं शहरयार, मुहम्मद अल्वी, अहमद मुश्ताक़, साक़ी फ़ारूक़ी, ज़फ़र इक़्बाल, हसन नईम, निदा फ़ाज़ली, मज़हर इमाम, जॉन एलिया, अहमद फ़राज़ और कई दीगर शायरों के दो-चार अच्छे शेर अभी-अभी सुना सकता हूँ, जो प्रबल सम्भावना है कि मेरे हाफ़िज़े में मौजूद होंगे और उस दौरान ही कहे होंगे जिस दौरानिये का इम्तियाज़ मेरे नज़्दीक इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल है। अलबत्ता ये लिखे बिना भी नहीं रहा

जाता कि उस दौरान निदा फ़ाज़ली की ग़ज़ल उनके समकालीनों के मुक़ाबले ज़ियादा पुख़्ता और तहदार रूप में सामने आयी। उनको ता देर ज़िन्दा रखने में मददगार बननेवाली एक बेह्तरीन ग़ज़ल का एक शेर क़ारयाना ख़िराज के तौर पर पेश कर रहा हूँ—

बाँट के अपना चेहरा-माथा-आँखें जाने कहाँ गयीं
फटे-पुराने एक अल्बम में चंचल लड़की जैसी माँ

जो उसी दौरान प्रकाशित हुई। ये और इस तरह की बहुत-सी मिसालें अपनी जगह, लेकिन सच्ची बात तो ये है कि जो बात इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल में पैदा हुई वो किसी और के यहाँ नहीं थी। वो आबो-ताब एक तवातुर और तसल्सुल के साथ किसी और की ग़ज़ल में नहीं थी और बस यही वज्ह रही होगी कि उनके अनगिनत अश्आर बग़ैर किसी कोशिश के हाफ़िज़े में अपनी जगह बनाने में कामयाब रहे। यद्यपि इस बात पर कोई ज़ियादा इतराने की भी ज़रूरत नहीं, न इससे किसी शायर की अज़्मत ही साबित होती है। यही हाफ़िज़ा अगर आनेवाले समय में हुस्नो-मानी से लबरेज़ शेरों को अपनी अँधेरी कोठरियों में धकेलकर बन्द कर दे तो फिर शायर की अज़्मत या उसकी विशिष्टता के सबूत में हम क्या पेश करेंगे। ये हाफ़िज़ा होता ही ऐसा है। ये जब बेरहमी पर आता है तो मह्बूब से सरगोशी में की गयी बातों तक के साथ ऐसी ही बेरहमी भरा सुलूक करता है और ऐसे वक़्त में आशिक़ गोया अपने ही लिखे लफ़्ज़ को न पढ़ पाने की बेनाम अज़ीयत से दो-चार होता है। ख़ैर, तो ज़ाहिर है कि अब सवाल ये उठता है कि इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी की अज़्मत या कम-अज़-कम इनकी विशिष्टता को निशानज़द करने के लिए कौन-सा पैमाना अख़्तियार किया जाय। आगे अपनी बिसात भर मैं कुछ इसी बात पर विचार व्यक्त करने की धृष्टता कर रहा हूँ।

इरफ़ान साहब के इंतक़ाल के बाद मैंने एक तास्सुराती मज़्मून लिखा था। उसमें मैंने उनकी शायरी पर अपनी राय ज़ाहिर करने में उपस्थित होनेवाली असमर्थता के बारे में लिखा था— ''कोई और वक़्त होता तो इरफ़ान साहब की शायरी के बारे में अपने विचारों का कुछ और इज़्हार करता, लेकिन ये इसका मौक़ा नहीं है कि उनके बिछड़ने का ग़म हमारे दिलों में ताज़ा है। यूँ भी एक शायर जो बहुत कम अरसे में इतनी मह्बूबियत पा चुका हो और जिसका रंग औरों से खुलता हुआ साफ़ नज़र आ रहा हो उसके शायराना मर्तबे का तअय्युन(निर्धारण) उसकी क़ब्र की मिट्टी सूखने के बाद ही मोतबर होगा।'' ('अन्दाज़े-नज़र मेरा', पृ. 33)

इरफ़ान सिद्दीक़ी के इंतक़ाल से पहले इनकी शायरी पर कोई ख़ास मज़्मून मेरी नज़र से नहीं गुज़रा, सिवाय 'सात समावात'(ग़ज़ल-संग्रह) पर उस तब्सिरे के जो शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी साहब ने लिखा था। उसके चन्द बरस बाद एक क़ाबिले-क़द्र मज़्मून नौजवान अदीब मुबीन अहमद सिद्दीक़ी ने लिखा जिसमें उन्होंने इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल की विशेषताओं-विशिष्टताओं पर उच्चकोटि की गुफ़्तगू की है। वो लिखते हैं— ''क़दीम ही सही मगर मह्बूबियत, जाँ-निसारी, इश्क़-अक़ीदत, वज्द, मस्ती, जुनून, वज़्अदारी, अदबो-आदाब, अनानियत, ख़ुद्दारी, फ़िक्रो-इस्तिग़्ना, दरवेशी और बादशाही और एक हद तक हिकमतो-अकसरियत जैसे मौज़ूआत(विषय) उनके चुनिन्दा और पसन्दीदा हैं। वो हुज़्न-ओ-यास, रंजो-मलाल, क़नूतियतो-इन्हिराफ़ और बददिली-ओ-ज़ह्रनाकी से ज़ियादा कैफ़ो-सरमस्ती, रजाइयतो-सरशारी और ज़िन्दादिली-ओ-बलन्दकिरदारी को तर्जीहो-फ़ौक़ियत देते हैं।'' वो आगे लिखते हैं— ''इरफ़ान की ये वज़्अे-ख़ास दरअस्ल ख़वास और ख़ास तौर से शरीफ़ इंसानों की ज़बान, अन्दाज़, मिज़ाज और वतीरा की नुमाइन्दगी भी है। यानी वो अपनी ख़ास ग़ज़लों के ज़रिअे एक शरीफ़ाना मिज़ाजो-तह्ज़ीब के मर्कज़-ओ-मनब्बो की बेह्तरीन और मेआरी नुमाइन्दगी भी करते हैं।'' (शायरे-शीरीं मक़ाल : इरफ़ान सिद्दीक़ी, आजकल, मार्च 1988)

एक और नौजवान अदीब मिर्ज़ा शफ़ीक़ हुसैन 'शफ़ीक़' ने इरफ़ान सिद्दीक़ी पर एक

किताब लिखी है जिसमें इनकी शायरी के विभिन्न पहलुओं पर अपेक्षाकृत विस्तार से गुफ़्तगू की गयी है। वारिस किरमानी ने जो बातें इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल के बारे में कही हैं उनके कुछ दृष्टिकोण पर गुफ़्तगू को मैं अपने सीमित अध्ययन की रौशनी में कुछ आगे बढ़ाना चाहूँगा कि शायद इससे इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी का एक और आयाम(dimension) रौशन होगा। ये इनकी अज़्मत का सबूत होगा कि नहीं, मैं इस बाब में कुछ कहने में ख़ुद को असमर्थ पाता हूँ।

वारिस किरमानी के ख़याल में— ''कम-अज़-कम पिछले एक हज़ार साल के उर्दू-फ़ार्सी शायरों में किसी से उनकी राह-रस्म नहीं मालूम होती।'' अपनी इस मान्यता तक पहुँचने के लिए उन्होंने जो बिन्दु उजागर किये है वो यूँ हैं—

1. उनकी ग़ज़ल पर सिक्काबन्द जदीदियत की कभी छींट भी नहीं पड़ी है। वो किसी और सरज़मीं के मुसाफ़िर मालूम होते हैं। उस सरज़मीन का हमें अन्दाज़ा नहीं है।

2. उनके लबो-लहजे की ताज़गी लफ़्ज़ों का इंतिख़ाब और इस्तिआरों और बन्दिशों की तराशवान शेरों में वो अर्थवत्ता पैदा करती है जिस पर आलमे-रूया(सुषुप्तावस्था या आत्म-विस्मृति की अवस्था, trance) की हालत में उनकी नज़र पड़ती है।

3. उनके शेरों की अनोखी विशेषता ये है कि उनके अल्फ़ाज़ के Side Effect भी बहुत तेज़ होते हैं और उनकी चमक-दमक दिमाग़ के गोशों में इधर-उधर रौशनी फेंकती है।

4. उनकी बातों में लज़्ज़त तो है, लेकिन वो हमेशा उनके दिल की बात नहीं होती, बल्कि कोई और बात होती है जिससे मुहब्बत के बजाय हैरत पैदा होती है।

मैं वारिस किरमानी जैसा व्यापक अध्ययनशील और उर्दू-फ़ार्सी ग़ज़ल की परम्परा और मर्म से इस दर्जा परिचित नहीं, इसलिए उनकी ऊपर व्यक्त राय पर गुफ़्तगू मेरे हद्दे-ख़याल से परे है। मैं आधुनिक ग़ज़ल और उत्तर आधुनिक ग़ज़ल, जिसके लिए 'नयी ग़ज़ल' की आसान परिभाषा इस्तेमाल की गयी है, उसके परिदृश्य में इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल को समझने की अदनी कोशिश करता हूँ। 1960 के बाद और 2000 के दरमियान के तक़्रीबन् चालीस बरसों में मुझे ऐसे चार शायर नज़र आये हैं जिनकी आवाज़ समकालीन ग़ज़ल में एक सिरे से बिल्कुल अलग है। जिनकी ग़ज़ल का रंग किसी-न-किसी विशिष्ट गुण के कारण साफ़ पहचाना जा सकता है वो हैं— बशीर बद्र, बानी, शुजा ख़ावर और इरफ़ान सिद्दीक़ी। शायरी का कमाल और चमत्कार ये है कि वो ख़ास लोगों से दाद पाये और उसकी स्वीकार्यता ये है कि ख़ास लोगों की सनद के साथ वो अवाम के दिल में जगह पाये। ग़ज़लकार और भी हैं और क्या अजब कि किसी और बेहतर मर्मज्ञ की नज़र में इनसे बेहतर हों, लेकिन मेरा ध्यान इस वक़्त फ़क़त आवाज़ों की विशिष्टता पर केन्द्रित है और पैमाना ऊपर लिखा गया वाक्य है।

1960 ई. के बाद जदीदियत(आधुनिकता) की जो लहर आयी उसने हमें कुछ उम्दा ग़ज़लकार दिये हैं। पूरे उपमहाद्वीप में ग़ज़लकारों का इतना बड़ा क़ाफ़िला सामने आया कि शायद ही इतना उपजाऊ कोई और ज़माना पहले गुज़रा होगा। जदीद(आधुनिक) ग़ज़ल के शायरों के पास ऐसे बहुत-से अश्आर हैं जो उर्दू-शायरी के ख़ज़ाने में इज़ाफ़ा हैं। मुझे नहीं मालूम कि—

चले तो पाँव के नीचे कुलच गयी कोई शय
नशे की झोंक में देखा नहीं कि दुनिया है

शहाब जाफ़री

और

घर की तामीर तसव्वुर में ही हो सकती है
अपने नक़्शे के मुताबिक़ ये ज़मीं कुछ कम है

शहरयार

जैसे अश्आर को किस ऊँचाई पर रखा जाय। फिर भी जदीद शायरी की ज़िन्दा-ओ-तवाना आवाज़ों

में जो ग़ज़लकार अपनी सन्नाइए-ज़बान(भाषा की बनावट) और अछूते-अनोखे ख़यालात की शेरी तज्सीम(मूर्त रूप देना या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति) के लिए सबसे ज़ियादा ध्यान आकर्षित करता है वो है— बशीर बद्र। वो अपने समकालीनों मे सबसे ज़ियादा तर्रार, सबसे appealing शायर थे। जितनी ख़ुद एतमादी, तज्रबे करने की जितनी क़ुव्वत और उस तज्रबे को ख़ास-ओ-आम में मक़्बूलियत दिलवाने की जैसी विशेषता बशीर बद्र की ग़ज़ल में थी वैसी किसी और के यहाँ नहीं थी। उनके बहुत-से प्रचलित शेरों में एक शेर— *घर से बाहर नीली मछलियाँ, सुर्ख़ फ़ाख़्ताएँ, सुनहरी गिलहरियाँ अच्छी लगती हैं, लेकिन घर पर हर मर्द यही चाहता है कि उसकी बीवी एक औरत हो।* उस ग़ज़ल का हिस्सा है जो उन्होंने नस्री ग़ज़ल के तज्रबे में कही थी।

बशीर बद्र नस्री ग़ज़ल कह सकते थे। शेर को नज़्म बना देते थे। बशीर बद्र की ग़ज़ल ने अपने लिए ऐसा सौन्दर्यबोध निर्धारित किया जो ख़ास-ओ-आम दोनों के लिए रुचिकर था। 'इकाई' से जो सफ़र बशीर बद्र ने शुरू किया था वो तक़्रीबन डेढ़ दशक का सफ़र तय करता हुआ 'इमेज' पर आकर ख़त्म होता है। इसके बाद वो मुशायरे की तरफ़ मुड़ जाते हैं। यहाँ से बशीर बद्र का पुतला 'शायर बशीर बद्र' को अपने ख़ोल में समोकर चलता है और शायर का दम घुटकर रह जाता है, मगर मुझे ये कहने में कोई संकोच नहीं कि जदीद शायरों के क़ाफ़िले में बशीर बद्र की आवाज़ की महबूबियत-ओ-मक़्बूलियत औरों से ज़ियादा थी। क्या मेरी इस बात से ये गुमान गुज़रता है कि मैं बशीर बद्र को उनके समकालीन शायरों में सबसे अच्छा क़रार दे रहा हूँ। अगर ऐसा है तो मुझे अपनी मान्यता या स्थापना को कुछ और विस्तार से पेश करने की इजाज़त दी जाय। अदब की दुनिया में 'सबसे अच्छा' की बात तय करना तक़्रीबन् नामुम्किन है। जब मैं सबसे विशिष्ट, स्वीकार्य और व्यापक आवाज़ की बात करता हूँ तो इसका आशय ये है कि उस शायर के यहाँ वो उच्चता और श्रेष्ठता, जो शायर को फ़िक्रो-ख़याल के अन्य Genre(शैली) से मुमताज़ और विशिष्ट बनाती हैं, उनकी तादाद अधिक होनी चाहिए। ग़ज़ल में इक्का-दुक्का, बल्कि आला शेर तक़्रीबन् औसत दर्जे के बहुत-से शायरों के यहाँ भी निकल आता है; ये ग़ज़ल के अन्दर छुपा एक ग़ैर-मामूली गुण है। ग़ज़ल की रसूमियात(परम्परागत विचार) तो ढेरो-ढेर अच्छा-बुरा शायर पैदा करने का सबब बनती हैं; वो बस यहाँ अपना जवाज़(औचित्य या वैधानिकता) क़ायम करती हैं, जबकि किसी शायर ने एक भी अच्छा शेर, यहाँ तक कि एक अच्छा मिस्रा ही कह दिया हो, मस्लन्— *'लम्हों ने ख़ता की थी सदियों ने सज़ा पायी'* जैसे कहावत की तरह मशहूर हो जानेवाला मिस्रा हमारे ही युग के किसी गुमनाम शायर ने कह रखा है ये हममें से कितने लोगों को मालूम है, लेकिन ये एक मिस्रा इस शायर को ज़िन्दा रखने के लिए काफ़ी है। दूसरी ख़ूबी उस विशिष्ट आवाज़ की ये हो कि उस शायरी के एक बड़े यानी उसके रौशनतरीन हिस्से में एक कलात्मक या वैचारिक क्रमबद्धता आन्तरिक या वाह्य रूप से मालूम हो और वो स्तरीय शायराना मर्तबे तक पहुँचाने की क़ुव्वत रखती हो और तीसरी बात कि न सिर्फ़ ये कि वो शायर अपनी आवाज़ से पहचान लिया जाय, बल्कि बहुत-से लोगों पर उस आवाज़ का असर पड़ता हुआ नज़र आये।

जदीद ग़ज़लकारों के क़ाफ़िले की दूसरी सबसे रौशन आवाज़ 'बानी' की है। ये आवाज़ उर्दू-ग़ज़ल की रवायत से बिल्कुल अलग है। बानी की फ़िक्र अमूर्त (Abstract) थी। इनकी लफ़्ज़ियात(शब्दावली) कुछ तो जदीद नज़्म से ग्रहण की गयी थी, कुछ इनकी अपनी मौलिक ईजाद थी। जदीद शायरों के क़ाफ़िले में बानी अकेले शायर थे जिनके अहद में जदीदियत की फ़ल्सफ़ियाना विशेषताएँ रौशन थीं और जिसके अल्फ़ाज़ की ख़ातिर उन्होंने उर्दू-ग़ज़ल की परम्परा से कम-कम फ़ायदा उठाया। अनछुई लफ़्ज़ियात और तर्कीबों को उन्होंने निहायत ख़ूबी से बरता। इनके यहाँ लफ़्ज़ों का वो आबो-ताब नहीं था जो इनके दूसरे समकालीनों के यहाँ था। शोख़ी नहीं थी, ज़राफ़त(हास्य-व्यंग्य) नहीं थी फिर भी इनकी आवाज़ में हलावत(माधुर्य) थी जिसमें थोड़ा-सा हिस्सा उन बह्रों

का भी था जो वो अपनी ग़ज़ल के लिए चुनते थे। यूँ कहिए कि इनकी वैचारिक पुख़्तगी या परिपक्वता और तब्अ की मौज़ूनियत मे बड़ी हमआहंगी थी। नयी-नयी ज़मीनें निकालना, लफ़्ज़ों के बर्ताव में इस इज्माल(सूत्रात्मकता) से काम लेना कि जो तर्कीबें वो बनायें और जहाँ उन्हें खपायें वहाँ वो दमक उठें। वहीं कोई दूसरा तर्कीब बनाना चाहे तो दाँतों तले पसीना आ जाये।

पैहम मौजे-इम्कानी में
अगला पाँव नये पानी में

×× ×× ××

अबके मिलना तो मेरे सीने में
मौज रख देना भँवर रख देना

×× ×× ××

वो मेरी ज़िन्दादिली का जाने क्या माँगे हिसाब
जाता मौसम है कोई पत्ता हरा लेता चलूँ

×× ×× ××

दिन को दफ़्तर में अकेला, शब भरे घर में अकेला
मैं कि अक्से-मुन्तशिर एक-एक मंज़र में अकेला

×× ×× ××

आज रक्खा है लम्हा तेरे हाथ पर, लम्से-अव्वल की साअत को मह्फ़ूज़ कर
फिर न कहना फ़लक ख़ुश-तआवुन न था, फिर न कहना ज़मीं ख़ूबसूरत न थी

बानी की अन्तश्चेतना में ग़ज़ल थी, ग़ज़ल की रस्में नहीं। बानी ने अपनी ग़ज़ल के लिए जो लफ़्ज़ियात(शब्दावली) मुंतख़ब(चयनित) की वो किसी बाह्य लयात्मकता से युक्त न थी। लफ़्ज़ ख़ुद अपने अन्दर कोई झंकार न रखते थे। उनके लफ़्ज़ों में आँखों को चकाचौंध कर देनेवाली नहीं, बल्कि आँखों में खुब जानेवाली मद्धम-सी चमक थी। इसके बावजूद उनकी ग़ज़ल में एक ऐसी कशिश थी जिसने बहुतों को दीवाना बना रखा था। बानी के एक जूनियर समकालीन अब्दुल्लाह कमाल ने उन्हें जदीद ग़ज़ल का ख़ुदा कहकर उनकी तारीफ़ की है। ख़ुद इरफ़ान सिद्दीक़ी ने एक इण्टरव्यू में कहा था— ''बानी की एक ज़माने में बहुत प्रसिद्धि थी और एक ख़ास ढंग की अमूर्त्त और वैचारिक ग़ज़ल उन्होंने लिखी और आहंग के एतबार से उन्होंने एक ख़ूबसूरत ज़बान लिखी।''

बानी और बशीर बद्र दोनों ग़ैर-मामूली शोहरत और शिनाख़्त पाकर तक़रीबन एक ही वक़्त में डूबे। बशीर बद्र मुशायरे के पापुलर कल्चर पर निछावर हो गये और बानी किसी लाइलाज मरज़ से ग्रस्त होकर 1985 ई. में गुज़र गये। 'हिसाबे-रंग' से 'शफ़क़ शजर'(दोनों ही बानी के ग़ज़ल-संग्रह हैं) तक तक़रीबन् पन्द्रह बरस का अरसा बानी की ग़ैरमामूली विशिष्ट आवाज़ का चरम-बिन्दु है। यहाँ पर एक विवादित सवाल ये खड़ा किया जा सकता है कि अगर बानी की आवाज़ वाक़ई इतनी रौशन और तवाना थी तो उन्हें भुला क्यूँ दिया गया। ये एक क़तई मुख़्तलिफ़ बहस है जिसे मैं अदबी समाजियात के विचारकों के लिए छोड़ता हूँ। अलबत्ता मुझे मुख़्तसर सिर्फ़ ये कहना है कि हम एक साहित्य-विमुख युग की तरफ़ तेज़ी से बढ़ रहे हैं। आज का साहित्यिक समाज छोटे-छोटे ज़ेहनी ख़ानों में बँटा हुआ है। यद्यपि कि भौगोलिक तौर पर ये समाज बहुत फैल गया है। जिन लोगों ने बानी की शायरी पढ़ी है वो जान और समझ सकते हैं कि इनकी आवाज़ में कैसा जादू है, क्या क़ुव्वत है और कैसी तासीर है।

शुजा ख़ावर का ताल्लुक़ बानी और बशीर बद्र के बरअक्स, आधुनिकता-विमुख या आधुनिकता-विमुख रुज्हान से था। वो जदीद शायरों की पहली नस्ल, जिसके अधिकतर शोअरा

का ज़िक्र ख़ैर ऊपर आ चुका है, के बाद से तअल्लुक़ रखते हैं। ज़बानी ऐतबार से वो अब्दुल्लाह कमाल, इश्रत ज़फ़र, सुल्तान अख़्तर और ख़ुद इरफ़ान सिद्दीक़ी के हमउम्र और हमअस्र हैं। फिर भी शुजा ख़ावर की ग़ज़ल जदीद ग़ज़ल से यकसर (एक सिरे से) मुख़्तलिफ़(भिन्न) थी। मस्त-अलस्त क़लन्दरों की काटदार ज़बान को अपनी ग़ज़ल का हिस्सा बनाकर शुजा ख़ावर ने अपने अहद (युग) के ज़मीर से मुख़ातिबा (सम्बोधन, वार्तालाप) किया। इन्होंने एक ऐसे लहजे और आवाज़ की दर्याफ़्त की जो साफ़ पहचानी जाती थी—

हो गया इस बात पर सब मुंसिफ़ों में इत्तेफ़ाक़
मैं लगा पत्थर को पहले और फिर पत्थर मुझे

×× ×× ××

दूसरी बातों में हमको हो गया घाटा बहुत
वर्ना फ़िक्रे-शेर को दो वक़्त का आटा बहुत

×× ×× ××

हम सूफ़ियों का दोनों तरफ़ से ज़ियाँ हुआ
इर्फ़ाने-ज़ात भी न हुआ रात भी गयी

×× ×× ××

मेरे ख़िलाफ़ क्या है ख़ुदा के ख़िलाफ़ हैं
जो भी है मेरी तब्अए-ख़ुदादाद के ख़िलाफ़

अजीबो-ग़रीब रदीफ़-क़ाफ़िये, कहावतें-मुहाविरे इस क़ुव्वत-ओ-फ़साहत के साथ सामने आते हैं कि शुजा ख़ावर का शेर अपने-आप याद हो जाता है। 'वावैन' इनका पहला मज्मूआ है जिसमें वो अपनी विशिष्ट आवाज़ को पाते हुए महसूस होते हैं। 1980 से 1995 के दौरान इनके दो और मज्मूए 'मिस्रा-ए-सानी' और 'रश्के-फ़ार्सी' सामने आये और फिर वो अपनी आकस्मिक बीमारी के बाद पर्दा-ए-ख़फ़ा में चले गये। शुजा ख़ावर 1980 के बाद सबसे विशिष्ट और बिल्कुल अलग पहचान रखनेवाले ग़ज़लकार हैं। इनके हमउम्र और इनके हमअस्र तमाम ग़ज़लकार पर जदीद ग़ज़ल का गहरा साया है। (ये अपने आप में कोई ऐबवाली बात नहीं है। अपने पूर्ववर्तियों के विशिष्ट गुणों, उनकी विशेषताओं और परम्परा को सँभालना और उसमें इज़ाफ़ा करना ख़ुद एक उम्दा काम है।) शुजा ख़ावर की ग़ज़ल जदीदियत और माबाद (आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता) की ग़ज़ल के दरमियान सीमा-विभाजन का काम कर सकती थी, लेकिन इनकी ग़ज़ल जिन फ़िक्री-ओ-फ़न्नी बुनियादों पर स्थापित हुई वो कुछ इतनी अलग थी कि उसमें कोई इज़ाफ़ा करने की कोशिश कोरी नक़ल नज़र आती। यही वज्ह है कि किसी क़ाबिले-ज़िक्र शायर ने शुजा की ग़ज़ल का लहजा अपनाने की कोशिश नहीं की। इनकी शायरी की और कोई ख़ासियत हो न हो कम-से-कम ये तो है कि 1980 से 1990 के बीच अवाम-ओ-ख़वास के दरमियान जैसा शोह्रा(प्रसिद्धि) शुजा ख़ावर का था किसी और नहीं और इनकी-सी ख़ास ग़ज़ल किसी और ने नहीं कही। कम-से-कम इस पहलू से वो संजीदा समीक्षा और आलोचना के हक़दार हैं और इस काम में अब और देर नहीं होनी चाहिए।

इरफ़ान सिद्दीक़ी यद्यपि शुजा ख़ावर के हमअस्र(समकालीन) थे और दोनों की शायरी का इब्तिदाई ज़माना भी तक़रीबन् एक है। इरफ़ान सिद्दीक़ी का पहला मज्मूआ 'कैनवस'(सन् 1978 ई.) में प्रकाशित होता है और इन्हीं दिनों शुजा ख़ावर का 'वावैन' मंज़रे-आम पर आया, मगर फ़र्क़ ये है कि शुजा ख़ावर ने अपनी आवाज़ जल्द पा ली। 'कैनवस' तक इरफ़ान सिद्दीक़ी को एक सीमित और विशिष्ट वर्ग ही जानता था। 'शबे-दरमियान' (सन् 1984 ई.) तक भी वो ऐसे क़ाबिले-ज़िक्र शायर नहीं समझे गये। इरफ़ान साहब की ग़ज़ल का चेह्रा इसके बाद ही निखरना

शुरू हुआ। यद्यपि ‘कैनवस’, ख़ास तौर से ‘शबे-दरमियान’ में वो ग़ज़ल अपनी छवि दिखाने लगी थी जो बाद को इनका शिनाख़्तनामा बनी। यहाँ इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल के ज़िक्र में कुछ बात इफ़्तिख़ार आरिफ़ पर भी होनी चाहिए। उनका मज्मूआ ‘मेह्रे दोनीम’ 1983 में प्रकाशित हुआ। ‘मेह्रे दोनीम’ की ग़ज़लों के बुनियादी हवाले से गोपीचन्द नारंग साहब ने एक विस्तृत लेख ‘सानिहा-ए-कर्बला बतौर शेरी इस्तआरा’ लिखा जिसमें उन्होंने ये दिलचस्प नुक्ता(मर्म, पक्ष) उजागर किया कि कर्बला-कथा को ग़ज़ल में बरतकर इफ़्तिख़ार आरिफ़ और दीगर शायरों ने ग़ज़ल को एक नयी दिशा, नये आयाम से आशना किया है। तब तक इस विषय और सन्दर्भ में इरफ़ान सिद्दीक़ी को वो क़ुबूलियत नहीं हासिल हुई थी; हालाँकि इरफ़ान सिद्दीक़ी के कुछ अश्आर—

कोई शै तश्त में हम सर से कम क़ीमत नहीं रखते
सो अकसर हमसे नज़राना तलब होता ही रहता है

×× ×× ××

यही कटे हुए बाज़ू अलम किये जायें
यही फटा हुआ सीना सिपर किया जाये

×× ×× ××

उधर तीर चलने को है बेक़रार
इधर सारे मश्कीज़े भरने को थे

वग़ैरह-वग़ैरह। इफ़्तिख़ार आरिफ़ के अश्आर—

सिपाहे-शाम के नेज़े पे आफ़ताब का सर
किस एहतमाम से परवरदिगारे-शब निकला

×× ×× ××

वही दश्त है वही प्यास है वही घराना है
मश्कीज़े से तीर का रिश्ता बहुत पुराना है

वग़ैरह-वग़ैरह, में न सिर्फ़ ये कि अर्थगत समानताएँ हैं, बल्कि व्यक्त करने के कलात्मक तौर-तरीक़ों में भी लगभग एकरूपता थी। फिर भी इफ़्तिख़ार आरिफ़ की ग़ज़ल इतनी शफ़्फ़ाफ़ और पुरकैफ़ थी कि फ़ौरन ज़ेह्नों पर नक़्श हो गयी। अफ़्सोस कि थकी-हारी प्रतिपक्षी आलोचना ने उनकी शायरी पर ये कहकर पानी फेरने की कोशिश की कि इनके पास इसके सिवा कुछ नहीं है; हालाँकि इफ़्तिख़ार आरिफ़ की ग़ज़ल में मौजूदा दौर की अवसरवादिता, मक्कारियों और सियासी ज़ुल्म-ओ-जब्र के मुँह बोलते अश्आर मौजूद थे—

अबके मैंने किताबे-मसावात एक-एक वरक़ पढ़ के देखी
मत्न में जाने क्या कुछ लिखा है मगर हाशिया मुख़्तलिफ़ है

×× ×× ××

तमाम शह्र मुकर्रम बस एक मुल्ज़िम मैं
सो मेरे बाद मेरा ख़ूँबहा न माँगे कोई

×× ×× ××

क़फ़स में आबो-दाना की फ़िरावानी बहुत है
असीरों को ख़याले-बालो-पर शायद न आये

×× ×× ××

यहाँ तक आयी है बिफरे हुए लहू की सदा
हमारे शह्र में क्या कुछ नहीं हुआ होगा

×× ×× ××

सिर्रे-हिजाब खुला मुझ पर उरियानी से
कैसी आग बुझी है कैसे पानी से

मुझे ये कहने में कोई संकोच नहीं कि इफ़्तिख़ार आरिफ़ की ग़ज़ल नयी ग़ज़ल की एक निहायत रौशन मिसाल है। फ़िक्रो-इज़्हार की शायराना विशेषताओं की बात की जाय तो मैं 'मेह्रे दोनीम' की ग़ज़ल को शुजा ख़ावर की ग़ज़ल से ज़ियादा बेह्तर मानता हूँ। तो फिर क्या सबब कि मैंने इफ़्तिख़ार आरिफ़ पर शुजा ख़ावर की आवाज़ को तर्जीह दी। तो गोया ये एक और मौक़ा है अपनी इस बात को स्पष्ट करने का जिसको बुनियाद बनाकर मैंने इन्फ़िरादी आवाज़(विशिष्ट स्वर) की अवधारणा क़ायम की है। दरअस्ल शायर पहले मश्क़ो-मुज़ावलत(अभ्यास, लगातार साधना) से गुज़रकर अपनी आवाज़ पाता है। फिर उस आवाज़ को मैच्योर यानी पक्का-पुख़्ता करता है। ये तभी मुम्किन है जब सृजनात्मक शक्ति एक झटके के साथ फूट पड़े और असर कुछ देर तक क़ायम रह सके ताकि शायर का पहली ही मंज़िल पर ठहराव न हो जाय जैसा कि इफ़्तिख़ार आरिफ़ के साथ हुआ। जब तक कि शायर अपनी आवाज़ के बहाव को मुख़्तलिफ़ आयामों(dimensions) में आज़्मा न ले उसकी आवाज़ मैच्योर नहीं होती। इफ़्तिख़ार आरिफ़ और इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी में प्रारम्भिक कुछ समरूपताएँ हैं और जिनमें इफ़्तिख़ार आरिफ़ का क़द साफ़ निकलता दिखता है, लेकिन इरफ़ान सिद्दीक़ी ने फ़न की रियाज़त (अभ्यास या साधना) में रातें काली की। इफ़्तिख़ार आरिफ़ ने आवाज़ तो जुदा पायी, लेकिन सब दुनियाएँ खँगालने से पहले ही मुत्मइन हो गये।

इरफ़ान सिद्दीक़ी की आवाज़ की विशिष्टता किस कार्य-प्रकार्य में निहित है इसकी मुकम्मल छान-फटक के लिए एक दफ़्तर चाहिए। सामने की मोटी-मोटी बातें वही हैं जिन्हें वारिस किरमानी और मुबीन सिद्दीक़ी ने सलीक़े से बयान कर दिया है। मैं इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल की मक़्बूलियत-ओ-मह्बूबियत में एक और तत्त्व की कारफ़र्माई (सक्रियता) देखता हूँ और वो है बात के बज़ाहिर ख़त्म हो जाने के बाद भी उसको आगे बढ़ाकर शेर को मुकम्मल करने की कलात्मक क्षमता। ग़ज़ल के शेर में दो मिस्रों में बात मुकम्मल होती है जिसकी एक सूरत ये भी होती है कि एक लम्बा वाक्य दो बराबर मिस्रों में बाँट दिया जाता है। इरफ़ान सिद्दीक़ी अक्सर दो मिस्रों के दरमियान एक ड्रामाई तत्त्व पैदा करने में कामयाब रहते हैं और इसलिए इनके यहाँ एक विस्मय की स्थिति पैदा हो जाती है—

फ़ैसला कर कमोबेशे-तहे-दरिया की न सोच
मस्अला डूबने का है उभर आने का नहीं

×× ×× ××

ये जो एक वहम मुझे दश्त की तस्ख़ीर का है
सब करिश्मा ये मेरी वुस्अते-ज़ंजीर का है

×× ×× ××

रात इक ख़्वाब ने ताज़ा किये मंज़र अपने
नींद आँखों से उड़ी खोल के शहपर अपने

×× ×× ××

तो फिर इक बार ये चाके-गिरेबाँ सबको दिखला दें
बहुत बदनाम अपनी ख़ुश-लिबासी होती जाती है

×× ×× ××

तुमसे कम और किसी शख़्स पे राज़ी नहीं दिल
हम समझते थे कि दीवाने की हुशयारी क्या

×× ×× ××

हमने देखा ही था दुनिया को अभी इसके बग़ैर
लीजिए बीच में फिर दीदए-तर आ गये हैं

शायद कुछ और लोगों की दृष्टि में इरफ़ान सिद्दीक़ी की ग़ज़ल की इन्फ़िरादियत और महबूबियत के कुछ और कारण हों। मेरी दृष्टि में बुनियादी नुक़्तए-ख़याल ये है कि 1990 के बाद के दस बारह बरसों में किसी और शायर की ग़ज़ल इस दर्जा बलन्द-ओ-मक़्बूल नहीं हुई जितनी इरफ़ान सिद्दीक़ी की और इसमें शायद किसी को आपत्ति नहीं होगी।

मुझे नहीं मालूम कि इस फ़ेहरिस्त में कब और किस शायर का इज़ाफ़ा होगा; फ़िलहाल तो स्थायित्व इन्हीं नामों को हासिल है। अपनी बात ख़त्म करने से पहले ये स्पष्ट करना चाहूँगा कि इन चार शायरों की इन्फ़िरादी आवाज़ की निशानदेही का मतलब किसी और शायर को नकारना नहीं है और न मैं कोई और संजीदा-ओ-मोतबर शायर महज़ इस कारण इनके सामने कमतर क़रार पाता है। मैंने सिर्फ़ उस ख़ासियत की बात की है जो दूसरों के हिस्से में कम आयी और इन शायरों के यहाँ अधिक मात्रा में, जिसने इनकी ग़ज़ल को असरी मंज़रनामे(समकालीन परिदृश्य) में ज़ियादा महबूबियत अता की। अब रह गया ये सवाल कि क्या महज़ इस ख़ासियत के आधार पर इरफ़ान सिद्दीक़ी सहित इन शायरों को स्थायित्व हासिल होगा या ये दूसरे शायरों के मुक़ाबले में ज़ियादा अरसा-ए-हयात पायेंगे, तो इस सन्दर्भ में अपनी सीमित समझ और अध्ययन के कारण मैं ख़ुद कोई राय क़ायम करने में असमर्थ हूँ। बशीर बद्र और बानी पर पचीस-तीस बरस का अर्सा गुज़र चुका है, शुजा ख़ावर और इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी पर इससे कम और इरफ़ान सिद्दीक़ी के बारे में वारिस किरमानी की बात नक़्ल करके हुज्जत तमाम करता हूँ— ''इरफ़ान सिद्दीक़ी में शायरी-ओ-शनावरी के वो तत्त्व मौजूद हैं जो अदब की आने-जानेवाली तहरीकों(आन्दोलनों) में इन्हें बालातर रखेंगे और एक बड़े अरसे तक बासी न होने देंगे।''

(मूल उर्दू से अनुवाद : दीपक रूहानी)

लेखकों से निवेदन

'ग़ज़लकार' मात्र ग़ज़लों पर आधारित एक छमाही पत्रिका है, यही वज्ह है कि इसमें सिर्फ़ ग़ज़लों को ही स्थान दिया जा रहा है नज़्मों आदि को नहीं। ऐसा किसी विशेष आग्रह या दुराग्रह के कारण नहीं है, बल्कि ग़ज़ल के साथ पूरी सुपुर्दगी के कारण है। आप हमारी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अगर किसी भी प्रकार की सामग्री भेजेंगे तो ये आपका विशेष सहयोग होगा—

i) यदि किसी ऐसे शायर पर कोई सामग्री प्राप्त होती है जो नज़्म और ग़ज़ल दोनों में पहुँच रखता हो तो हमारी प्राथमिकता उसके ग़ज़लवाले पहलू पर ही अधिक होगी।

ii) शायरों पर किसी भी प्रकार की सामग्री स्वीकार की जायेगी, मस्लन्— इण्टरव्यू, जीवनी, आलोचना, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तान्त, संस्मरण, डायरी-लेखन आदि। मौलिक, लिप्यन्तरित, अनूदित(अनुवादित)— किसी भी प्रकार की सामग्री स्वीकार की जायेगी। मौलिक होने की स्थिति में मौलिकता का प्रमाण-पत्र साथ भेजें (यदि रचना पूर्व में प्रकाशित हुई है तो उसका सम्पूर्ण विवरण छायाप्रति के साथ संलग्न करें।)। यदि सामग्री लिप्यन्तरित-अनुवादित है तो मूल की छायाप्रति साथ ज़रूर भेजें।

iii) कोई भी सामग्री आप हिन्दी(देवनागरी लिपि) या उर्दू(फ़ार्सी लिपि) में भेज सकते हैं, इतना ख़याल अवश्य रहे कि लिखावट बहुत घसीट न हो, उर्दू में तो ख़ास तौर से। किसी भी प्रकार की सामग्री में उल्लिखित उद्धरण, पुस्तक-अंश, कथन आदि का यथासम्भव सन्दर्भ अवश्य दें।

iv) हम नामी-गिरामी शायरों के साथ-साथ उन शायरों को भी विशेष महत्त्व देते हैं जो अपेक्षाकृत कम चर्चा में रहे हैं, इसलिए आप अपने क्षेत्र या अपनी जानकारी के किसी भी नये-पुराने या कम चर्चित शायर पर भी सामग्री भेज सकते हैं।

v) ग़ज़ल के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इससे किसी भी रूप में जुड़े व्यक्तित्वों अथवा विषय-वस्तु को स्थान दिया जायेगा, जैसे— ग़ज़ल-गायक का मूल्यांकन(क़व्वाली, गायकी की एक विशेष विधा है न कि कोई अलग से सिन्फ़े-सुख़न। क़व्वाली में भी गज़ल का ही गायन होता है, इसलिए क़व्वाली-गायकों पर भी सामग्री स्वीकार की जायेगी।), ग़ज़ल पर आधारित किसी फ़िल्म या धारावाहिक की समीक्षा, ग़ज़ल पर आधारित किसी समारोह या कार्यक्रम की रिपोर्टिंग आदि।

vi) यदि ग़ज़ल पर आधारित किसी किताब (ग़ज़ल-संग्रह, आलोचना, शोध, सम्पादित-अनूदित संग्रह आदि) की समीक्षा भेजें तो उसकी एक प्रति साथ में अवश्य भेजें। यदि आप चाहते हैं कि 'ग़ज़लकार' की तरफ़ से किसी पुस्तक का मूल्यांकन-समीक्षण किया जाय तो सम्बन्धित किताब की दो प्रति भेजें।

vii) प्रत्येक अंक में मात्र दो शायरों की ही ग़ज़लें प्रकाशित होंगी— एक माज़ी के दरीचे से और एक अहदे-हाज़िर से। शायरों का इंतख़ाब विशेष परामर्श-मण्डल द्वारा किया जाता है।

viii) रचनाकारों को किसी प्रकार का पारिश्रमिक देने की स्थिति अभी नहीं है। प्रकाशित होने पर लेखकीय प्रति अवश्य भेजी जायेगी। समस्त प्रकार की सामग्री सम्पादकीय पते पर डाक से अथवा ई-मेल से भी भेज सकते हैं।

डॉ. अबू सहीम ख़ान
उर्दू-विभाग,
डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर-470003 (म. प्र.)
मो.- 07354966719

जे. एन. यू. दिल्ली से एम. ए., एम. फिल., पीएच. डी. की शिक्षा प्राप्त कर कई वर्षों दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन के बाद इन दिनों डॉ. अबू सहीम ख़ान सागर विश्वविद्यालय म. प्र. के उर्दू-विभाग में असिटेण्ट प्रोफेसर हैं। इनका शोधकार्य काफ़ी दिलचस्प है। फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' की शायरी के अँग्रेज़ी अनुवाद कई लोगों ने किये हैं, जैसे फ़ैज़ साहब के दो दोस्त वी.जी. किरनन (ब्रिटेन) और शिवकुमार (हैदराबाद) के अतिरिक्त के. सी. कण्डा, बेदारबख़्त तथा शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी आदि। डॉ. ख़ान ने इन्हीं अँग्रेज़ी अनुवादों की तुलना मूल उर्दू से करते हुए शोध-कार्य किया है। इसके अलावा इनसे कई किताबें एन.सी.ई.आर.टी. तथा सी.बी.एस.ई. ने अपने पाठयक्रम हेतु लिखवायी हैं।

अख़्तर अंसारी जदीदियत के दौर की शायरी के एक अहम रुक्न रहे हैं। शायरी तथा उसके अलावा उन्होंने अदब की दीगर अस्नाफ़ में जो कुछ तख़्लीक़ किया है वो क़ाबिले-ज़िक्र है। इनकी ग़ज़लों में एक ख़ास तरह का रंग है, जो रवायती भी है और जदीद भी है। दरअस्ल अख़्तर अंसारी साहब ख़ुद को क्लासिकल शायर कहते थे और यही कारण है कि वो साहित्य के किसी एक वाद(ism) से बँधकर नहीं रहे, लेकिन उनकी शायरी में जो अनासिर हैं, जो मसाएल मिलते हैं वो मौजूदा दौर के हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इनकी शैली तो क्लासिकल है, मगर विषयवस्तु आधुनिक है।

डॉ. अबू सहीम ख़ान

शररबार आहों का नक़्शगर : अख़्तर अंसारी

अख़्तर अंसारी (1909-1988) की शख़्सियत, अमूमी नफ़्सियाती कैफ़ीयत और ज़ेह्नी रवैये को घर और स्कूली निज़ाम में मौजूद जब्रो-जस के रद्दे-अमल में रूनुमा होनेवाली ख़ुदपरस्ती की हद तक ख़ुदसिताई, बेराहरवी की हद तक आज़ाद-ख़याली और क़ब्ल अज़ वक़्त पिदरी ज़िम्मेदारियों से दस्तकशी से होनेवाले मन्फ़ी असरात के मुताले के लिए बतौर मिसाल पेश किया जा सकता है, लेकिन जहाँ तक उनकी तख़्लीक़ी निगारशात का ताल्लुक़ है, उनमें फ़िक्र की सत्ह पर शख़्सियत, नफ़्सियाती कैफ़ीयत और ज़ेह्नी रवैयों की सीमाबवशी तो नज़र आती है, लेकिन मुख़्तलिफ़ शेरी-ओ-नस्री अस्नाफ़ में उनका फ़न पुख़्तगी की तरफ़ मुस्तक़िल गामज़न रहता है, क्यूँकि अख़्तर अंसारी के नज़्दीक अदब का मुताला असासन् अदबी हुस्नशनासी, अदबी लुत्फ़अन्दोज़ी या जमालियाती बाज़आफ़्रीनी का अमल है। इसलिए तख़्लीक़कार को अपनी तख़्लीक़ के दाख़िली-ओ-ख़ारिजी हुस्नो-हैयत पर ख़ास ध्यान देना चाहिए। वो 'ग़ज़ल और ग़ज़ल की तालीम' के बाब में रक़म-तराज़ हैं कि— "अदबी लुत्फ़अन्दोज़ी के कम-से-कम मानी ये हों कि तलबा अश्आर की अन्दरूनी मौसिक़ी की गूँज अपने ज़ेह्नों में महसूस करें, शायर ने जो मनाज़िर झलकाये हैं उनके रंगो-नूर और कैफ़ो-सुरूर को मह्सूस करें, ख़ूबसूरत अल्फ़ाज़ और हसीन तराकीब की मदद से जो तस्वीरी पैकर तैयार किये गये हैं उनको अपनी चश्मे-तसव्वुर के सामने जीता-जागता और चलता-फिरता मह्सूस करें और जिन जज़्बात और जमालियाती तज्रुबात की तर्जुमानी की गयी है उनकी तासीर को अपनी रूह की गहराइयों में मौजूद पायें, ग़रज़ कि ये सारा खेल मह्सूस करने का है। अदबी लुत्फ़अन्दोज़ी दरअस्ल एक जमालियाती बाज़आफ़्रीनी का अमल है।"

मुहव्वला बाला इक़्तिबास और अख़्तर अंसारी की तख़्लीक़ात से बख़ूबी अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि वो नज़रियाती और अमली दोनों सत्हों पर अदब की आला फ़न्नी क़द्रों के मुक़ल्लिद और मुअय्यिद थे। यही वज्ह है कि उनकी फ़िक्री वाबस्तगियाँ, जिन्हें मैलानात और रूज़्हानात कहना ज़ियादा बेह्तर है, वक़्त के साथ बदलती रहीं, जिनके नतीजे में मौज़ूआती सत्ह पर रूमानियत, तरक़्क़ीपसन्दी और जदीदियत; सबके वाज़े असरातो-नुक़ूश उनके यहाँ बआसानी तलाश किये जा सकते हैं, लेकिन फ़न की सत्ह पर वक़्त के साथ पुख़्तगी आती जाती है और उनका फ़न निखरता जाता है। हक़ीक़त तो ये है कि उनके क़त्आत की शोह्रत की चकाचौंध में नाक़िदीन उनकी ग़ज़लों, रुबाइयात और नज़्मों की तरफ़ बज़ा तौर पर तवज्जो न कर सके और जिस ख़ुलूस-नीयत के साथ उनके कारनामों का मुहाकमा किया जाना चाहिए, वो नहीं हो सका, ख़ासकर ग़ज़लों की जानिब। हालाँकि उनकी ग़ज़लों में ऐसे अनासिर मौजूद हैं जो ग़ज़लगो की हैसियत से उनका

मर्तबा मुस्तहकम करने और उन्हें अपने हमअस्त्रों से मुमताज़ करने की सलाहियत रखते हैं। उनका सनाएत-ओ-फ़न्नीयत, रम्ज़ीयत-ओ-अलामियत और तख़य्युलीयत-ओ-तसव्वुरीयत में ग़ज़ल के दूसरे अस्नाफ़े-सुख़न से बहुत ज़ियादा बढ़े होने पर ईक्रान तख़य्युलात को फ़न्नी पुख़्तगी फ़राहम करने और क़दीम-ओ-जदीद फ़िक्री-ओ-फ़न्नी तक़ाज़ों से हमआहंग करने में बहुत मददगार साबित होता हुआ नज़र आता है।

अख़्तर अंसारी ने शायरी के अलावा अफ़्साना-नवीसी, इंशाइया-निगारी, ड्रामा-निगारी, ख़ुतूत-निगारी, रोज़नामचा-निगारी, ख़ुदनविश्त, सवानेह-निगारी में अपने अनमिट नुक़ूश छोड़े और बग़ैर प्लाट के अफ़्साने लिखकर अफ़्साना-नवीसी की तकनीक में एक नये बाब का इज़ाफ़ा किया। अन्धी दुनिया, ख़ूनी और नाज़व इनके अफ़्सानवी मज्मूए हैं जो मौज़ूअ के अलावा तकनीक की सत्ह पर भी क़ारी को अपनी गिरफ़्त में लेते हैं और अच्छे अफ़्सानों की तरह उनके कुछ अफ़्साने क़ारी को चौंकाते भी हैं। शायरी और अफ़्साना-नवीसी के अलावा अख़्तर अंसारी की एक ख़ास पहचान फ़ने-तालीम-ओ-तअल्लुम से ख़ास दिलचस्पी है। ये शायद अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के उर्दू-विभाग से अलाहदगी के बाद टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज से वाबस्तगी और उस क़ब्ल तवील मुद्दत तक स्कूल की नौकरी थी। 'ग़ज़ल और ग़ज़ल की तालीम', 'Studies in Language Teachings' और 'A Background to Educational Theory' और A.K.C. Ohway की किताब 'Education and Society' का उर्दू-अनुवाद 'अदब और समाज और कल्चर' के अलावा 'Anecdotes from the life of Ghalib', 'ग़ज़ल की सरगुज़श्त', 'एक अदबी डायरी', 'उर्दू फ़िक्शन : बुनियादी और तश्कीली अनासिर', 'इफ़ादी अदब', इनके क़ाबिले-क़द्र कारनामे हैं।

जहाँ तक अख़्तर अंसारी की ग़ज़लगोई का ताल्लुक़ है, वो भी फ़ैज़, जज़्बी और दीगर तरक़्क़ीपसन्द शोअरा की उस फ़ेहरिस्त में शामिल हैं जो ग़ज़ल के हवाले से तहरीक की तमामतर अन्दरूनी और ख़ारिजी इख़्तिलाफ़ात के बावजूद उस पुख़्ता, रची हुई, पुरमाया और हरदिल अज़ीज़ सिन्फ़े-सुख़न में तब्अ-आज़्माई करते रहे। हाली और मुहम्मद हुसैन आज़ाद की ततब्बो में अज़्मतउल्ला ख़ाँ, वहीदुद्दीन सलीम, प्रो. कलीमुद्दीन, जोश मलीहाबादी और डॉ. अन्दलीब शादानी ने ग़ज़ल पर जो नक़्क़ाली, बेरब्ती, अदम तसल्सुल, परागन्दगी, मौज़ूई इन्तिशार, तसन्नो, बेकैफ़ी-ओ-बेअसरी और नीमवहशी होने की जो फ़र्दे-जुर्म तैयार की थी, उसकी भी वो पुरज़ोर मुख़ालिफ़त करते रहे। उनकी दोनों किताबें 'ग़ज़ल की सरगुज़श्त' और 'ग़ज़ल और गज़ल की तालीम' ग़ज़ल मुख़ालिफ़ीन का बेहतरीन जवाब और जैसी जिंस गर अनमायातर की बेहतरीन वकील और शारेह है। प्रो. वहीद अख़्तर 'अल्फ़ाज़' गोशा-ए-अख़्तर अंसारी अलीगढ़ में इनके शेरी सरोकार-ओ-नज़रियात और तरक़्क़ीपसन्द तहरीक से वाबस्तगी के बारे में ज़िक्र करते हुए लिखते हैं कि— ''शायरी में उन्होंने तरक्कीपसन्दी के दौरे-उरूज का बरहना और बराहे-रास्त इज़्हार नहीं अपनाया, लेकिन तन्क़ीदी नज़रियात और मुतालबों में वो अदब की इफ़ादियत और ग़ायती क़द्रों को हमेशा अहमियत देते रहे।''

अख़्तर अंसारी का मिज़ाज उन्हें किसी अज़्म का पाबन्द तो रख नहीं सकता था। उस पर मुस्तज़ाद उनकी अदाईयतपसन्दी और शख़्सीयत में टेढ़पन। लिहाज़ा वो रूमानियत, तरक़्क़ीपसन्दी और जदीदियत किसी से मग़्लूब नहीं हुए और न ही किसी का 'कार्ड होल्डर' बनकर रहे। नतीजतन् बहुत-से लोगों से बहुत बेहतर अदबी सलाहियतों और ख़ूबियों के बावजूद उनको ज़िन्दगी में और उसके बाद भी वो मक़ाम-ओ-मर्तबा नहीं मिल सका, जिसके वो मुस्तहक़ थे। ज़िन्दगी की नाहमवारियों और गर्दिशे-अय्याम से वो पहले ही दस्त-ओ-गिरेबाँ थे, फिर दोस्तों की चश्मपोशी और नाक़द्री-ओ-बेतवज्जही। आख़िरकार वो एक तरह से ख़ुदसाख़्ता अदबी-ओ-

समाजी alienation का शिकार हो गये। जिसका उनकी शख़्सियत और अन्दाज़े-फ़िक्र पर बहुत मन्फ़ी असर पड़ा और एक तरह से फ़रारीयत का शाइबा उनके यहाँ नज़र आने लगता है—

यादे-माज़ी अज़ाब है यारब
छीन ले मुझसे हाफ़िज़ा मेरा

×× ×× ××

ये सीना तल्ख़ यादों का ख़ज़ीना ही सही लेकिन
बहुत चुभते हैं दिल में इक नुकीली याद के टुकड़े

×× ×× ××

ख़याले-उम्रे-गुजिश्ता ज़रा तवक़्क़ुफ़ कर
ज़मीन क़दमों के नीचे से निकली जाती है

×× ×× ××

हाय क्या क़हर है मर्हूम जवानी की याद
दिल से कहती है कि ख़ंजर की रवानी हूँ मैं

×× ×× ××

कोई जब नाला करता है कलेजा थाम लेता हूँ
फ़ुग़ाने-ग़ैर भी अपनी फ़ुग़ाँ मालूम होती है

लेकिन ये दिल-शिकस्तगी, यास-ओ-महरूमी या क़नूतियत-ओ-फ़रारियत अख़्तर अंसारी का ग़ालिब रंग नहीं है। उनके नाक़िदीन का भी इस बात पर इत्तेफ़ाक़ है कि उनके कलाम में हज़निया रंग एहसासे-महरूमी, नाक़द्री और पैहम नाकामी के बाइस है। वैसे भी अना और ख़ुदपरस्त इंसान किसी तरह की हज़ीमत को आसानी से क़ुबूल नहीं करता है। वो बार-बार उठ खड़ा होता है और नित नये तरीक़ों से अपनी मौजूदगी बावर कराता है, वो नाकामि-ए-पैहम और गमों से क़तई मायूस नहीं होता, बल्कि बेगानगि-ए-ग़म को महरूमी-ए-ग़म समझता है और दिलशिकस्तगी-ओ-हिर्मां नसीबी को galvanize करते हुए अपने तख़्लीक़ी अमल को तमन्ना की क़ब्र पर ताजमहल तामीर करने के मुतरादिफ़ ख़याल करता है—

हस्रतों से लिपट के रोने में
कैसी लज़्ज़त है, पूछते क्या हो

×× ×× ××

यूरिशे-आलाम हद से बढ़ चली
इश्रते-ग़म को पुकारा चाहिए

×× ×× ××

मुझे नाकामिए-पैहम से मायूसी नहीं होती
अभी उम्मीद मेरी नौ जवाँ मालूम होती है

×× ×× ××

ख़ला में गुम हैं सितारों के क़ाफ़िले लाखों
भटक गया कोई मुझसा भी शबनवर्द तो क्या

×× ×× ××

ये वफ़ूरे-ग़म, ये हुजूमे-यास, महकते ज़ख़्म, दहकते दाग़
हम अलमपरस्तों के वास्ते ये ख़ज़ाने कौन लुटा गया

×× ×× ××

मेरे पड़ोस में ये ज़िक्र है कई दिन से
सदा जो आती थी रोने की, अब नहीं आती

बहरहाल, शायर सिर्फ़ अपने मौज़ूआत या उनकी रंगारंगी की वज्ह से बड़ा या छोटा नहीं होता है, बल्कि ज़बान का ख़ल्लाक़ाना इस्तेमाल, शेर और शेरी ज़बान के तफ़ाएल-ओ-इम्कानात से आगाही और बरूएकार लाने की सलाहियत और उस्लूब की नुद्रत-ओ-ताज़गी उसे छोटा या बड़ा बनाती है। मीर-ओ-ग़ालिब या इक़्बाल इसीलिए बड़े शायर हैं, क्योंकि वो ज़बान-ओ-बयान की dynamics को समझते थे और उनमें ज़बान की तख़्लीक़ी सत्ह पर ज़िन्दा रखने की क़ुव्वत बदरजहा मौजूद थी। बक़ौल अस्लूब अहमद अंसारी– "शेरी इज़हारियत की सबसे बड़ी ख़ुसूसियत एक नौअ का इब्हाम(ambiguity) है, यानी उसके मुफ़ाहीम की न हदबन्दी की जा सकती है और न उसकी रसाइयों को नापा जा सकता है। ऐसा ग़ालिबन् इसलिए भी होता है क्योंकि शेरी मफ़्हूम आहिस्ता-आहिस्ता अपने अमले-ख़ुदपज़ीरी(Self Realization) के मक़्सूद को हासिल करता है। नस्र या साइंस और मुन्तक़ी इज़्हार में बयान का रुख़ एक ही मुबैयना सिम्त में होता है। शायरी में ये राहें और सिम्तें मुन्हनी, पुरपेच और मुतअद्दिद, बल्कि मुतख़ालिफ़ होती हैं। इसीलिए मौजूदा तनक़ीदी इस्तिलाह में शेरी बयान को oblique कहा गया है।" आज भी ग़ज़ल उर्दू-शायरी की आबरू है तो इसलिए कि ये अपने जलो में बहुत-से ग़ैर-मरई मुबारज़ात लिये हुए है, जिनसे नबर्द-आज़मा होकर सुर्ख़रू भी हो जाना हर कसो-नाकस के बस की बात नहीं। शायरी, ख़ुसूसन ग़ज़ल में हिज़्फ़ इबारत(elipsis) का उसूल कारफ़र्मा होता है। यहाँ तफ़्सील से ज़ियादा अज्माल की, वज़ाहत से ज़ियादा इस्रार और इब्हाम की, सराहत से ज़ियादा इशारत की, तज्ज़िये से ज़ियादा तज्रबे की और कही से ज़ियादा अनकही की कारफ़र्माई होती है। इन हवालों से जब हम अख़्तर अंसारी की ग़ज़लों का मुताला करते हैं तो अक्सर इस एहतेज़ाज़ और तास्सुर-ओ-कैफ़ियत से मह्रूम रहते हैं जो बड़ी शायरी का ख़ासा हैं। ख़ासकर उनकी वो ग़ज़लें जो तवील बह्रों में हैं ज़ियादा मायूस करती हैं, हालाँकि प्रोफ़ेसर वहीद अख़्तर बाज़ तवील बह्रों और तवील रदीफ़ों की ग़ज़लों को उनकी बेह्तरीन तख़्लीक़ शुमार करते हैं–

अगर डूबना ही मुक़द्दर है मेरा तो फिर देर कैसी मुझे अब ये बतला
सफ़ीने से किसके लड़ा दूँ सफ़ीना, हयात आफ़्रीना हयात आफ़्रीना

×× ×× ××

अपने इक शौके-नौरस की तक्मील में हमने वो आग भड़काई 'अख़्तर' कि बस
फुँक गये ज़ेह्नो-दिल, लुट गये फ़िक्रो-फ़न, हाय दीवानापन, हाय दीवानापन

×× ×× ××

सुनी होगी शब के ख़राबों में अक्सर इक आवाज़ जैसे कोई रो रहा हो
वो था कौन नाशाद, क्या पूछते हो, बहुत पानी दरियाओं में बह चुका है

इसके बरअक्स मुझे अख्तर अंसारी की वो ग़ज़लें ज़ियादा तहदार, बरजस्ता, रवाँ और असातज़ा-ए-फ़न की निगारशात से क़रीब मालूम होती हैं जो छोटी बह्र में हैं, क्योंकि ऐसी ग़ज़लों का शेरी ढाँचा (लफ़्ज़ी, सौती, मुहाकाती और माबाद इल्तिबयाती इकाइयाँ) काफ़ी compact होता है और इज़्हार की मौज़ूनियत को भी बरक़रार रखने की कोशिश होती है, नीज़ ये ग़ौरो-ख़ौज़ और कुहनामश्क़ी का समरा मालूम होती है–

टाँके ज़ख़्मों के खुल गये शायद आँसुओं में है कुछ लहू का रंग

×× ×× ××

वो मसर्रत के तुन्द लम्हे आह याद करके उन्हीं को जीता हूँ

×× ×× ××

दर्दे-इश्क़ और निशाए-इफ़्लास इक क़यामत है पूछते क्या हो

×× ×× ××

शायद इक दिन उम्मीद बर आये हाय किस आसरे पे जीता हूँ

×× ×× ××

ज़ौक़े-ग़म की तर्बियत के वास्ते हस्रतों का गाहवारा चाहिए

शायरी, ख़ुसूसन ग़ज़ल, रास्त बयान का मुतहम्मिल नहीं होती है, बल्कि बिल वास्ता बयान, पेचीदा और तहदार ईमाइयत उसके औसाफ़ और मुहासिन में इज़ाफ़ा, आबो-रंग और तबोताब हासिल करने में मुआविन होती है। इन शेरी औसाफ़ और मुहासिन के हुसूल के तरीक़ा-ए-कार पर गुफ़्तगू करते हुए बाबा-ए-उर्दू तन्क़ीद ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन हाली ने शोअरा को मशविरा दिया था कि मजाज़, इस्तिआरा, किनाया और तम्सील वग़ैरह के इस्तेमाल पर क़ुद्रत हासिल करें ताकि रूखे-फीके मज़्मून को भी आबो-ताब के साथ बयान कर सकें, क्योंकि बाज़ मक़ामात ऐसे होते हैं अगर वहाँ सन्अतों से मदद न ली जाय तो शेर शेर नहीं रहता, बल्कि मामूली बातचीत हो जाता है। फ़ुकाही अदब और नस्री शेरियत के अहम सुतून मुश्ताक़ अहमद युसूफ़ी ने शेर के यकरुखेपन पर तंज़ करते हुए कहा था कि– ''जो शेर ब यक वक़्त पाँच-छः हज़ार आदमियों को समझ में आ जाय वो शेर हो नहीं सकता। उस शेर में ज़रूर कुछ-न-कुछ खोट निकलेगा।''

ऊपर जितना कुछ भी अख़्तर अंसारी से मुताल्लिक़ बयान किया गया उससे वाज़ेअ हो रहा है कि वो इंसानी ज़िन्दगी के तमाम ग़मों– ग़मे-दौराँ से लेकर ग़मे-जानाँ तक– की तमाम शररबार आहों को शायरी में नक़्श करनेवाले शायर हैं। इनकी शायरी ज़िन्दगी की नाउमीदी से ही ताक़त हासिल करती है और negativity को positivity में तब्दील करने का न केवल प्रस्ताव करती है, बल्कि कोशिश भी करती है।

(मूल उर्दू से अनुवाद : नूरुल एस. अंसारी)

कुन्दन सिंह
c/o श्री अशोक कुमार सिंह
ग्रा.+पो. : संगराँव
बक्सर- 802122 बिहार
मोबाइल- 09472088771

---

10 फरवरी 1988 को बिहार प्रान्त के ज़िला बक्सर के संगराँव में जन्मे कुन्दन सिंह युवा एवं उत्साही साहित्यकर्मी हैं। कविता, ग़ज़ल, आलोचना, सम्पादन कार्यों से न केवल प्रिण्ट मीडिया के माध्यम से सक्रिय हैं, बल्कि इण्टरनेट के माध्यम से सोशल मीडिया में भी सकारात्मक रूप से उपस्थित हैं। इस समय मार्क्सवादी चिन्ता-चिन्तन से जुड़े विषय पर शोधरत हैं। कुन्दन सिंह युवा-जगत में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ एक अलग पहचान बनाने में प्रयत्नरत हैं।

प्रस्तुत लेख शहरयार की सीमामुक्त प्रसिद्धि को प्रतिबिम्बित करता है। शहरयार दौरे-जदीद के एक ऐसे शायर हैं जिनके यहाँ फ़िक्र की अदायगी में सदैव गम्भीरता बरक़रार रही। इन्होंने प्रतीकों, बिम्ब तथा रूपक का ऐसा संयोजन किया है कि शायरी की भी शोभा सुरक्षित है और शायर का मेआर भी मह्फ़ूज़ है। भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करके फ़िराक़ गोरखपुरी, क़ुर्रतुल ऐन हैदर तथा अली सरदार जाफ़री जैसे उर्दू अदीबों की फ़ेहरिस्त में शामिल शहरयार भले ही आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी ग़ज़लें हिन्दी, उर्दू के पाठकों को समान रूप से मुतास्सिर करती रहेंगी।

कुन्दन सिंह

शहरयार हरदिल अज़ीज शायर हैं

शहरयार उन चुनिन्दा शायरों में से हैं, जिन्होंने न केवल उर्दू-कविता, बल्कि हिन्दी-कविता पर भी स्थायी प्रभाव छोड़ा है।[1] अपनी शायरी से 'फ़ैज़' के बेहद क़रीब[2] शहरयार ने छठे दशक की शुरूआत में उर्दू-शायरी की दहलीज़ पर दस्तक दी। तब उर्दू-शायरी या कह लें हिन्दुस्तानी शायरी में दो धाराएँ बह रही थीं। एक दूसरे से कटी, इन दोनों धाराओं की मंज़िल भी जुदा थी। शायरी की एक धारा, जहाँ परम्परा को सिरे से ख़ारिज़ कर बग़ावत को सबकुछ मानते हुए नयेपन पर ज़ोर दे रही थी, वहीं दूसरी धारा अपनी समृद्ध परम्परा को सहेजे अनुभूति, शैली और आधुनिकता के आधार पर अपने नया होने का दावा पेश कर रही थी। शहरयार इसी दूसरी धारा से जुड़े हरदिल अज़ीज़ शायर हैं जिनकी शायरी का लुत्फ़ उठाने के लिए 'विद्वान' होना ज़रूरी नहीं, बल्कि दर्दमन्द होना ही काफ़ी है। इनके यहाँ न कहानियों के चरित्रों का प्रतीकात्मक इस्तेमाल है, न फ़ालतू उपमाओं के बेतर्तीब जंगल, न किताबों का अपचित फ़ल्सफ़ा है और न ही दूसरे की नक़्ल। महज़ ज़ेह्न और जज़्बे के सजग सामंजस्य के साथ अपने इर्द-गिर्द बिखरे बर्बादियों के मंज़र इनकी ग़ज़ल और नज़्म में बार-बार आते हैं। ज़ेह्न और जज़्बे का बेहद सधा और सजग सामंजस्य कोई मामूली बात नहीं। ये अन्दाज़ इनके गहरे सामाजिक तज्रबों से उपजा था। शहरयार जानते थे कि बिना वस्तुपरक, वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील-जनवादी सोच के कोई रचनात्मक सपना नहीं बुना जा सकता। वे अपनी तमाम तन्हाइयों व वीरानियों के साथ-साथ दुनिया की ख़ुशहाली का सपना पूरा करने में ताउम्र लगे रहे। शायद यही कारण है कि इनकी शायरी में 'ख़्वाब' लफ़्ज़ बार-बार आता है।

शहरयार उर्फ़ प्रो.कुँवर अख़्लाक़ मोहम्मद ख़ाँ का जन्म 16 जून 1936 को एक मुस्लिम राजपूत परिवार में आँवला, ज़िला बरेली, उत्तर प्रदेश में हुआ। वैसे शहरयार का पुश्तैनी घर 'चौढ़ेरा' बन्नेशरीफ़ बुलन्दशहर ज़िला था। वालिद पुलिस अफ़्सर थे सो आये दिन तबादलों की वज्ह से शहरयार की शुरूआती शिक्षा तो हरदोई में पूरी हुई। फिर 1948 में इनके वालिद ने इन्हें अलीगढ़ भेज दिया जहाँ 'गवर्नमेण्ट स्कूल' में दाख़िला नहीं मिल पाने की वज्ह से मज्बूरन शहरयार को 'सिटी स्कूल' में दाख़िला लेना पड़ा। अब तक अँग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में पढ़े-लिखे छात्र का यहाँ पहली बार उर्दू से सम्पर्क हुआ। स्कूली शिक्षा पूरी कर 'अलीगढ़ यूनिवर्सिटी' आये और फिर यहीं से 1961 में 'उर्दू-भाषा और साहित्य' में एम.ए.किया। आगे अध्ययन का सिल्सिला 1966 में अध्यापन में बदल गया, जब शहरयार अलीगढ़ विश्वविद्यालय के ही उर्दू-विभाग में व्याख्याता

नियुक्त हुए। अध्यापन का ये क्रम सन् 1996 ई. तक चला, जब वे उर्दू-विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए।

यूँ तो बचपन में शहरयार एथलीट बनना चाहते थे और हॉकी में भी ख़ूब दिलचस्पी थी, लेकिन अलीगढ़ विश्वविद्यालय में आकर साहित्य में रुज्हान बढ़ा। यहीं ख़लीलुर्रहमान की शागिर्दी से उर्दू-अदब की तरफ़ पैदा हुए रुज्हान को सही दिशा मिली[3]। विद्यार्थी जीवन में ही शहरयार 'अंजुमने-उर्दू-ए-मुअल्ला' के सेक्रेटरी और 'अलीगढ़ मैग्ज़ीन' के सम्पादक हो गये थे, जबकि इनके वालिद की ख़्वाहिश थी कि बेटा उन्हीं के नक़्शे-क़दम पर चलते हुए पुलिस अफ़्सर बने। दरअस्ल शहरयार जिस ख़ानदान से ताल्लुक़ रखते थे उसके ज़्यादातर सदस्य आर्मी और पुलिस-विभाग में नौकरी करते थे। अत: बेटे को पुलिस अफ़्सर बनाने के लिए अपनी तरफ़ से वालिद जान ने ख़ूब कोशिश की। 'दरोगई' का फ़ॉर्म भी लाकर दिया गया, लेकिन अख़्लाक़ ने झूठ बोल दिया और फ़ॉर्म नहीं जमा किया, क्योंकि कुँवर अख़्लाक़ मोहम्मद ख़ाँ को तो 'शहरयार' बनना था। ख़ानदान की ख़्वाहिश तो अधूरी रह गयी, लेकिन हिन्दुस्तानी शायरी की तमन्ना ख़ूब पूरी हुई। उसे उर्दू-अदब की समृद्ध परम्परा को आगे बढ़ानेवाला ऐसा शायर मिला, जो 'अपने समय का ग़ालिब'[4] कहलाया। शहरयार का पहला काव्य-संग्रह 'इस्म-ए-आज़म' 1965 में प्रकाशित हुआ। दूसरा काव्य-संकलन 'सातवाँ दर' 1969 में, 'हिज्र के मौसम' 1978 में और 'ख़्वाब का दर बन्द है' 1987 में प्रकाशित हुआ जिस पर शहरयार को 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' मिला। इसके बाद 1995 में 'नींद की किरचें ' का प्रकाशन हुआ। शहरयार के पाँचों काव्य-संकलन देवनागरी में भी प्रकाशित हुए। इसके अलावा शहरयार की चुनिन्दा रचनाओं का संकलन 'धुन्ध की रौशनी' का प्रकाशन 2003 में हुआ जिसका 'द लाइट ऑफ़ डस्क'(The Light of Dusk) नाम से अँग्रेज़ी में अनुवाद भी छपा। शहरयार की अन्य रचनाओं में 'सातवाँ दर' का 'सेवेन येट'(Seven Yet) और 'नींद की किरचें ' का 'शॉर्ड्स ऑफ़ सैटर्ड स्लीप'(Shards of Shattered Sleep) नाम से अँग्रेज़ी में अनुवाद हुआ है।[5]

शहरयार उर्दू के ऐसे चौथे रचनाकार हैं जिन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला है। उर्दू में इनसे पहले फ़िराक़ गोरखपुरी को 1969 में, क़ुर्रतुल ऐन हैदर को 1989 को और अली सरदार जाफ़री को 1997 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। ४४वें ज्ञानपीठ पुरस्कार के रूप में शहरयार को ये सम्मान 2008 में मिला। इसके अलावा शहरयार 'फ़िराक़ सम्मान' और 'बहादुर शाह ज़फ़र सम्मान' से भी नवाज़े गये हैं।

प्रो. शहरयार अलीगढ़ विश्वविद्यालय में अध्यापन के दौरान 'उर्दू-फ़िक्शन' पढ़ाते थे। ख़ुद शायर होते हुए भी इन्होंने कभी उर्दू-शायरी नहीं पढ़ाया। शहरयार का मानना था कि कविता पढ़ने-पढ़ाने और व्याख्या करने की चीज़ नहीं, एहसास करने की चीज़ है। अध्यापन तथा शायरी के अलावा शहरयार ने साहित्यिक पत्रकारिता के रूप में विभिन्न पत्रिकाओं का प्रकाशन-सम्पादन किया और अपने सहपाठी-मित्र राही मासूम रज़ा की तरह सिनेमा के लिए भी लिखा। पढ़ाई के दौरान 1959 में 'ग़ालिब' नामक पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन शुरू किया। उसके बाद मुग़्नी तबस्सुम के साथ एक बेहद ही अहम अदबी रिसाला 'शेर-ओ-हिकमत' निकालना शुरू किया। सन् 1961 से 1966 तक 'हमारी ज़बान' से भी जुड़े रहे। 1986 में जब अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के रूप में पदोन्नति हुई तब विश्वविद्यालय की विचार-प्रधान पत्रिका 'फ़िक्रो-नज़र' के सम्पादन की ज़िम्मेदारी भी मिली। अपने सम्पादन-काल में तब शहरयार ने मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद, हाली, मौलाना शिब्ली, सर सैयद अहमद ख़ाँ और नज़ीर अहमद वग़ैरह जैसी चर्चित शख़्सियतों पर महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकाले जिसका मूल्य आज प्रामाणिक सन्दर्भ-दस्तावेज़ के रूप में है।

जनवादी सरोकारों से जुड़े शहरयार ने फिल्मों के लिए भी लिखा, लेकिन बेहद संजीदगी के साथ। शहरयार के हिन्दी-सिनेमा से जुड़ाव के सन्दर्भ में राहत इन्दौरी ने लिखा है— ''फ़िल्मों

से मेरा भी रिश्ता है और शहरयार का भी रहा है, या है। मैं वहाँ की जायज़-नाजायज़ फ़रमाइशों के दबाव से परिचित हूँ। हम सब जानते हैं कि आर्थिक पक्ष कितना लुभावना होता है और किस तरह कलाकार को समझौते करने पर विवश करता है। कम ही लोग जानते हैं कि शहरयार ने किस दृढ़ता और उपेक्षा से इन बेलगाम 'डिमांडों' को निहायत ही ख़ामोशी से और बिना पब्लिसिटी के नामंज़ूर किया। ये सबकुछ उनकी तबीअत का हिस्सा था, जबकि कारोबार में तो इन्कार को भी शोह्रत के लिए इस्तेमाल किया जाता है। 'उमराव जान' की ग़ज़लों की प्रसिद्धि किसी भी आम शायर को ख़ुशफ़हमियों और ग़लतफ़हमियों में फँसाकर आसानी से उसे मुग़ालते का शिकार बना सकती था, लेकिन शहरयार ने जिस स्तरीय मौन के साथ शोह्रत के इस आँधीनुमा हंगामे को गुज़र जाने दिया उसकी चर्चा बहुत दिनों तक फ़िल्मी क्षेत्रों में होती रही। इस बात से मैंने निजी तौर पर ये नतीजा निकाला कि प्रसिद्धि और अवसरों के इस दोराहे पर शहरयार ने जिस लापरवाही और सूफ़ियों की-सी बेनियाज़ी का सुबूत दिया वो असाधारण था। बाज़ार और कारोबार के इस दौर में चरित्र और स्वभाव की ऐसी मज़्बूती को सलाम करने का जी करता है।''[6] कहने की ज़रूरत नहीं कि शहरयार ने फ़िल्मों में पैसे के लिए नहीं लिखा, बल्कि फ़िल्मों के ज़रिअे 'जनमानस' से जुड़ने के लिए लिखा। बाज़ारू गीतों-ग़ज़लों के बरअक्स स्तरीय ग़ज़लों और नज़्मों को आम आदमी की ज़बान पर चढ़ने और दिल में उतरने के लिए लिखा—

सीने में जलन, आँखों में तूफ़ान-सा क्यूँ है
इस शह्र में हर शख़्स परेशान-सा क्यूँ है

जैसे गहरे अर्थोंवाली ये ग़ज़ल तब चर्चित और बहुप्रशंसित हुई जब मुज़फ़्फ़र अली की फ़िल्म 'ग़मन' (1978) में शामिल हुई। उक्त ग़ज़ल को जयदेव के संगीत-निर्देशन में सुरेश वाडेकर ने इस पुरकशिश अन्दाज़ में गाया कि ये ग़ज़ल 'क्लासिक' की फ़ेहरिस्त में जुड़ गयी और शहरयार रातो-रात हरदिल अज़ीज़ शायर बन गये। तब इसी फ़िल्म की एक और ग़ज़ल—

अजीब सानेहा मुझपे गुज़र गया यारो
मैं अपने साये से कल रात डर गया यारो

हरिहरन की संजीदा आवाज़ में ख़ूब लोकप्रिय हुई थी। मिर्ज़ा हादी 'रुस्वा' के उर्दू-उपन्यास 'उमराव जान अदा' पर बनी फ़िल्म 'उमराव जान'(1981) के गीतों की लोकप्रियता ने शहरयार को शोह्रत की बुलन्दी पर पहुँचा दिया। ख़य्याम के संगीत से सजी इस फ़िल्म की पाँचों ग़ज़लों— 'दिल चीज़ क्या है आप मेरी जान लीजिए', 'इन आँखों की मस्ती के मस्ताने हज़ारों हैं', 'जुस्तजू जिसकी थी उसको तो न पाया हमने', 'ज़िन्दगी जब भी तेरी बज़्म में लाती है हमें' और 'ये क्या जगह है दोस्तो, ये कौन-सा दयार है' की गिनती हिन्दी-सिनेमा की बेह्तरीन ग़ज़लों में की जाती है।

फ़िल्मों में गीत-लेखन के अलावा शहरयार ने विभिन्न फ़िल्मों के लिए संवाद और पटकथा भी लिखी जिसमें यश चोपड़ा की फ़िल्म 'फ़ासले'(1985) और मुज़फ़्फ़र अली की फ़िल्म 'अंजुमन'(1986) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बेशुमार शोह्रत पाने के बावजूद शहरयार फ़िल्मी लेखन के लिए अध्यापकी, अदबी लेखन और अलीगढ़ छोड़कर मायानगरी मुम्बई नहीं जा बसे, बल्कि फ़िल्मकारों ने अलीगढ़ आ-आकर उनसे सम्पर्क किया। व्यावसायिकता के दबाव से परे अपनी शर्तों पर लेखन ने शहरयार के सिनेमाई लेखन को भी स्तरीय बनाये रखा। आज जहाँ सिनेमाई लेखन अश्लील और फूहड़ होता जा रहा है, ऐसे में शहरयार जैसे लेखकों की याद बहुत शिद्दत से आती है।

शहरयार विस्तृत मानव-मन और विविध अनुभवों के शायर हैं। प्रेम और जीवन के गहरे अनुभव से उपजा दर्शन उनकी शायरी के केन्द्र में है। उनकी रचनाओं में 'नींद', 'ख़्वाब', 'बेख़्वाबी', 'रात', 'तारे' वग़ैरह जैसे शब्द गहरे प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अँधेरे की प्रतीक 'रात' में,

उजाले का प्रतीक 'तारा' उम्मीद की रौशनी बिखेरता है तो लहजे की सरगोशी और अपने-आप से बात करने का अन्दाज़ उनकी शायरी को और ज़्यादा उम्दा बना देता है—

शब की तारीकी, दरे-ख़्वाब हमेशा को बन्द
चन्द दिन बाद तो दुनिया को यही देखना है

×× ×× ××

आज की रात मैं घूमूँगा खुली सड़कों पर
आज की रात मुझे ख़्वाबों से फ़ुर्सत कुछ है

×× ×× ××

जागती आँखों से देखो इस दुनिया को
ख़्वाबों का क्या है, वो हर शब आते हैं

शहरयार प्रगतिशील-जनवादी चेतना से सम्पन्न शायर हैं। सत्तर अस्सी के दशक के राजनीतिक-सामाजिक हालात ने शहरयार को दुखी और बेचैन कर दिया था। ये बेचैनी उस दौर में कहे गये उनके कई शेरों, नज़्मों की शक्ल में बाहर आयी है—

ज़िन्दगी जैसी तवक्को थी, नहीं, कुछ कम है हर घड़ी होता है अहसास कहीं कुछ कम है

×× ×× ××

बारहा पूछना चाहा कभी हिम्मत न हुई   दोस्तो, रास आयी तुम्हें दुनिया कैसे

आज़ादी के बाद बेहतरी की जो उम्मीद जनमानस ने लगा रखी थी, वो पूरी नहीं हुई, बल्कि स्थिति दिन-ब-दिन बद से बदतर ही हुई। फलस्वरूप तत्कालीन सत्ता से लोगों का मोहभंग हुआ और लगने लगा कि 'कहीं कुछ कम है'। वही स्थिति आज भी है। सत्ता के इस अन्धेर को मिटाना ज़रूरी है। इसके लिए जनमानस को संगठित होना पड़ेगा, क्योंकि सत्ता-वर्ग से लड़ाई अकेले नहीं लड़ी जा सकती। आज़ादी के बाद आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में बेहतरी का जो ख़्वाब शायर ने सजा रखा है, अब उससे समझौता करने के मूड में वो क़तई नहीं है। शासन का तानाशाही रवैया, सामन्ती हालात और असमानता उसे खटक रही है—

जो चाहती है दुनिया वो मुझसे नहीं होगा समझौता कोई ख़्वाब के बदले नहीं होगा
अब रात की दीवार को ढाना है ज़रूरी ये काम मगर मुझसे अकेले नहीं होगा

मुश्किल हालात के इस दौर में शहरयार की ग़ज़लें और नज़्में नाउम्मीदी के बरअक्स उम्मीद जगाती हैं; ठहराव और जड़ता की मानसिकता को तोड़, बदलाव की वकालत करती हैं—

बड़ी भयानक साअत आनेवाली है
आओ जतन कर देखें शायद टल जाये

×× ×× ××

कहाँ तक वक़्त के दरिया को ठहरा हुआ देखें
ये हस्रत है इन आँखों से कुछ होता हुआ देखें

×× ×× ××

हवाएँ बादबाँ खोलें, लहू आसार बारिस हो
ज़माने सख़्त तुझको फूलता-फलता हुआ देखें

ज़मीनी हक़ीक़त और सामाजिक सरोकारों से मुँह मोड़कर चाँद को निहारने और बखान करनेवाले कवि-शायर तो ख़ूब मिलते हैं, लेकिन ज़मीं को चाँद से बेहतर बनानेवाले कवि-शायर विरले ही हैं। दुनिया की ख़ुशहाली का ख़्वाब और उम्मीद शहरयार की शायरी के बुनियादी सरोकार हैं। लफ़्ज़ 'ख़्वाब' तो उनका पसन्दीदा प्रतीक है, जिसे उन्होंने अपनी नज़्मों और ग़ज़लों में बड़ी उदारता के साथ इस्तेमाल किया है। एक दुनिया जो शायर की सोच में है और एक दुनिया जिसमें शायर जी

रहा है। इन दोनों के बीच जो कुछ हो सकता है— एक तीसरी दुनिया है। सच्चाई और ख़्वाब के बीच का ये रचनात्मक टकराव शहरयार की शायरी को उनके समकालीन अन्य शायरों से अलग पहचान दिलाता है [7]—

फिर कहीं ख़्वाबो-हक़ीक़त का तसादुम होगा
फिर कोई मंज़िले-बेनाम बुलाती है हमें

×× ×× ××

क्या कोई नयी बात नज़र आती है हममें
आईना हमें देख के हैरान-सा क्यूँ है

शहरयार के समकालीन, हिन्दी के बहुचर्चित साहित्यकार-पत्रकार कमलेश्वर ने उन्हें याद करते हुए लिखा है— ''शहरयार की ख़ूबी यही है कि उनकी रचना का चेह्रा निहायत व्यक्तिगत है, लेकिन उसमें झाँकिए तो अपना और फिर धीरे-धीरे वक़्त का बदहाल चेह्रा दिखने लगता है। उनकी शायरी में हर इंसानी और क़ुदरती मौसम के साथ-साथ वो शऊर मौजूद है जो तुकबन्दी को तोड़कर बेशऊर और बात को बेतुका होने से बचाता है। ये हर मौसम की हल्की हवा की तरह अपनी बात कहता है और ये बात एक यादगार ग़ज़ल या नज़्म बन जाती है। इसमें न कुछ रेशमी है, न तो सूती, ये बस भीगी बालू की तरह भारी, हमवार और सराबोर है।

शहरयार की शायरी की इस भीगी बालू को निचोड़ा नहीं जा सकता। बस इतना मह्सूस किया जा सकता है कि इसके नीचे या तो गहरे एहसास की कोई नदी है या तहज़ीबी एहसास का कोई समन्दर। दिमाग़ी जद्दोजहद के दौरान जैसे कभी मैं अपनी माँ की तस्वीर देखता हूँ या मीराबाई की तन्मय लाइनें याद करता हूँ या केदारनाथ अग्रवाल की केन-किनारे की कविताएँ गुनगुनाता हूँ या नागार्जुन को पढ़ते-पढ़ते मैदाने-जंग से उतर जाता हूँ या दुष्यन्त की पंक्तियों के साथ आज के बदशक्ल और बदहाल हालात की गलियों में बदनुमा चेह्रों को पहचानने के लिए उतर जाता हूँ और 'ये सूरत बदलनी चाहिए' के उद्‌घोष में शामिल हो जाता हूँ। कुछ उसी तरह मैं शहरयार की शायरी को इस लहूलुहान तहज़ीब के मुश्किल वक़्त में आये हुए दोस्त के ख़त की तरह पाता हूँ।''[8] आमो-ख़ास के इस चहेते शायर का 13 फरवरी 2012 को इंतक़ाल हो गया, लेकिन इनकी शायरी हमारे बीच सदियों तक ज़िन्दा रहेगी।

सन्दर्भ सूची–

1. शहरयार की मृत्यु पर गोपाल दास नीरज का वक्यव्य/ www.dnaindia.com
2. 'आजकल': अप्रैल- 2012, सम्पादकीय : प्रसंगवश
3. Shayar Shaharyar / www.urdustudies.com
4. The Times of India- 14 February 2012
5. http: / www.wikipedia.org/ shaharyar's biography, The Free Encyclopaedia on Internet.
6. लफ़्ज़, वर्ष-6, अंक- 24 पृष्ठ सं.- 55
7. शहरयार की ग़ज़लें- एक टिप्पणी : नोमान शौक़, पृ.- 57
8. सम्पादकीय, आज के प्रसिद्ध शायर : शहरयार, संपा.- कमलेश्वर, राजपाल एण्ड संस, नयी दिल्ली

नोट- शहरयार की ग़ज़लों और नज़्मों के लिए देखें– http:/www.urdupoetry.com/shaharyar poetry

अस्लम इलाहाबादी
13/सी, काटजू रोड
इलाहाबाद (उ. प्र.)
मोबाइल : 09919306515

पिछले अंक में उर्दू की निसाई शायरी (शायरात के हवाले से हो रही शायरी) के समूचे मंज़रनामे पर एक मुख़्तसर-सी भूमिका के बाद अदा जाफ़री(पाकिस्तान) की शायरी पर चर्चा हुई। उस लेख की प्रशंसा कई लोगों ने की। इस अंक में असलम साहब द्वारा फ़ातिमा हसन और शाहिदा हसन पर किया गया तब्सिरा पेश है। पिछले अंक में स्पष्ट किया गया था कि ये लेख-शृंखला अस्लम साहब की बहुचर्चित किताब 'उर्दू की निसाई शायरी' से कतिपय संशोधनों के साथ प्रस्तुत की जा रही है।

ये अलग बात है कि शायरात की ग़ज़लों के लिए अलग से कोई दीर्घकालिक परम्परा, अलामतें, फिलास्फी, इस्तिआरा वग़ैरह नहीं है, लेकिन बीती सदी की कई शायरात ने कुछ ऐसे शेर कहे जिससे ग़ज़ल में एक नये सौन्दर्य-बोध की सम्भावना पैदा हुई है। समझने लायक़ बात ये है कि शायरी के भीतर परम्परागत ढंग से जो आशिक़ मौजूद है उसके बरअक्स निसाई शायरी में कोई माशूक़ा उस लबो-लहजे में गुफ़्तगू नहीं करती जिसमें प्राय: आशिक़ करता है। संजीदा शायरात की मर्यादित गुफ़्तगू ने न सिर्फ़ ग़ज़ल के हुस्न में इज़ाफ़ा किया है, बल्कि एहसास की कई तहों को भी खोला है।

अस्लम इलाहाबादी

उर्दू-शायरी की अहम शायरात-2

फ़ातिमा हसन

फ़ातिमा हसन की इब्तिदाई दौर की शायरी में बला की नग़मगी और ग़नाइयत(लयात्मकता) का एहसास होता है। जैसे मुहब्बत की हसीन वादियों में फूलों की बारिश हो रही हो। अल्फ़ाज़ की नशिस्तो-बर्ख़ास्त, मिस्रों की सादगी, शैली और बयान की नर्मी कानों में रस घोलती है। फ़ातिमा हसन बड़ी संवेदनशील शायरा है। इन्हें कलियों के चटकने की आवाज़ सुनायी देती है। ये फूलों के सीनों में दबी आँच महसूस कर लेती हैं। इनके यहाँ आँखें बोलती हैं—

लफ़्ज़ होंठों तलक नहीं आते दिल की आखों ने तर्जुमानी की

मुहब्बत के इब्तिदाई 'स्टेज' में आँखें इज़्हार का ज़रिआ बनती हैं। फ़ातिमा हसन इस राज़ से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं कि मुहब्बत में सारा 'रोल' आँखें अदा करती हैं। आँखें मुहब्बत में मोतबर अलामत कही जायेंगी। होंठों से मुहब्बत का इज़्हार कमउम्री में होता है और इसे इश्क़ के क्षेत्र में दोषपूर्ण समझा जाता है। इश्क़ जब शिद्दत अख़्तियार करता है तो जुनून की मंज़िल शुरू होती है, लेकिन फ़ातिमा हसन के यहाँ इश्क़ का सँभला हुआ लहजा ही उनकी शायरी का हुस्न है, जहाँ आँखें दिल की सन्देशवाहक बनकर उभरती हैं—

कहने को उससे इश्क़ की तफ़्सीर है बहुत पहले तो सिर्फ़ आँख की तह्रीर है बहुत

फ़ातिमा हसन की शायरी का केन्द्रीय ख़याल 'मुहब्बत' के इर्द-गिर्द घूमता है। ये एहसास की दौलत किसी-किसी को नसीब होती है। यूँ कहिए मुहब्बत फ़ातिमा हसन का मह्बूब मौज़ूअ (काव्य-विषय) है। कहीं-न-कहीं उनके दिल के निहाँख़ानों में मुहब्बत की शम्अ रौशन ज़रूर है वर्ना इतनी गहराई से मुहब्बत के ख़ाके में रंग भर देना आसान काम नहीं है। तज्रबे के बाद ही ऐसे अश्आर वजूद में आते हैं। उन्हें मालूम है कि रिफ़ाक़त(दोस्ती) के बाद ही मुहब्बत की मंज़िल आती है। तभी तो वो कहती हैं—

कहो तो नाम मैं दे दूँ इसे मुहब्बत का   जो इक अलाव है जलती हुई रिफ़ाक़त का

×× ×× ××

मैं उससे रूठना चाहूँ भी कैसे   कि वो मेरे लिए मुझसे लड़ा है

×× ×× ××

मैं तो बस इक लहर थी दरिया न थी   उसकी गहराई ने दरिया कर दिया

मुहब्बत के रास्ते भी अजीब तिलिस्माती होते हैं, जहाँ इंसान सुनता कुछ है और देखता कुछ है। ये

भी एक जुनूनी शक्ल है, जहाँ कभी सुनकर ऐतबार किया जाता है तो कभी आँखों से देखकर भी ऐतबार नहीं किया जाता—

दिखायी देता है जो कुछ कहीं वो ख़्वाब न हो
जो सुन रही हूँ वो धोखा न हो समाअत का

×× ×× ××

मेरे सिवा भी उसको कई काम हैं बहुत
समझी मगर ये बात मैं ताख़ीर देखकर

फ़ातिमा हसन की ग़ज़लिया शायरी में जहाँ वस्ल की लज़्ज़त है वहीं हिज्र का दर्द भी पहरों रुलाता है। फ़ातिमा हसन ने हिज्र की चोट से पैदा होनेवाले दर्द को अलग नज़रिये से पेश किया है—

लफ़्ज़ों की चोट खा के कुछ इतना हुआ है दर्द
बर्दाश्त की हदों से भी ऊँचा हुआ है दर्द
कल तक तो बस ये रहता था दिल ही के आसपास
पर अब तो सारे जिस्म में बिखरा हुआ है दर्द
शायद हो कुछ उम्मीद मसीहा के नाम पर
आये कोई कि शह्र में फैला हुआ है दर्द

फ़ातिमा हसन के यहाँ मुहब्बत में ख़ुदसुपुर्दगी (आत्म-समर्पण) का एहसास नहीं होता, वो मुहब्बत के अटूट रिश्ते को शर्त के साथ चाहती हैं कि दोनों तरफ़ यक़ीन और एतमाद की मश्अलें बराबर रौशन हों। तभी तो उनके यहाँ इस तरह शेर जन्म लेते हैं—

मैं टूटकर उसे चाहूँ ये अख़्तियार भी हो   समेट लेगा मुझे इसका एतबार भी हो

बिछड़कर मिलने के लिए हिज्र की आग और इंतिज़ार की गर्मी दोनों का होना लाज़िमी है तभी तो निकटता के लम्हात मज़ा देते हैं—

नयी रुतों में वो कुछ और भी क़रीब आये   गयी रुतों का सुलगता-सा इंतिज़ार भी हो

×× ×× ××

इक मोड़ पे हम अजनबी बनके भी मिलेंगे   ये बात तो मालूम थी आग़ाज़े-सफ़र से

और दूसरे लम्हे ये भी शर्त है कि जिस शख़्स को हमसफ़र बनाया जाय वो भी अपनी तरह ज़माने का सताया हुआ हो। उसका भी कोई ठौर-ठिकाना न हो, ताकि दोनों तस्वीर आमने-सामने बराबर रहें; तभी हमख़याली, हमसफ़री और हमज़बानी पैदा होती है। ये भी एक तरह का तज्रबाती अमल है। इस तज्रबे के पेशे-नज़र फ़ातिमा हसन के यहाँ दुखों और कष्टों का सिल्सिला दराज़ होता है जिससे अज़ीयतनाक फ़ज़ा बनती है—

वफ़ा सरिश्त हूँ दूरी में भी मुहब्बत है   अकेले रहने में लेकिन बड़ी अज़ीयत है

वो मह्बूब से दूर रहकर मुहब्बत का लिहाज़ तो रखती हैं, लेकिन अना(स्वाभिमान) की धूप में लगातार रहने से तन्हाई अज़ीयत देने लगती है। फ़ातिमा हसन की शायरी का अपना अलग तेवर है। मुहब्बत में शर्त का लगाना; हुस्न की ये भी एक अदा ही कही जायेगी। कहीं-कहीं सब्र के बाँध जब टूटते हैं तो फ़ज़ा तब्दील होती है और ख़ुदसताइश(आत्म-प्रशंसा) के अखुवे फूटते हैं और नाकामी की सरहदें शुरू हो जाती हैं—

जैसी भी हूँ अच्छी कि बुरी अपने लिए हूँ   मैं ख़ुद को नहीं देखती औरों की नज़र से

इस ज़मीन पर हजारों इन्क़लाब आये, हुकूमतें बदलीं, लेकिन आज तक ऐसा कोई इन्क़लाब रूनुमा नहीं हुआ जो हुस्न का मिज़ाज बदल सके। फ़ातिमा हसन ने अपनी पूरी शायरी में औरत के स्वाभिमान को कहीं आहत नहीं होने दिया। वो इश्क़ के दरिया में पूरी तरह से डूब जाने की क़ाइल तो हैं, मगर शर्त के साथ—

जहाँ ये इश्क़ की सरहद जुनूँ से मिलती हो वहाँ पे आके मिले वो अगर मुहब्बत है

×× ×× ××

नहीं समझी थी जो समझा रही हूँ   अब उलझी हूँ तो खुलती जा रही हूँ
अगर सच है तो फिर साबित करो तुम   मैं अपने आपको झुठला रही हूँ

×× ×× ××

सफ़र का साथ है ये मंज़िलों का साथ नहीं गुज़र ही जायेंगे लम्हे हिसाब रहने दो

ख़वातीन(स्त्रियों) की उर्दू-शायरी में ये हुक्मरानी का अन्दाज़ निसाई तह्रीक(स्त्री-आन्दोलन) की देन कहा जायेगा कि जिसने औरत में इतनी हिम्मत और जसारत पैदा की। फ़ातिमा हसन की शायरी में निसाई तह्रीक का भरपूर असर दिखायी देता है, जहाँ स्त्री-मनोविज्ञान भी काम करता है। जहाँ बाहरी और अन्दरूनी अनुभूतियों में फ़र्क़ साफ़ दिखायी देता है। फ़ातिमा हसन की शायरी व्यक्तिगत अनुभवों और अनुभूतियों पर आधारित है। *'अब उलझी हूँ तो खुलती जा रही हूँ'*, ये मिस्रा अर्थ के कई दर खोलता है और औरत का खुलना किसी क़यामत से कम नहीं—

उसकी आँखों में आँच जलती रही बर्फ़ मुझमें कहीं पिघलती रही
जिस क़दर शोर मेरे बाहर था उतनी तन्हाई मुझमें पलती रही

फ़ातिमा हसन के यहाँ ग़मे-जानाँ जब ग़मे-दौराँ में तब्दील होता है तो वो व्यापक रूप अख़्तियार कर लेता है और फिर शुरू होता है समाज की बदहाली, ज़रूरियाते-ज़िन्दगी, माहौल की बेरहमी, माली मुश्किलात का सिल्सिला। ये ऐसी सम-सामयिक समस्याएँ हैं जो इंसान की सोच बदलकर रख देती हैं और हालात के हाथों मज्बूर होकर इंसान की फ़िक्र में तब्दीली आना यक़ीनी है। पाकिस्तानी शायरी में हिजरत(migration) और दर-बदरी का तसव्वुर उन्हीं सम-सामयिक समस्याओं और मुश्किलात की देन है जिसने बहुत-से ख़ानदानों को हिजरत करने पर मज्बूर कर दिया। किसी को क्या मालूम कि सन् 1947 के बाद पाकिस्तान वजूद में आयेगा और फिर पाकिस्तान का भी विभाजन हो जायेगा। फ़ातिमा हसन को ये अन्दाज़ा न था कि उन्हें दूसरी हिजरत के दुख भी उठाने पड़ेंगे। ये दर-बदरी का सिल्सिला बढ़ता ही गया। फ़ातिमा हसन ने बँग्लादेश बनने के बाद कराची का रुख़ किया जिसका दुख उनके यहाँ अश्आर की सूरत में जा-ब-जा देखने को मिलता है—

वो दौर आया कि वो भी घरों को छोड़ गये जो सोचते थे कि अब मुस्तक़िल सुकूनत है

यक़ीन जब बेयक़ीनी की सूरत अख़्तियार करता है तो ऐसे ही अश्आर कहे जाते हैं—

समझ रहे थे मुसाफ़िर क़याम को मंज़िल   ख़बर नहीं थी कि आगे भी एक हिजरत है

इस शेर में मलाल की सुर्ख़ी साफ़ नज़र आती है और यही मलाल जब शिद्दत अख़्तियार कर लेता है तो शिकायत का सिल्सिला शुरू होता है—

बहुत-से लोग दिलों में छुपाये बैठे हैं   ये 'फ़ातिमा' ही नहीं है जिसे शिकायत है

फ़ातिमा हसन ने चूँकि ख़ुद भी हिजरत की है इसलिए उन्हें हिजरत के दुखों का एहसास है। वो बिहारी मुसलमानों की समस्याओं और ढाका की भौगोलिक सूरते-हाल से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं, जहाँ एक बड़ी आबादी बाढ़ से हमेशा प्रभावित रहती है, तभी तो वे कहती हैं—

मकीं उनके कहाँ आबाद होंगे जहाँ थे घर वहाँ पानी खड़ा है

इतिहास गवाह है कि ज़ालिम को बुरा कहनेवाले भी अपने फ़ायदे के लिए उसकी पैरवी पर उतर आते हैं। ये कहना मुश्किल है कि फ़ातिमा हसन नीचे उद्धृत शेर के पसे-परदा यहिया ख़ाँ से मुख़ातिब हैं कि जनरल टिक्का ख़ाँ से, लेकिन सौ फ़ीसद उनका ये शेर इन्हीं दोनों रहनुमाओं पर चरितार्थ होता है—

उसी के हुक्म से बस्ती लुटी है उसी के नाम का झण्डा गड़ा है

फ़ातिमा हसन के मन में कराची पहुँचकर भी नयी आशंकाएँ सर उठाती हैं कि कहीं यहाँ से भी हिजरत न करनी पड़े, जिसको निम्नलिखित अश्आर में यूँ बयान करती हैं, जहाँ सवाल भी ख़ुद ही करती हैं और जवाब भी ख़ुद ही देती हैं—

सँवारती रही घर को मगर ये भूल गयी   कि मुख़्तसर है ये अरसा यहाँ सुकूनत का

×× ×× ××

है मेरे सफ़र का जवाज़ क्या   मेरे साथ क्यूँ रहीं हिजरतें

×× ×× ××

रहबरी अब शर्ते-मंज़िल कब रही   आओ ढूँढ़ें रास्ते कुछ और भी

फ़ातिमा हसन की शायरी इंसानी दुख-दर्द से युक्त है। वो ग़रीबों को उनका हक़ दिलाना चाहती हैं। उन्होंने हमेशा ही तरक़्क़ी के धारों से कटे हुए लोगों की वकालत की—

खुले जो दर तो किसी ख़ौफ़ का गुमाँ न रहे मैं चाहती हूँ कहीं कोई बेअमाँ न रहे

×× ×× ××

नंगी ज़मीं पे ख़्वाब बिछाकर जो सोये हैं   उनकी बला से आग कहीं भी लगा करे

फ़ातिमा हसन अच्छा-ख़ासा सियासी शऊर रखती हैं। वो अपने चारों तरफ़ के माहौल से बाख़बर हैं और मुल्क में पेश आनेवाले वाक़िआत को अपनी शायरी का हिस्सा बना देती हैं—

लोग धोखा खा गये आज़ाद हैं उसने ज़ंजीरों को हल्का कर दिया

फ़ातिमा हसन की शायरी शिकवा-शिकायत के साथ हुब्बुल्वतनी(देशप्रेम) का सुबूत भी फ़राहम कराती है। कहीं-कहीं वो सीधे तौर पर मुल्क के सियासी निज़ाम में शरीक भी नज़र आती हैं—

दीवार उठाते हो तो मज़्बूत उठाओ   ऐसा न हो डर जाओ कभी अपने ही घर से

×× ×× ××

पहचानते हैं ग़ैर मुझे इसके नाम से   मेरे लिए वतन से ये निस्बत भी है बहुत

फ़ातिमा हसन भविष्य में एक मज़्बूत और ख़ुशहाल पाकिस्तान का ख़्वाब देखती हैं, जो क्षेत्रवाद, जाति-वर्ण, साम्प्रदायिक कश्मकश जैसे लाइलाज मरज़ से पाक हो—

फ़ातिमा हसन की शायरी के मुख़्तलिफ़ शेड्स हैं। उनकी ग़ज़लों में जगह-जगह मुसव्विरी (चित्रकारिता) का एहसास भी होता है। अर्थ के लिहाज़ से लफ़्ज़ों का चयन उनकी कलागत महारत का पता देता है—

इक झील के किनारे परिन्दों के दरमियाँ सूरज को होते देखा था तह्लील आब में

फ़ातिमा हसन के यहाँ गज़लों के साथ-साथ नज़्में भी अपना अलग मिज़ाज रखती हैं। उनकी नज़्मों में कहानियों की फ़ज़ा बनती है। ग़ज़लों की तरह नज़्में भी रूमानी फ़ज़ा में परवान चढ़ती हैं। नज़्म 'वो एक लम्हा' के अध्ययन से फ़ातिमा हसन की शेरी सलाहियत का पता चलता है कि मुहब्बत जिस लम्हा अपनी ख़ुश्बू बिखेरती है उस ख़ास लम्हे को संवेदनशील इंसान ज़ेह्न के ग़ोशे में हमेशा के लिए क़ैद कर लेता है। वो लम्हा वस्ल और हिज्र दोनों सूरत में अहमियत रखता है। उस ख़ास लम्हे की अहमियत को औरत ज़ियादा प्रभावशाली तरीक़े से मह्सूस करती है। उसका वजूद उस लम्हे में क़ैद रहता है। इनकी नज़्मों में बड़ी जमाइयत और गहराई है।

फ़ातिमा हसन ने ग़ज़ल, नज़्म, गीत, हाइकू सभी साहित्यिक विधाओं में तब्अ-आज़माई की है। उनके मज्मूअे 'दस्तक से दर का फ़ासला' में ग़ज़लों और नज़्मों की बनिस्बत गीत और हाइकू की तादाद कम है। मैं उनके एक ख़ूबसूरत शेर पर यहाँ अपनी गुफ़्तगू ख़त्म करता हूँ—

दस्तक से दर का फ़ासला है एतमाद का
पर लौट जाने को यही ताख़ीर है बहुत

शाहिदा हसन

शाहिदा हसन चूँकि ख़ालिस ग़ज़ल की आबयारी में मस्रूफ़ हैं इसलिए इनके यहाँ ग़ज़लों में एक अलग तरह की ताज़गी का एहसास होता है। इनकी ग़ज़लों में शिगुफ़्तगी और बयान में नुद्रत है। ग़ज़ल के तक़ाज़ों के साथ-साथ वो मौजूदा दौर के तक़ाज़े भी बख़ूबी पूरा करती हैं। इनका लहजा अपने समकालीनों से अलग है। इन्हें ग़ज़ल जैसी नाज़ुक सिन्फ़े-सुख़न(साहित्य-विधा) पर दस्तरस हासिल है। फ़ातिमा हसन की तरह इनकी ग़ज़लों में भी इनका ऐनी और ज़ाती मुशाहिदा काम करता है। मज़ामीन अछूते और नयेपन का एहसास दिलाते हैं। ये अहदे-हाज़िर के उतार-चढ़ाव से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं। ये एक होशमंद और बाख़बर शायरा हैं, जिसने अपने परिवेश से जागरूक रहकर ग़ज़ल के दामन को वुस्अत बख़्शी—

कभी मैं जागते में देखती हूँ आग-ही-आग   कभी मैं नींद में पानी-ही-पानी देखती हूँ
बढ़ा रखती हूँ गरचे लौ तमन्नाओं की पैहम   बुझे दिल से हवा की पासबानी देखती हूँ

उपर्युक्त अश्आर अहदे-हाज़िर में रूनमा होनेवाले हादसों की सटीक मंज़रकशी करते हैं। ये अश्आर शाहिदा हसन की फ़नकाराना बसीरत के मज़्हर हैं। शाहिदा हसन ने क़दम-क़दम पर समाज को बेनक़ाब किया है। जहाँ स्वार्थी सत्ताधारी अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की ख़ातिर फ़ज़ा में ज़ह्र घोलते रहते हैं। मिसाल के तौर पर एक शेर नक़्ल है—

जान निकाल ली गयी ज़ेह्न सुला लिये गये   और दुआए-ख़ैर को हाथ उठा लिये गये

ये शेर पाकिस्तान की डिक्टेटरशिप के ख़िलाफ़ विरोध-आक्रोश व्यक्त करता है। शाहिदा हसन ने आज़ाद पाकिस्तान की ख़ुशहाली के गीत भी गाये और मुल्क के बदले हुए मंज़रनामे पर तब्सिरे भी किये। हर तरफ़ रिश्वतख़ोरी का दौर, बेयार-ओ-मददगार अवाम क़दम-क़दम पर वस्वसों के राक्षस, ऐसे माहौल में शाहिदा हसन ने जो मह्सूस किया उसे क़लमबन्द कर दिया—

जंगल-सा बना लिया गया है   इस देस को खा लिया गया है
इंसान नहीं रहे घर में   आसेब बसा लिया गया है
एक रात ठहर गयी है हर सू   सूरज को चुरा लिया गया है

तीसरे शेर का सानी मिस्रा शाहिदा हसन की इन्फ़िरादियत की दलील है। 'सूरज का चुरा लिया जाना' ये उनकी ख़ुद की ज़ेह्नी खोज है, जो क़ाबिले-दाद है। ऊँची-ऊँची फ़सीलों के बीच तरक़्क़ी का आफ़्ताब फँसकर रह गया। ग़रीब अवाम तक जिसकी रौशनी नहीं पहुँच सकी, इस हक़तलफ़ी से ही ताबीर किया जायेगा। एक ख़ुदा, एक रसूल और एक किताब के माननेवाले जब आपस में दस्तो-गिरेबाँ हों तो ऐसे में शायर का तड़प उठना स्वाभाविक है; कि क्या पाकिस्तान इसीलिए वजूद में आया था, क्या मस्जिदें ख़ून बहाने के लिए तामीर की गयी हैं—

वो ख़ून जो घरों से बच रहा था मस्जिद में बहा लिया गया है

शायरो-अदीब अपने माहौल का प्रतिनिधि होता है। फ़ैज़ अहमद ने जो साहित्य सृजित किया वो भी पाकिस्तानी सरबराहों की ग़लत पॉलिसी की प्रतिक्रिया कहा जायेगा। ज़ुल्मो-तशद्दुद और व्यावसायिक ज़ेहनियत रखनेवाले सियासी व्यवसायी जिन्होंने पाकिस्तान की फ़ज़ा को मुकद्दर कर रखा था। जिनके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना हौसले का काम था। फ़ैज़ और फ़हमीदा रियाज़ दोनों ने हुकूमते-पाकिस्तान के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी और दोनों देश-निकाला कर दिये गये।

शाहिदा हसन के यहाँ भी आक्रोश की आग मह्सूस की जा सकती है, लेकिन उनके यहाँ बग़ावत की आग कुछ सर्द है। उन्होंने इस आग से ख़ुद को दूर रखा। यहाँ तेवर बदले तो ज़रूर

हैं, लेकिन लहजा सँभला हुआ है—

है क़यामत बपा जो हर सू और   ढूँढ़ लायें कहीं से आँसू और

शाहिदा हसन ने जगबीती को आपबीती बनाकर ख़ुद को कोप-भाजन का शिकार होने से बचा लिया है—   *यूँ तो बहला चुकी थी ख़ुद को मैं   फिर निकल आये ग़म के पहलू और*

×× ×× ××

मकीं ख़ामोश रहते हैं जहाँ के   वहाँ दीवार और दर बोलते हैं

शाहिदा हसन के यहाँ सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता की हसीन दुनिया आबाद है। वो अन्धी सियासत के ख़िलाफ़ प्रतीकात्मक गुफ़्तगू की क़ायल हैं। ख़ुदकलामी का ये अन्दाज़ भी ख़ूब है—

कोई मह्वे-समाअत ही नहीं जब   चलो फिर अपने अन्दर बोलते हैं

बक़ौल फ़हमीदा रियाज़— "शाहिदा की तह्रीर में सबसे ज़ियादा क़ाबिले-तारीफ़ ये बात है कि उनके मज़ामीन(काव्य-विषय) आम शायरी से भिन्न होने के साथ-साथ हमेशा तरोताज़ा नज़र आते हैं—

दुआ की है साअत, मगर इक ख़ुशी   दुआ से बड़ी लग रही है मुझे

उर्दू के शायर न जाने किस रवायत के तहत इस बात का ज़िक्र बहुत कम करते हैं कि ज़िन्दगी में ख़ुशियाँ भी होती हैं और उन ख़ुशियों का ख़ैर-मक़दम शेरीयत के विरुद्ध नहीं होता। इसी तरह ताज़गी लिये हुए मज़ामीन के अश्आर मुलाहिज़ा हों—

एक तसव्वुर की तरह साथ था तो   मैं तुझे हाथ लगाती कैसे
हाथ आँखों पे धरे चलना था   रास्ता देखती जाती कैसे

×× ×× ××

नहीं सोचती अब मैं चलते हुए   कि किस सिम्त रस्ता निकल जायेगा"[1]

उर्दू की ग़ज़लिया शायरी यकसानियत का ज़ियादा शिकार हुई। एक ही मौज़ूँ जब बार-बार दुहराया जाता है तो तबीयत खट्टी हो जाती है। वो शख़्स जिसने हिजरत के दुख उठाये ही न हों जब वो हिजरत और दर-बदरी का रोना रोता है तो हँसने की तबीअत चाहती है। हर बड़ा शायर लकीर का फ़क़ीर कभी नहीं रहा। मुशायराबाज़ शायरों के यहाँ ये प्रयोग कुछ ज़ियादा देखने में आती है। शाहिदा हसन के कलाम की यही ख़ूबी है कि उन्होंने मौज़ू के साथ पूरा-पूरा इंसाफ़ किया है। उनके यहाँ इन्फ़िरादियत बरक़रार है। प्रचलित डगर से हटकर उन्होंने अपनी अलग राह हमवार की है। जहाँ हिज्रो-विसाल के क़िस्से भी हैं और शिकवा-शिकायत भी, लेकिन जो भी मज़ामीन शाहिदा हसन ने बाँधे हैं उनमें एक नया हुस्न पैदा कर दिया। मिसाल के तौर पर चन्द अश्आर नक़्ल हैं—

हो रही हूँ मैं भी अब रुख़्सत-तलब   शाम भी अब अपने घर जाने को है

×× ×× ××

कई दिन से दिल मुत्मइन-सा नहीं   कहीं इक कमी लग रही है मुझे
ये शादाब शाख़े-बदन शाम से   तुझी पर झुकी लग रही है मुझे

×× ×× ××

जाने रिफ़ाक़तों का पास किसको रहा किसे नहीं
सबसे मिला वो मेरे बाद और किसी-किसी से मैं

इन अश्आर में बला की सादगी और बरजस्तगी है। बड़ी-सी-बड़ी बात दो मिस्रों में कह दी गयी। ख़ौफ़-ओ-हिरास के अँधेरे में एक मश्रिक़ी औरत शक-ओ-शुब्हात की आग में रोज़ जलती-बुझती रहती है। शाहिदा हसन के यहाँ औरत के मनोविज्ञान का भरपूर जायज़ा पेश किया गया है—

कटी उम्र सारी इसी ख़ौफ़ में   कि छुपकर मुझे देखता है कोई

और जब यही शक-ओ-शुब्हात की आँच तेज़ होती है तो हज़ारों वस्वसे जन्म लेने लगते हैं—

ये मेरे वजूद में पल रही है जो रौशनी   यही रौशनी मुझे मार दे कहीं ये न हो
मुझे अपनी शर्त पे जीत लेने के बाद भी   किसी मस्लेहत पे वो हार दे कहीं ये न हो

इन अश्आर में जगह-जगह औरत का मनोविज्ञान काम कर रहा है। उपर्युक्त अश्आर समाज में पेश आनेवाले वाक़िआत की मुकम्मल तस्वीर हैं। जहाँ रंजो-ग़म, यासो-नाकामी के साथ-साथ उम्मीद और हौसले के साये-साये अना और ख़ुद्दारी का एहसास भी होता है—

बुलाती है मुझे भी साहिलों की धूप लेकिन असीरे-हलूक़ए-दीवार रहना चाहती हूँ

शाहिदा हसन के ये अश्आर मश्रिक़ी तह्ज़ीबी विरासत का हिस्सा हैं। शाहिदा के यहाँ पुराने मज़्मून नये तौर-तरीक़ों के साथ अदा किये गये हैं। यही वज्ह है कि उनके अश्आर पढ़ने-सुनने को अपनी तरफ़ ख़ुद-ब-ख़ुद मुतवज्जो करते हैं—

जो उतरे थे इसमें वो पलटे नहीं   ज़मीं में कोई रास्ता है कहीं

×× ×× ××

खुला न भेद कि इस तिश्नगी में क्या कुछ था   बस एक बूँद से सैराब हो गयी मैं भी

×× ×× ××

करूँ क्यूँ याद तेरे ख़ालो-ख़त को   शिकस्ता आइने चुनती नहीं मैं

शाहिदा हसन के उपर्युक्त अश्आर वैचारिक नवीनता और मौलिकता के अमीन हैं। इनकी ग़ज़लें कैफ़ियत से भरी हैं और दिल को छूती हैं। शाहिदा हसन की ग़ज़लिया शायरी अपनी नुद्रत, नये उस्लूब, ज़बान-ओ-बयान की सादगी और साफ़गोई के कारण अवाम-ओ-ख़वास दोनों हल्क़ों में सराही जायेगी। निम्नलिखित अश्आर से मेरी राय और अधिक स्पष्ट हो जायेगी—

मेरे पास तू है तेरे पास मैं   यही ज़िन्दगी लग रही है मुझे
कहीं ये भी अश्कों की आहट न हो   बज़ाहिर हँसी लग रही है मुझे

×× ×× ××

ये दुख ख़त्म हो जानेवाला नहीं   किसी और पैकर में टल जायेगा
तहे-खाक धरने की है देर बस   अचानक ही सब कुछ बदल जायेगा

×× ×× ××

कभी चुपचाप कट जाती हैं उम्रें कभी लम्हें ठहरकर बोलते हैं

छोटी बह्रों में कहे गये अश्आर अपने अन्दर समन्दर की-सी गहराई रखते हैं। मैं शाहिदा हसन को उनकी सच्ची और पक्की शायरी पर मुबारकबाद देता हूँ।

सन्दर्भ :

1. 'कि किस सिम्त रस्ता निकल जायेगा', दुनियाज़ाद (रिसाला), कराची, अप्रैल 2001, सम्पा.- आसिफ़ फ़रुख़ी, पृ. 69

(मूल उर्दू से अनुवाद : नूरुल एस. अंसारी)

वसीम बरेलवी
5, जमुनाप्रसाद रोड
बरेली (उ. प्र.)
मो.– 09412485477

वसीम साहब के सिल्सिलेवार चल रहे आत्मकथ्य का ये दूसरा भाग है। 'ग़ज़लकार' के पहले अंक में जो अंश प्रकाशित हुआ था उस पर बहुत-सी प्रतिक्रियाएँ आयीं; उनका ज़िक्र फिर कभी। इतना ज़रूर है कि पिछले अंक की मक़्बूलियत अधिक रही।

बैनुलअक़्वामी सत्ह पर हिन्दुस्तानी शायरों की नुमाइन्दगी करनेवाले वसीम साहब की कई किताबें हिन्दी और उर्दू में आ चुकी हैं। 'तबस्सुमे-ग़म'(उर्दू), 'आँसू मेरे दामन तेरा'(हिन्दी), 'मेरा क्या'(हिन्दी-उर्दू), 'मौसम अन्दर बाहर के'(हिन्दी), 'आँखों-आँखों रहे'(हिन्दी-उर्दू), 'मिज़ाज' (उर्दू), 'आँख आँसू हुई'(हिन्दी) इनके प्रमुख काव्य-संग्रह है। जगजीत सिंह तथा अन्य ग़ज़ल गायकों के माध्यम से भी इनकी ग़ज़लें लोगों तक पहुँचती रहती हैं।

मुशायरों की दुनिया और किताबों-पत्रिकाओं के बीच एक शायर ही नहीं, बल्कि शायरी की जो जद्दोजहद है, वो वसीम साहब के इस सिल्सिलेवार लेख से सामने आती है। इनका दर्द और इनकी तकलीफ़ें हर उस शायर को मुतास्सिर करती हैं, जो ग़ज़ल में करता तो किसी से गुफ़्तगू है, मगर उसे काग़ज़ और सियाही में क़ैद करना पड़ता है। शायरी सुनने और सुनाने की चीज़ पहले है पढ़ने और पढ़ाने की चीज़ बाद में। अगले अंकों में भी इंशाअल्ला ये सिल्सिला जारी रहेगा।

वसीम बरेलवी

कुछ इस तरह जिया हूँ-2

दरअस्ल तख़्लीक़ी(सृजनात्मक) दुनिया के तमाम पसमंजरी(पृष्ठभूमि) हाशियों पर इन्फ़िरादियत कामरानियों या महरूमियों के चिह्न सिब्त होते हैं, न किसी एक शख़्स का एहसास किसी बड़े तर्ज़े-फ़िक्र का रास्ता निर्धारित करता है। मुख़्लिसीने-अदब का फ़र्ज़ है कि वो ख़ालिस इल्मी-ओ-अदबी तनाज़ुर(परिप्रेक्ष्य) में शख़्सियतों या संस्थानों का जायज़ा लें और अदबी कमिटमेण्ट की रहनुमाई में जब उनके फ़ैसले होंगे तो व्यक्तिगत पक्षपात या ज़ाती महरूमियों के इन फ़ैसलों पर प्रभावी होने की सम्भावना कम होगी। वैसे तो कभी भी ज़ाती पसन्द-ओ-नापसन्द से मुक्त न कोई अदबी तहरीर लिखी गयी न किसी अदबी शख़्सियत पर तब्सिरा हुआ, मगर माज़ी(अतीत) के साहित्यकार और आलोचक अपनी ज़ाती पसन्द-ओ-नापसन्द के मुक़ाबले में अदबी विशेषताओं की हिफ़ाज़त को अपनी पहली ज़िम्मेदारी समझते थे, जिसका चलन इस लाभ-हानि देखनेवाले युग में काफ़ी हद तक ख़त्म हो चुका है। नतीजे में हमें वो बेग़रज़ी-ओ-बेनियाज़ी की फ़ज़ा नहीं मिलती जहाँ तहरीर लोबान की तरह महके और फ़िक्र-ओ-नज़र की तर्बियत करे। आज तो पता नहीं कौन कौन-सा लेबल लगाकर बाज़ार में आता है, कौन किस बैसाखी पर खड़ा होकर क़दआवरी(क़द्दावरी) का दावेदार हो रहा है इसका हिसाब करनेवाले ही ग़ायब हो गये, कोई किसी के मुँह नहीं लगना चाहता। कोई किसी से झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता। स्वार्थ की सलीब पर तहज़ीबी उत्थान को चढ़ाया जा रहा है और अदब के आला व्यक्तियों का विचार कमज़ोर और ख़ामोश है। तरक़्क़ीपज़ीर(विकासशील) मुल्कों में इस तरह की दुखद स्थिति कोई नयी बात नहीं और हमें इस हौसला पस्त करनेवाले माहौल से मायूम होने की भी कोई ज़रूरत नहीं, मगर बदलते हुए हालात के तक़ाज़ों को कोई भी अदबी फ़ैसला करने से पहले नज़र में ज़रूर रखना चाहिए और उपलब्धियों की उम्मीद भी साहित्यकारों से इसी पसमंजर में होनी चाहिए।

मैं ये कहने की धृष्टता करूँगा कि रिसायली(पत्र-पत्रिकाओंवाली) और महफ़िली शायरी के जो रंग पिछले 30 साल से उभरकर सामने आये हैं उन पर कोई भी तब्सिरा अगर ईमानदारी से किया जाये तो दोनों दुनिया के क़ाबिले-ज़िक्र कारनामे बहस का विषय बनना चाहेंगे और तख़्लीक़कारों की ज़ेहनी फ़ज़ा को ज़ेहन में रखकर उनकी तख़्लीक़ी कारगुज़ारियों के पीछे साँस लेनेवाले असरी अवामिल(युगीन परिस्थितियाँ, तत्कालीन क्रिया-कलाप आदि) की पूरी तरह निशानदेही किये बग़ैर कोई भी फ़ैसला सही नहीं हो पायेगा, मगर इस बड़े काम के लिए आलोचकों को जिस आर्थिक समृद्धि, साधनों की पर्याप्त उपलब्धता और स्पष्ट स्वीकार्यता की ज़रूरत है; उन सबकी बहुत कमी होने की वज्ह से उनके मूल्यांकन-विश्लेषण नामुकम्मल, निर्णय अधूरे और

फ़ैसले व्यक्तिगत मनोदशा की उधेड़बुन के शिकार होकर रह जाते हैं। अदब की समग्र और सच्ची विशेषताएँ तभी परवान चढ़ सकती हैं जब उनकी पुश्तपनाही(पृष्ठ-पोषण या पक्ष-पोषण) सन्तुलित और निष्पक्ष ज़ेह्न करें। मह्रूमियों और मायूसियों के सताये हुए ज़ेह्न जज़्बाती-ओ-एहसासाती उतार-चढ़ाव की मारी हुई फ़िक्र(सोच) तख़्लीक़ी अदब की आला क़द्रों(विशेषताओं, गुण आदि) की हिफ़ाज़त किस तरह कर पायेगी, ये ज़रूर सोचने की बात है। फलस्वरूप आज के युग की आलोचना की दिशाहीनता, वैचारिक व्यतिक्रम और अराजकता इस बात का सुबूत है कि तन्क़ीदे-शेर निष्पक्षता और अन्याय के ख़ौफ़ से बेनियाज़(विमुख) हो चुकी है। साहित्यालोचना के सन्दर्भ में निष्पक्ष मूल्यांकन का न होना ऐसे अदबी गदागरों(भिखारी, फ़क़ीर) की तादाद बढ़ा रहा है कि उनसे किसी भी युग के अदब का उत्थान और सुदृढ़ता कम, शर्मिन्दगी ज़ियादा है। मेरी इस तमाम उलाहना या नुक़्सान गिनाने का हासिल ये नहीं कि मैं उर्दू-अदब के भविष्य में उच्चस्तरीय सृजनात्मक पक्ष से मायूस हुआ हूँ।

मैं सिर्फ़ इतना अर्ज़ करना चाहता हूँ कि हर साहिबे-फ़िक्र-ओ-एहसास को बग़ैर शख़्सियात को निशाना बनाये हुए अलग-अलग दृष्टिकोण से ये बहसें ज़रूर जारी रखना चाहिए, ताकि जिन तालाबों में पानी मर रहा है वहाँ गन्दगी को पनपने का मौक़ा न मिले और अदबी उद्देश्यों से जुड़े हुए लोग, तन्हाई में ही सही, ऐसी तह्रीरों की रौशनी के सहारे ख़ुदफ़ह्मी(ख़ुद को समझना, आत्म-निरीक्षण) के मरहले(सोपान) से गुज़रें और ज़ाती कमज़ोरियों से उठकर आला अदबी क़द्रों के विकास के लिए क़लम-फ़र्साई कर सकें। ये भी ज़रूरी नहीं कि मेरे इस लेख के हर-हर लफ़्ज़ से इत्तफ़ाक़ किया जाये, मगर ये ज़रूर है कि बस लेखन-सृजन की ईमानदारी पर सोचा ज़रूर जाये। मैं अपनी तमामतर ख़ाकसारी को गवाह बनाते हुए ये कहना चाहूँगा कि फ़न से ईमानदारी बरतना मेरा अक़ीदा(श्रद्धा) ही नहीं मेरा मिज़ाज भी है, मेरी ईमानदारी को कोई ईमानदार आलोचना पहचान पाये तो मुझ पर कोई एहसान नहीं करेगी, बल्कि उस अदबी तसल्सुल(साहित्य-परम्परा) के साथ इंसाफ़ करेगी जिसका वो ख़ुद भी हिस्सा है।

बचपन से ज़िन्दगी में बड़े उतार-चढ़ाव देखे, जिनके विस्तार में सरे-दस्त न जाते हुए आइए उस अतीत की आँखों में झाँकने की कोशिश की जाये, जिसका ताल्लुक़ मेरे तख़्लीक़ी सफ़र(सृजन-यात्रा) की इब्तिदा से है। शायरी की दुनिया में जब आँख खोली तो चन्द नामों की बड़ी गूँज थी। जिगर, जोश, 'फ़ैज़', फ़िराक़, अहमद नदीम क़ासिमी और हफ़ीज़ जालन्धरी वग़ैरह। मैं इन्हें चूँकि अध्ययन के ज़माने से ही क़रीब पाता था इसलिए जोश मलीहाबादी को पढ़ा तो उनकी नज़्मनिगारी का तो क़ायल हुआ, मगर वो पूरे तौर पर मेरे नहीं हो सके। जिगर मुरादाबादी को जब ग़ौर से पढ़ा तो लगा कि उनकी शायरी का वालिहानापन(प्रेमियों जैसा भाव या प्रेम का भाव) झिंझोड़ तो देता है मगर प्रभावकारिता के स्तर पर वजूदी लामुतनाहियों का शरीके-सफ़र नहीं हो पाता। फ़िराक़ गोरखपुरी के यहाँ अजीब मामला मिला; कभी वो बहुत अज़ीम लगते कभी बड़े अदना दिखायी देते। कई बार तो ऐसा मालूम होता कि एक ही ग़ज़ल के दो शेर दो आदमियों ने कहे हों। इतना ज़रूर था कि इनकी फ़िक्र के विभिन्न आयामों में जहाँ-जहाँ उनके लफ़्ज़ उनके ख़याल का साथ दे पाते वहाँ बात फ़िराक़ की इन्फ़िरादियत(विशिष्टता) मनवाये बग़ैर नहीं छोड़ती। फ़ैज़ बड़े अपने-से लगे उनकी शायरी में ऐसा मह्सूस हुआ कि जैसे ग़ज़ल का तह्ज़ीबी रख-रखाव अपने लिए किसी ऐसे लफ़्ज़ी लिबास की तलाश में है जो आँखों को भी अच्छा लग रहा है और ज़ेह्न को भी छू रहा हो।

फ़ैज़ ने बग़ावतें नहीं कीं, मगर अपनी शायरी के ज़रिअे ग़ज़ल को बीसवीं सदी की छठीं-सातवीं और आठवीं दहाई के होने का एहसास दिलाया, शायद यही फ़ैज़ की पहचान है। उन्होंने

बिल्कुल नयी तरह से प्रभवित किया। एक नाम और था जो बार-बार अदबी हल्क़ों में लिया जाता और वो था मजाज़ लखनवी का। मजाज़ की शायरी से परिचय तो बाद में हुआ, मगर पहले उनकी हास-परिहास की बातें, उनकी रूमानी महरूमी और उनकी शराबनोशियाँ ज़ियादा ज़िक्र में आयीं। उनकी शायराना ज़िन्दगी की दुश्वारियों में इक ऐसी कशिश दिखायी दी कि उनको और उनकी शायरी को विस्तार से जानना चाहा, मगर जब दोनों का अध्ययन किया तो अन्दाज़ा हुआ कि उनका जो अदबी क़द निश्चित-निर्धारित करने की कोशिश हो रही है उसमें बड़ा हाथ या तो उस जज़्बा-ए-हमदर्दी का है जो ऐसे बेख़ुद और मतवाले शायर के हालात का दिया हुआ है या उस जज़्बए-ख़ुदकुशी का है जो शायर की नाकामियों ने उसका मुक़द्दर बना दिया है या फिर अलीगढ़ से वाबस्तगी का है जहाँ उसकी जज़्बाती ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव महफ़िलों से लेकर निहाँख़ानों तक चर्चा का विषय बने हैं या उस तरक़्क़ीपसन्द तहरीक का है जिसका वे अपने होश के समय में सक्रिय स्तम्भ रहे। मजाज़ की चुटियल शख़्सियत से हमदर्दी तो हुई। उसकी कशिश से भी इन्कार नहीं किया जा सकता, मगर मजाज़ की शायरी चन्द नग़्मों के अलावा कोई असर नहीं छोड़ सकी जिसकी हमसफ़री देर तक प्रभाव डालती।

अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़ ने मुख़्तसर-से इंतख़ाबात(लघु संकलन) छापे थे। उस अहद के शायरों में अहमद नदीम क़ासमी का भी इंतख़ाब नज़र से गुज़रा तो उनकी फ़िक्र के नये रवैयों ने प्रभावित किया। उस युग के दीगर शायर को भी पढ़ा-समझा, मगर लौट फिरकर नज़र जाती तो मीर-ओ-फ़ानी पर ही जाती, जो तन्हाई-ए-दिल की सतह पर अपनी अज़्मते-फ़न का लोहा मनवाते दिखायी देते।

शायर के पास न कोई तयशुदा नज़रिया होता है न कोई निश्चित रास्ता और प्रोग्राम। बस एक धुआँ-सा उठता है और उठता रहेगा। सवाल ये है कि दिल में लगी हुई आग का हासिल धुआँ कब मुनासिब अल्फ़ाज़ पा सके, यहीं शायरी मुतवज्जो(ध्यानाकृष्ट) करने की मंज़िलों में पहुँची है। परिणामस्वरूप जवानी की शुरूआत या आग़ाज़े-सफ़रे-शऊर के दौर में ज़ाती और सिर्फ़ ज़ाती दर्द होता है, जिसको कभी समस्याओं की आँच शेर बनाने की कोशिश करती है और कभी कोई रूमानी जज़्बा या उसकी कोई महरूमी बहुत छोटी-सी होती है। शुरू में शायर सिर्फ़ अपनी ज़ाती और अपनी ज़ात से जुड़े हुए चन्द कामचलाऊ या उत्तेजनात्मक विषयों से अपना तख़्लीक़ी सफ़र शुरू करता है। मैं नहीं कह सकता कि उस वक़्त मेरे पास कहने को क्या था और अगर था तो मैं उसका इज़्हार क्यों करना चाहता था, मगर जो चीज़ शेर बनी उसका कहीं-न-कहीं इन दोनों बातों से रिश्ता ज़रूर है। मेरे इब्तिदाई अश्आर में कुछ इस तरह के शेर मिलते हैं जिससे मेरी उस दौर की ज़ेह्नी कैफ़ियत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है—

ख़ूब समझे हयात का मफ़्हूम
लब तबस्सुम से हो गये महरूम
हँस रहा हूँ कि लोग हँसते हैं
दिल की हालत किसी को क्या मालूम

×× ×× ××

ये इब्तिदाए-शब, ये लरज़ती हुई-सी लौ
अय शम्अ क्या तुझे भी उमीदे-सहर नहीं

×× ×× ××

बमसलहेत भी अगर दिल की आग कम होगी
तो इक तरह से ये तौहीने-रस्मे-ग़म होगी

बसी हुई है मेरी ग़मनवाज़ नज़रों में
वो रात जिसमें चराग़ों की उम्र कम होगी

आज भी उस ज़ेह्नी फ़ज़ा को याद करता हूँ तो उन काँटों की चुभन मह्सूस किये बग़ैर नहीं रहता जो कभी किसी बहाने तो कभी किसी उन्वान इस ज़ेह्नी फ़ज़ा का हिस्सा थे। शायद यही वो तल्ख़ियों से जूझता हुआ सब्रआज़्मा दौर है जिसने दूर तक सोचने और देर तक ग़ौर करने की हर उन्वान से हिम्मत दी और मैं रफ़्ता-रफ़्ता शायरी को मोतबर-तरीन ज़रिआ-ए-तस्कीन(संतुष्टि का माध्यम) और ज़रिआ-ए-तज़्किया-ए-नफ़स(आत्म-शुद्धि) समझने पर मजबूर होता गया। मुझे कुछ ऐसा लगा कि ये शायरी क़ुद्रत ने फ़ज़ाओं, हालात और वक़्त के दिये हुए सारे ज़ह्र से मुक़ाबला करने के लिए एक आला मुक़ावमत(स्पर्धा) के तौर पर मुझे अता की है और मुझे अपने अन्दर के शैतान से लेकर बाहर तक की शैतानियत से जूझने के लिए एक ऐसी हिम्मत के तौर पर दी है जो लफ़्ज़ों की ज़बान में बोलती है, मगर रूहों को क़ैद करने शक्ति है, ये कोई मामूली तोह्फ़ा नहीं, क़ुद्रत के करम ख़ास की देन है और जो इस देन का इस्तेमाल बड़े उद्देश्य के लिए नहीं कर पाते उनकी मह्रूमी का सिर्फ़ मातम ही किया जा सकता है।

मैंने पीछे कुछ मुशायरों की बात छेड़ी थी, जिससे मेरा चोली-दामन का साथ रहा है और जहाँ मैंने मुशायरों की फ़ायदों की तरफ़ पाठकों को मुतवज्जो करना चाहा है, वहीं मुझे ये स्वीकार करने में भी कोई झिझक नहीं कि महज़ मुशायरे न अदब हैं न अदबी ऐतबार, मुशायरों की बाहरी और अन्दरूनी दुनिया भी बड़े विवादों का शिकार है। मुझे ये कहने में भी कोई मज्बूरी नहीं कि मुशायरे कोई बहुत बड़ी ख़िद्मत अंजाम दे रहे हैं या ये दुनिया ग़ैर-मेआरी हथकण्डों से ख़ाली है, ऐसा भी नहीं। मुशायरे के सफ़र पर नज़र डालता हूँ तो ऐसे-ऐसे तज्रबात सामने आ खड़े होते हैं जिनकी विस्तार में जाऊँ तो किताबें लिख जाऊँ, मगर न ये विस्तार आम तौर पर कोई अदबी फ़र्ज़ अंजाम दे सकता है न इनकी कोई मेआरी हैसियत है। इतना ज़रूर है कि 30-35 साल पहले के मुशायरों और आज के मुशायरों में ज़मीन-आस्मान का फ़र्क़ दिखायी देता है। मुशायरा हिन्दुस्तान ही नहीं पाकिस्तान, दुबई, शारजाह, मस्क़त, क़तर, अलैन, शुमाली अमरीका, इंग्लैण्ड, कनाडा, डेनमार्क, और अबू ज़हबी कहाँ नहीं होते। हिन्दुस्तान में भी मुशायरे क़स्बों, मेले-ठेलों से लेकर रेडियो, टेलीविज़न, एकेडमीज़, आला तालीमी दर्सगाहों(शिक्षण संस्थान), शह्र के आला सांस्कृतिक केन्द्रों, देहली, बम्बई, कलकत्ता, हैदराबाद, लखनऊ सभी जगह होते हैं, मगर इन तमाम मुशायरों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि अलग-अलग ज़रूर होती है। शह्री कल्चर के माहौल में होनेवाले मुशायरों के चाहनेवाले यक़ीनन् वो नहीं होते जो क़स्बों और मेलों के मुशायरों में देखने-सुनने को मिलते हैं। उस पूरी दुनिया को विस्तार से पेश करने की तमन्ना ज़रूर है, मगर अभी मैं सरे-दस्त ये अर्ज़ करना चाहूँगा कि इन शेरी मह्फ़िलों के ज़रिअे जो उर्दू-शायरी लोगों तक पहुँचती है उसकी कशिश अलग-अलग ज़ेह्नी सत्हों को एक लड़ी में पिरो देने का का एक ऐसा हुनर ज़रूर जानती है जो क़ाबिले-रश्क है। ख़ालिस अवामी मुशायरों की मानसिकता के चलते, जहाँ श्रोता की पसन्द पर बहुत-से ऐसे शायर बुलाये जाते हैं जिनका शेरो-अदब से कुछ लेना-देना नहीं होता, उनकी सिर्फ़ इस ख़िद्मत का समर्थन किया जाना चाहिए कि वो उर्दू को क़ाबिले-क़ुबूल बनाने का काम अंजाम दे रहे हैं। भले ही कोई अदबी ख़िद्मत अंजाम दे रहे हों या नहीं, उन्हें उर्दू के प्रचार-प्रसार मिशन का एक हिस्सा मानें। इसके बाद ऐसे मुशायरे हैं जिनके आयोजक पढ़े-लिखे होते हैं और वो किसी तरह मुशायरे को अदब से जोड़ने की कोशिश में व्यस्त नज़र आते हैं। परिणामस्वरूप जहाँ पब्लिक के पसन्द से शायरों को बुलाने को वो मजबूर होते हैं वहीं कुछ ऐसे शायरों को भी

बुलाते हैं जिनसे मुशायरे का अदबी वक़ार(शोभा, प्रतिष्ठा) बुलन्द हो। एकेडमीज़, तालीमी दर्सगाह, टी. वी., रेडियो पर ऐसे शायरों की अधिकता होती है जिनका पत्र-पत्रिकाओं और किताबों से ताल्लुक़ हो। अब ये अलग बात है कि ऐसे लोग कहीं-कहीं हैं जिन्हें क़ुबूले-आम की सनद हासिल हो। सरकारी और अर्द्धसरकारी मुशायरों में ऐसे लोग भी देखने को मिलते हैं जो सियासी सिफ़ारिशों के मर्हूने-मिन्नत (कृपापात्र, आभारी) होते हैं। मुशायरे का ये पहलू बहुत ही अजीब है कि मुशायरे का आम श्रोता भी भले ही वक़्ती तौर पर दादो-वाह-वाह के सैलाब में ग़ैर-मेआरी कलाम पर बह जाये, मगर एहतराम की नज़र से उन्हीं को देखता है जिनके पास कुछ अदबी सरमाया(साहित्यिक पूँजी) भी है। मुशायरा चूँकि बड़ी हद तक कॉमर्शियल हो चुका है, लिहाज़ा अवामी मह्फ़िलों से लेकर ख़ास आयोजनों तक शायर का सनदे-क़ुबूलियत पाना और डाइस पर मोतबर ठहरना शायर और आयोजक दोनों के लिए ज़रूरी है। नाकामी दोनों को मर्तबा-ए-ऐतबार से गिरा देती है। दरअस्ल मुशायरे में सिर्फ़ वही शायरी छाप नहीं छोड़ती जो अच्छी हो, बल्कि उसके लिए अच्छी तरह पेश किया जाना भी ज़रूरी है, यानी शायर का परफ़ॉर्मर होना भी लाज़िमी है। कुछ बहुत अच्छे शायर इस बुरे अन्दाज़ से अपना शेर पढ़ते हैं कि अपने फ़िक्री सरमाये की अज़्मत का समर्थन करवाने में नाकाम रहते हैं और इस तरह डाइस की नाकामी उनके हौसले को पस्त कर देती है। मुशायरा तख़्लीक़ी हुनर को इज़्हार के तमाम कस-बल के साथ पेश करने का एक ऐसा प्लेटफार्म है जो दुनिया की किसी दूसरी ज़बान के पास नहीं और जिन्हें क़ुद्रत ने ऐसी सलाहियत(योग्यता-पात्रता) से नवाज़ा है कि उनके फ़न की स्वीकार्यता हुए बग़ैर रह ही नहीं सकती। दीगर ज़बानों में शायरी छपती है, पढ़ी जाती है और उसका रद्दे-अमल भी तन्क़ीदी तह्रीरों के ज़रिअे लोगों तक पहुँचता है और उसी से शोअरा के अदबी क़द का निर्धारण होता है, लेकिन उर्दू के पास शेर को लोगों तक पहुँचाने का ये ग़ैरमामूली प्लेटफार्म है तो इसकी अहमियत महज़ ये कहकर कम नहीं की जा सकती कि शायरी तो ख़ामोशी से पढ़े जाने की चीज़ है, मह्फ़िलों में सुनायी जाने की चीज़ नहीं। मेरे ख़याल में तो मह्फ़िल में शायरी पढ़े जाने के बाद जितने तज्रबों से गुज़रती है उसकी महज़ बाज़याफ़्त ही तख़्लीक़ी शेर के लिए एक बड़े सरमाये का काम कर सकती है। और अधिक बहस में न जाते हुए अगर मैं यही कहूँ तो काफ़ी होगा कि शायरी पढ़ी जाये और तह्रीर में आये और दोनों सूरतों में अपनी मेआरी कशिश को बरक़रार रख सके तो इसकी अहमियत से इन्कार नहीं किया जाना चाहिए।

इस सिल्सिले में दो वाक़िअे सुन लीजिए। कुछ अर्से पहले मैंने एक रेडियो के तरही मुशायरे के लिए ग़ज़ल कही थी जिसे बहुत-से मुशायरों में पढ़ने का इत्तिफ़ाक़ हुआ और जहाँ पढ़ी गयी वहाँ सराही गयी। कुछ अर्सा बाद 'शायर' के सम्पादक बाँदा के एक मुशायरे में मिले। इत्तिफ़ाक़ से वहाँ मैंने यही ग़ज़ल पढ़ी—

जहाँ रहेगा वहीं रौशनी लुटायेगा
किसी चराग़ का अपना मकाँ नहीं होता

इस शेर का हवाला देकर उन्होंने ये कहकर मुबारकबाद दी कि अगले माह किसी पाकिस्तानी डायरी से मुंतख़ब अश्आर(चुनिन्दा शेर) 'शायर' के सरवरक़ पर प्रकाशित हो रहे हैं, उनमें ये शेर भी है। मैं मुस्कुराकर बस इतना ही कह सका कि चलिए 'शायर' के सरवरक़ तक पहुँचने के लिए मेरे शेर को पाकिस्तान तक का सफ़र करना पड़ा। दरअस्ल ख़ता उनकी भी नहीं थी, जब कलाम भेजा ही नहीं जायेगा तो कोई सम्पादक छापेगा क्या। **(शेष अगले अंक में.....)**

(मूल उर्दू से अनुवाद : दीपक रूहानी)

फ़ैज़ ख़ुमार बाराबंकवी
K- 95, ग़यास मार्केट,
कटरा, बाराबंकी (उ. प्र.)
मो.– 09026517831, 09889580167

ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि किसी बड़े शायर के बेटे–बेटियाँ या नाती–पोते शायरी को अपना शग़्ल बनायें। ऐसा ग़ालिबन् कई कारणों से होता होगा, लेकिन फ़ैज़ ख़ुमार का ग़ज़ल के प्रति लगाव और उनकी सक्रियता देखकर एक सुखद अनुभूति होती है। फ़ैज़ ख़ुमार की अधिक सक्रियता फिल्हाल मुशायरों में है। अगर ये मंचीय ख़त्रों से आगाह रहे तो ग़ज़ल को विकसित करने में सार्थक योगदान दे पायेंगे। फ़ैज़ ख़ुमार 'ख़ुमार मेमोरियल एकेडमी, बाराबंकी' के सेक्रेट्री भी हैं।

ख़ुमार साहब को कौन नहीं जानता और मानता। जदीदियत के दौर में भी ख़ुमार साहब ट्रेडिशलन स्टाइल की ग़ज़लें सुनाकर श्रोताओं को क़ायल कर देते थे और मुशायरे लूट लिया करते थे। ख़ुमार साहब मुशायरों की तहज़ीब के आख़िरी नुमाइन्दा थे, अगर दूसरे शब्दों में कहें तो ख़ुमार साहब क्लासिकल शायरों की अन्तिम कड़ी थे। यहाँ इस लेख में खुमार साहब की शायरी पर कोई तब्सिरा नहीं है, बस उनके बारे में तथ्यात्मक बातें हैं, कोशिश रहेगी कि अगले किसी अंक में ख़ुमार साहब पर कोई तह्क़ीक़ी मज़्मून प्रकाशित हो।

फ़ैज़ ख़ुमार बाराबंकवी

मेरे दादा ख़ुमार बाराबंकवी

मैं वो ख़ुशनसीब पिसरज़ादा हूँ जिसे आबरू-ए-ग़ज़ल हज़रते ख़ुमार बाराबंकवी की गोद ही नहीं, बल्कि उनकी सीरत भी मिली। मुझे बहुत अच्छी तरह से याद है जब मैं छोटा था, आसपास में कोई भी मुशायरा होता तो मैं दादा जान और अपने वालिद से ज़िद करता कि मैं भी चलूँगा, फिर उनके साथ मैं चला जाता। पूरी रात मुशायरा सुनता, फिर सुबह घर वापस आता। शाम के वक़्त जब सब घर के लोग बैठते तो दादा जान कहते कि कल मुशायरे में मैंने क्या पढ़ा था? वो ग़ज़ल सुनाओ। मैं उनकी ग़ज़ल सबको सुनाता तो दादा और सब लोग बहुत ख़ुश होते और बहुत ही दुआ देते। मैं अपने भाइयों में सबसे छोटा था, इसलिए दादा के बेहद क़रीब था। स्कूल के बाद मैं उनके आस-पास ही रहता था। जब वो मुशायरे जाते तो उनका इन्तिज़ार करता कि कब आयेंगे। दादा जान के साथ अक्सर बाज़ार जाता तो रास्ते में सैकड़ों लोग सलाम करते; दादा जान सबको यही कहते 'जीते रहिए', 'ख़ुश रहिए'। अल्लाह पाक ने उनको एक बहुत-ही अच्छा इंसान बनाया था। उनके अन्दर हर ख़ूबी थी। एक बहुत बड़ा शायर होने के बावजूद, दुनिया में इतना नाम होने पर भी उनको ज़रा-सा भी घमण्ड नहीं था। दादा जान ने अपनी ज़िन्दगी बिल्कुल सादगी से गुज़ारी।

हमारे घर में शायरी का माहौल लगभग 150 सालों से चल रहा है। मेरे दादा जान के वालिद जनाब 'बहार' बाराबंकवी साहब भी शायर थे और दादा जान के चचा क़रार बाराबंकवी साहब उस्ताद शायर थे। मेरे दादा जान ने अपने दीवान 'आतिश-ए-तर' में लिखा है कि उनका न कोई उस्ताद है और न कोई शागिर्द है। दादा जान ने अपने चचा क़रार बाराबंकवी से ज़बान की हद तक इस्लाह ली है।

घर में शायरी के माहौल की वज्ह से मेरा लगाव उर्दू-अदब से बढ़ता रहा, पर मैंने कभी सोचा नहीं था कि मैं इस दुनिया में भी क़दम रखूँगा। सन् 2001 में मेरे वालिद जनाब 'सुरूर' बाराबंकवी साहब का इंतक़ाल हो गया। बाराबंकी में अदबी कारगुज़ारियों के लिए जानी जानेवाली संस्था 'अफ़्कार' ने उनकी याद में एक नशिस्त(गोष्ठी) की। मेरे दोस्त जनाब अफ़्सर बाराबंकवी ने कहा कि नशिस्त में आना और सुरूर साहब की एक ग़ज़ल पढ़ देना। 23 अगस्त 2001 को मैं गया। जब वहाँ पहुँचा तो देखा वहाँ बहुत भीड़ है। निज़ामत जो साहब कर रहे थे जब उन्होंने मुझे आवाज़ दी तो मैं ज़रा घबरा भी रहा था। ख़ैर मैंने अपने वालिद साहब की ग़ज़ल का मत्ला पढ़ा—

कुछ तो तस्कीन बह्रे-ख़ुदा दीजिए
जाते-जाते ज़रा मुस्कुरा दीजिए

वहाँ मुझे बहुत दाद मिली, दिल ख़ुश हुआ। उस नशिस्त में निहाल रिज़्वी साहब सदारत कर रहे थे। उन्होंने मुझे दुआ दी और कहा तुम कल 'ख़ुमार मेमोरियल एकेडमी' आ जाओ। वहाँ फ़िल्मी अभिनेत्री वहीदा रहमान आ रही हैं, तुमको पढ़ना है। मैं वहाँ पहुँचा, पहली बार इतनी बड़ी भीड़ में पढ़ा। फिर धीरे-धीरे शायरी का शौक़ और बढ़ गया। आज जब हिन्दुस्तान के किसी भी मुशायरे में जाता हूँ तो बहुत ख़ुशी होती है कि मैं ख़ुमार बाराबंकवी साहब का पोता हूँ।

यहाँ ख़ुमार साहब का शज्रा पेश करते हुए मुझे बेहद ख़ुशी हो रही है इसके लिए मैं दीपक रूहानी साहब की मुहब्बत का शुक्रिया अदा करता हूँ—

मूल नाम : मो. हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** ख़ुमार बाराबंकवी,
जन्म : 15 सित. 1919, **स्थान :** कटरा, बाराबंकवी, **मृत्यु :** 20 फर. 1999

.
खुमार बाराबंकवी से जुड़ी शायराना विरासत—

1. **चचा :** डॉ. मियाँ जान हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** क़रार बाराबंकवी
 जन्म- 1880, मृत्यु- 1936
2. **पिता :** डॉ. ग़ुलाम हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** बहार बाराबंकवी
 जन्म- 1883, मृत्यु- 1960
3. **भाई :** कज़ीम हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** निगार बाराबंकवी
 जन्म- 1926, मृत्यु- 1996
4. **बेटा :** इरफ़ान हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** सुरूर बाराबंकवी
 जन्म- 1956, मृत्यु- 2001
5. **पोता :** फ़ैज़ हैदर ख़ान, **तख़ल्लुस :** फ़ैज़ ख़ुमार बाराबंकवी
 जन्म- 1983 से अब तक

दीवान-ए-ख़ुमार : 1. अतिशे-तर, 2. हदीसे-दीगराँ, 3. रक्से-मय, 4. शबताब, 5. बज़्मे-ख़ुमार।

अवार्ड-सनद :

1. जिगर मुरादाबादी आलमी अवार्ड, अभिनेता दिलीप कुमार द्वारा दिल्ली में प्राप्त (1988)
2. सिटीजन ऑफ़ बाराबंकी अवार्ड, तत्कालीन राज्यपाल उ.प्र. मा. मोतीलाल बोरा द्वारा (1993)
3. जश्ने-ख़ावर अवार्ड, हैदराबाद (1994)
4. कीनिया उर्दू सेण्टर अवार्ड, नैरोबी (1996)
5. भारती फ़नकार सोसाइटी अवार्ड, मृत्योपरान्त राज्यपाल उ. प्र. मा. सूरजभान द्वारा (1999)

फ़िल्मी सफ़र : बारादरी(1955), हलचल(1951), नाटक(1947), साज़ और आवाज़(1966), लव एण्ड गॉड(1986), शाहजहाँ(1946), बिखरे मोती(1951), दो रोटी(1957), जवाब, रूपरेखा(1949), मेंहदी(1958), रुख़्साना(1955), दरवाज़ा(1954),।

कुछ चुनिन्दा फ़िल्मी गाने : तस्वीर बनाता हूँ तस्वीर नहीं बनती(बारादरी), मन का पंछी शोर मचाये(नाटक), गुलशन-गुलशन, सहरा-सहरा(लव एण्ड गॉड), भुला नहीं देना जी भुला नहीं देना(बारादरी), ये जो नज़रें झुकाये बैठे हैं(दो रोटी), तीर पे तीर खाये जा(रूपरेखा), हमें वो बहुत याद आने लगे(रुख़्साना)।

समाधि : कर्बला, सिविल लाइंस, बाराबंकी

यादगार : विधान-परिषद सदस्य माननीय ग़यासुद्दीन क़िदवई की निधि से 'ख़ुमार मेमोरियल एकेडमी' में 20 अग. 2000 को वाचनालय एवं पुस्तकालय की स्थापना की गयी।

चलते-चलते एक शेर अपने वालिद सुरूर बाराबंकवी साहब का और एक अपना शेर इस विरासत के प्रति बतौर श्रद्धांजलि—

विरसे में अय 'सुरूर' तुम्हें क्या नहीं मिला
शोह्रत मिली, शऊर मिला, शायरी मिली

×× ×× ××

अय 'फ़ैज़' उसकी कम नहीं मुझपे इनायतें
ये शायरी मिली है विरासत के साथ-साथ

डॉ. हरि फ़ैज़ाबादी
नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज, जलालपुर,
अम्बेडकरनगर- 229149 (उ. प्र.)
मो.- 09450489789

---

17 जुलाई 1965 को महाजनी टोला, फ़ैज़ाबाद में जन्मे हरिप्रकाश श्रीवास्तव के पिता स्व. वीरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव किसी ज़माने में अयोध्या की हनुमानगढ़ी मन्दिर के मुख़्तार हुआ करते थे। हरिप्रकाश श्रीवास्तव से हरि फ़ैज़ाबादी बनने की दास्तान अगले पन्नों पर बयान हुई है। कॉमर्स टीचर के रूप में कार्यरत होने के साथ-साथ शायरी के शऊर को बरतना और इस्लाम धर्म में रुचि होने के कारण नाते-पाक भी कहना हरि भाई के बहुआयामी व्यक्तित्व के साथ-साथ अवध की गंगा-जमुनी तहज़ीब का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

अनवर जलालपुरी को भला कौन नहीं जानता। अधिकांश लोग इन्हें बहैसियत मुशायरों के नाज़िम(संचालक) के तौर पर ही जानते हैं, लेकिन अनवर साहब के व्यक्तित्व का फैलाव उर्दू-अदब, उर्दू-शिक्षण-प्रशिक्षण, उर्दू से जुड़े प्रशासनिक मामलों तथा अल्पसंख्यक हितों के लिए सक्रिय विभिन्न सरकारी-ग़ैरसरकारी संस्थाओं की हदों को भी छूता है। हरि भाई का ये लेख अनवर साहब की विविध रंगी शख़्सीयत की एक झलक दिखाता है। लेख की शैली यद्यपि कि परम्परागत रंग की है और बहुत हद तक काव्यात्मक भी है, लेकिन यही काव्यात्मकता आज के समय विशेष तरह की ताज़गी का एहसास दिलाती है।

डॉ. हरि .फ़ैज़ाबादी

'निज़ामत अनवर जलालपुरी करेंगे'

रूह में उतर जानेवाली दमदार किन्तु एक मधुर संगीत जैसी पुरकशिश आवाज़, नपे-तुले अल्फ़ाज़ में गुफ़्तगू, साफ़-सुथरा शायराना और शानदार लिबास, जीने का राजसी अन्दाज़ मगर मीठी बोली और व्यवहार में सादगी, ख़ामोशी से भी अपनी बात कहने के हुनर से वाक़िफ़, औसत लम्बाई, भरा बदन, ज़ेहानत की अलामत चौड़ी पेशानी, चमकती हुई भौंहें, हुक्मराँ जैसी बोलती हुई बड़ी-बड़ी आँखें, आँखों की हिफ़ाज़त करता हुआ ख़ूबसूरत क़ीमती चश्मा, पारखी नज़रें, दूरबीनी निगाहें, ज़िन्दादिली का सुबूत देते हुए लाम के मानिन्द सियाह गेसू, पूरी तरह चाँदी हो चुकी मगर सलीक़े से तराशी हुई मूँछ और दाढ़ी, सुडौल और अनुशासित लब यानी कुल मिलाकर एक किताबी चेह्रा। मेरी नज़र में मुख़्तसर-सा ये ख़ाका जलालपुर की जान, मुशायरों की शान, शहंशाह-ए-निज़ामत, ख़ुलूस के पैकर, उर्दू के लाजवाब शायर, अँग्रेज़ी के टीचर, हिन्दी के आशिक़, फ़ार्सी के दीवाने, संस्कृत के परस्तार, अरबी के प्रेमी, नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज-जलालपुर के रिटायर्ड अँग्रेज़ी लेक्चरर और वाइस प्रिंसिपल, मिर्ज़ा ग़ालिब इण्टर कॉलेज-जलालपुर के संस्थापक और मैनेजर, 'उर्दू-शायरी में गीता' सहित एक दर्जन से ज़ियादा प्रकाशित पुस्तकों के रचनाकार, बेजोड़ वक्ता, उम्दा नस्र-निगार, उत्तर प्रदेश मद्रसा शिक्षा परिषद् के भूतपूर्व चेयरमैन, उत्तर प्रदेश उर्दू एकेडमी की कार्य-परिषद् के सदस्य, उत्तर प्रदेश हज कमेटी के सदस्य, ज़िला न्याय-विधि प्राधिकरण (लोक अदालत, अम्बेडकरनगर) के पूर्व सदस्य, सम्प्रति ख़्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती उर्दू, अरबी-फ़ार्सी विश्वविद्यालय, लखनऊ की कार्य-परिषद् के सदस्य, नीरज-शहरयार अवार्ड चयन कमेटी अलीगढ़ तथा एन. सी. पी. यू. एल. नयी दिल्ली के सदस्य; यानी तमाम उपलब्धियों, कामयाबियों और सलाहियतों से पुर शख़्सीयत ये उस शख़्स की है, जिसे दुनिया-ए-उर्दू अदब इण्टरनेशनल नाज़िमे-मुशायरा अनवर जलालपुरी के रूप में जानती है।

अनवर जलालपुरी की पैदाइश 6 मई 1947 को डाकख़ाने की डायरेक्ट्री में दर्ज जलालपुर नाम के, 24 अदद पोस्ट ऑफ़िस में से एक इस जलालपुर, क़स्बे में हुई जो चन्द बरसों पहले तक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम की जन्म-स्थली व पौराणिक नगरी अयोध्या तथा उसके जुड़वा नगर यानी शाने-अवध, तारीख़ी शह्र फ़ैज़ाबाद का अभिन्न अंग था और फ़ैज़ाबाद ज़िले का एक अहम हिस्सा हुआ करता था। चूँकि जलालपुर नाम की कई बस्तियाँ आबाद हैं इसलिए फ़ैज़ाबाद और आसपास के ज़िलों में बुज़ुर्गों ने पहचान में आसानी के लिए अनवर जलालपुरी के जलालपुर को 'नग जलालपुर' नाम दे दिया था। इसी 'नग जलालपुर' में अनवर जलालपुरी नाम के उस नग ने जन्म लिया जिसने जलालपुर क़स्बे को दुनिया के गोशे-गोशे में रोशन कर दिया।

जैसा कि उपर अर्ज़ किया जा चुका है कि चन्द बरसों पहले तक अनवर जलालपुरी का क़स्बा जलालपुर फ़ैज़ाबाद ज़िले का एक अहम हिस्सा था। सन् 1989 में जलालपुर को तहसील का दर्जा भी मिल गया था और फ़ैज़ाबाद ज़िले की पाँचवी तहसील के रूप में इस क्षेत्र को तरक़्क़ी के नये ख़्वाब भी आने लगे थे। सन् 1995 में फ़ैज़ाबाद की सियासी तक़्सीम हो गयी और जलालपुर फ़ैज़ाबाद के बजाय अम्बेडकरनगर ज़िले की तहसील हो गया। बेशक नया ज़िला बनने के बाद लोगों को तमाम तरह की सहूलतें हो गयीं और तरक़्क़ी की नयी मंज़िलें भी मिलीं, लेकिन अनवर जलालपुरी के चाहनेवाले फ़ैज़ाबादियों को ये तक़्सीम आज तक हज़्म नहीं हुई, क्योंकि फ़न और अदब को किसी सरहद में क़ैद नहीं किया जा सकता। ख़ुद अनवर साहब भी बहुत दिनों तक ये दर्द भुला नहीं पाये और ख़त-ओ-किताबत के दौरान पते में अम्बेडकर नगर की जगह ज़िला फ़ैज़ाबाद लिख दिया करते थे। इस सिल्सिले में मैंने एक शेर भी कहा था—

आप कहाँ हैं 'अनवर साहब'
बदल गया अब ज़िला आपका

अनवर साहब के वालिद स्वर्गीय हाफ़िज़ मोहम्मद हारून साहब एक नेकदिल और शरीफ़ इंसान थे तथा सादगी, तह्ज़ीब, शराफ़त की ज़िन्दा मिसाल थे। उन्हें सुप्रसिद्ध सूफ़ी संत हज़रत मख़्दूम अशरफ़ जहाँगीर समनानी साहब से दिली अक़ीदत थी, जिनकी दरगाह जलालपुर से 15 किमी. के फ़ासले पर किछौछा नाम के एक छोटे से क़स्बे में स्थित है और इसी दरगाह की वज्ह से किछौछा पूरी दुनिया में 'किछौछा शरीफ़' नाम से जाना जाता है। दूर-दूर से ज़ायरीन 'किछौछा शरीफ़' अपनी मुरादें लेकर आते हैं और झोलियाँ भरकर वापस जाते हैं। हाफ़िज़ मो.हारून साहब अपनी नौजवानी के ज़माने से ही हर दुशम्बे(सोमवार) को दरगाह जाया करते थे। ये सिल्सिला उन्होंने ताउम्र जारी रक्खा, सिवा उन दिनों के जब वे कारोबारी या अन्य किसी वज्ह से जलालपुर से बाहर चले जाते थे। हाफ़िज़ जी जलालपुर क़स्बे के पावरलूम के कारोबार से जुड़े थे। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी मेहनत और संघर्ष से सजायी। कारोबार में उतार-चढ़ाव आते रहे, लेकिन उन्होंने कभी हार नहीं मानी। जब अच्छे दिन रहे तब भी बुरे दिनों की याद को सामने रखा। मुफ़्लिसी में भी अना (स्वाभिमान) का दामन न छोड़ा। नुक़्सान उठा लिया, लेकिन किसी मग़रूर, ख़ुदग़रज़, ज़मीर-फ़रोश सरमायादार से समझौता नहीं किया। वो अपनी दुनिया आप पैदा करने में माहिर थे। अल्लाह ने उन्हें बड़ी मज्लिसी शख़्सीयत अता की थी। उनका वजूद ज़ेहानत और तह्ज़ीब की उस शम्अ की तरह था जिसके गिर्द शाम होते ही क़स्बे के मुहज़्ज़ब और ज़हीन परवाने इकट्ठा हो जाते थे, जिससे उनके घर के सामने का चबूतरा देर रात तक क़स्बे के दानिशवरों का मर्कज़ बना रहता था। ये मह्फ़िल शाम की नमाज़ों के बाद सज जाती थी और आधी रात तक चलती रहती थी। इस मह्फ़िल में मक़ामी मसाएल से लेकर आलमी मसाएल, मज़हबी और मस्लकी मौज़ूआत के अलावा सियासत, कारोबार, मौसम की भविष्यवाणी, शायरी और जाने कितने ही विषयों पर चर्चा और गुफ़्तगू होती थी। ये ज़माना अनवर जलालपुरी की नौउम्री का ज़माना था। ज़ाहिर है घर आनेवाले अपने अब्बा के साथियों की ख़िद्मत और आवभगत का काम इनके ज़िम्मे होता था, जिसे वो ख़ुशी-ख़ुशी और बख़ूबी अंजाम भी देते थे और इसी बहाने मह्फ़िल में शरीक होकर बड़े-बुज़ुर्गों के इल्म और तज्रुबे से मालामाल भी होते थे। इस तरह अनवर जलालपुरी को बचपन से ही अपने से बड़ी उम्र के लोगों के दरमियान उठने-बैठने और उनकी गुफ़्तगू सुनने का मौक़ा मिला। इन सबसे नौउम्री में ही इनके ज़ेह्न और तह्ज़ीब को ऐसी मुफ़ीद ग़िज़ा मिली कि उसका फ़ायदा इन्हें आज तक हासिल हो रहा है। काश! आजकल के बच्चों को भी वैसा माहौल मिल पाता जो अनवर जलालपुरी को बचपन में मिला।

अनवर जलालपुरी का पूरा नाम अनवार अहमद है। वो पाँच भाई और एक बहन में उम्र में ही सबसे बड़े नहीं है, बल्कि इसलिए भी बड़े हैं कि बचपन से अब तक घर के बड़े होने का दर्द भी सह रहे हैं और फ़र्ज़ भी निभा रहे हैं। इनके वालिद कोई दौलतमन्द शख़्स तो नहीं थे, लेकिन दिलो-दिमाग़ के बेइन्तिहा रईस थे। वो ख़ुद बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन तालीम की अहमियत का अन्दाज़ा उन्हें ख़ूब था। उनकी माली हालत बेशक कमज़ोर थी, लेकिन अपने बच्चों को अच्छी तालीम देने का दिल में मज़्बूत इरादा रखते थे, जिसे उन्होंने भरसक अमली जामा पहनाया भी। लिहाज़ा अनवर जलालपुरी की प्राइमरी तालीम मद्रसा इस्लामिया में और दर्जा छ: से इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज, जलालपुर में हुई। अपनी प्रतिभा और ख़ुशक़िस्मती से सन् 1973 में वो नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज में ही अँग्रेज़ी के लेक्चरर हो गये और 30 जून सन् 2010 को यहीं से वाइस-प्रिंसिपल होकर रिटायर हुए।

नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज, जलालपुर ही अनवर जलालपुरी की इब्तिदाई अदबी तर्बीयतगाह है। यहीं उन्होंने 1960 में दर्जा नौ से शायरी शुरू की और सन् 1962 में यहीं कॉलेज में हुई एक अदबी नशिस्त से निज़ामत का आग़ाज़ किया। उस ज़माने में नरेन्द्र देव कॉलेज का माहौल बेहद अदबी था। विद्यार्थियों के अदबी कार्यक्रम अक्सर होते रहते थे और तक़रीबन् हर बरस कॉलेज के ग्राउण्ड पर मुशायरे होते थे, जिसका फ़ायदा अनवर जलालपुरी को ये मिला कि एक ओर तो कॉलेज के ज़माने से ही वो माइक पर बोलने के अभ्यस्त हो गये और दूसरी तरफ़ इन्हें अपने कॉलेज में होनेवाले मुशायरों में उस ज़माने के मशहूर और बड़े-बड़े शायरों को सुनने और उन्हें क़रीब से देखने-जानने का मौक़ा मिला। कॉलेज के ही एक मुशायरे में डॉ.मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद ने अनवर जलालपुरी की तक़रीर सुनी तो मुशायरे के बाद अनवर जलालपुरी को अपने पास बुलाया और कहा— ''तुम्हारी आवाज़ बहुत अच्छी है। तुम निज़ामत के मैदान में आगे बढ़ने की कोशिश करो और अगर इण्टरमीडिएट के बाद किसी डिग्री कॉलेज में तालीम के लिए जाना तो शिब्ली कॉलेज, आज़मगढ़ आना, मैं भी वही हूँ।'' डॉ.मलिकज़ादा के ये चन्द जुम्ले अनवर जलालपुरी के लिए एक नयी दिशा और रौशन सफ़र की बुनियाद हो गये। सन् 1964 के जुलाई माह में उन्होंने शिब्ली कॉलेज में बी.ए.में दाख़िला ले लिया। इत्तिफ़ाक़ से अगले ही माह, यानी अगस्त 1964 में डॉ. मलिकज़ादा साहब गोरखपुर यूनिवर्सिटी चले गये और अनवर जलालपुरी को अपने ख़्वाब टूटते नज़र आये, लेकिन उनकी मुलाक़ात दानबहादुर सिंह 'सूँड़ फ़ैज़ाबादी' से हो गयी। सूँड़ जी भी आज़मगढ़ के एक इण्टर कॉलेज में टीचर थे और उस ज़माने के कवि-सम्मेलनों के मशहूर संचालक थे। वो अनवर जलालपुरी को पहले आज़मगढ़ शह्र में होनेवाली नशिस्तों और बाद में आस-पास के कवि-सम्मेलनों में ले जाने लगे। उन्हीं दिनों जौनपुर के कवि पं.रूपनारायण त्रिपाठी की सरपरस्ती में साहित्यिक आयोजनों में गंगा-जमुनी तह्ज़ीब की धारा बहनी प्रारम्भ हुई थी। इस मुहिम में पं. रूपनारायण जी के साथ सूँड़ जी, विकल साकेती, चन्द्रशेखर मिश्र और प्रो. क्षेम जी क़दम-से-क़दम मिलाकर चल रहे थे। अनवर साहब को इस तह्रीक से बहुत फ़ायदा मिला और धीरे-धीरे उनकी पहचान उर्दू के साथ-साथ हिन्दी-मंचों पर भी संचालक के रूप में स्थापित हो गयी। इस तरह सूँड़ जी की सरपरस्ती में अनवर जलालपुरी निज़ामत और संचालन दोनों ही मैदानों में छा गये और दूर-दूर बुलाये जाने लगे। आज़मगढ़ की अदबी फ़ज़ा ने भी इनकी शख़्सीयत सँवारने में भरपूर किरदार अदा किया। जिसमें और इज़ाफ़ा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने किया जहाँ से 1968 में इन्होंने अँग्रेज़ी में एम.ए. की डिग्री हासिल की। अलीगढ़ युनिवर्सिटी के माहौल में अनवर जलालपुरी की वक्तृत्व क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई।

एम.ए.करने के बाद अनवर जलालपुरी ने मुलाज़मत के बारे में अपने बचपन के दोस्त शब्बीर हुसैन से ज़िक्र किया, जो उन दिनों जलालपुर से 6 किमी. दूरी पर स्थित 'बाबा बरुआ दास

इण्टर कॉलेज', परुइया आश्रम में उर्दू पढ़ाते थे। शब्बीर हुसैन साहब अनवर जलालपुरी को अपने कॉलेज के प्रिंसिपल पं. राधेमोहन द्विवेदी जी के पास ले गये। पण्डित जी ने उस समय उन्हें अँग्रेज़ी अध्यापक के पद पर रख लिया और बाद में अदीब कामिल की बुनियाद पर उर्दू-लेक्चरर बना दिया। उन दिनों इसी कॉलेज में हिन्दी-अध्यापक केदारनाथ मिश्र थे। वो दौर अनवर जलालपुरी, शब्बीर हुसैन और केदारनाथ मिश्र; तीनों की तंगहाली और संघर्ष का था। किसी तरह से अनवर साहब ने 175 रु. इकट्ठे किये और साइकिल ख़रीदी। जिसके बाद बहुत दिनों तक तीनों लोग एक ही साइकिल से जलालपुर से परुइया आश्रम जाया करते थे, जिस पर प्रिंसिपल श्री राधेमोहन जी ने ये शेर गढ़ लिया था—

इक साइकिल के तीन सवार
अनवर, शब्बीर और केदार

जब आदमी की रोज़ी-रोटी का मस्अला हल हो जाता है तो ज़ेह्नी तौर पर उसे बेहद सुकून हो जाता है और वो आगे बढ़ने या ज़िन्दगी में कुछ नया करने के बारे में सोचने लगता है। अनवर जलालपुरी के साथ भी लगभग ऐसा ही हुआ। परुइया आश्रम में मुलाज़मत मिलने के बाद उन्होंने और शब्बीर हुसैन ने सोचा कि स्कूल तो जलालपुर में भी खोला जा सकता है। अपने इस ख़याल का ज़िक्र दोनों ने अपने कुछ और दोस्तों से किया। सभी ने इस ख़याल की ताईद की और इस मिशन के चन्द और लोग भी अनवर साहब और शब्बीर साहब के साथ लग गये। ये सन् 1969 की बात है, जिस साल मिर्ज़ा ग़ालिब की सौवीं बरसी मनायी जा रही थी और पूरी तरह से इल्मी तौर पर ग़ालिब की अज़्मत को स्वीकार किया जा रहा था। चुनांचे अनवर जलालपुरी और शब्बीर हुसैन ने 1 जुलाई 1969 को जलालपुर में 'मिर्ज़ा ग़ालिब जूनियर हाईस्कूल' की स्थापना करके ग़ालिब को अपने ढंग की एक ख़िराज़े-अक़ीदत पेश की। 'मिर्ज़ा ग़ालिब जूनियर हाईस्कूल' अब 'मिर्ज़ा ग़ालिब इण्टर कालेज' की मंज़िल तक पहुँच चुका है। अनवर जलालपुरी जो इस कॉलेज के संस्थापक हैं, अब मैनेजर का काम भी सँभाल रहे हैं। सन् 2019 में ग़ालिब की 150वीं बरसी होगी और इत्तिफ़ाक़ से इस संस्था का गोल्डन जुबली इयर होगा। मैं नहीं जानता कि अनवर साहब की अपने कॉलेज के लिए भविष्य की क्या योजना है, लेकिन मेरी दिली ख़्वाहिश और ईश्वर से प्रार्थना है कि 'मिर्ज़ा ग़ालिब इण्टर कालेज' 2019 में 'मिर्ज़ा ग़ालिब डिग्री कालेज' हो जाये।

अनवर जलालपुरी की ज़िन्दगी इस बात की बेह्तरीन मिसाल है कि मेह्नत का कोई विकल्प नहीं है और इंसान की तरक़्क़ी-ओ-तनज़्ज़ुली के असबाब उसके अफ़्कार-ओ-नज़रियात ही होते हैं। जुलाई 1969 में मिर्ज़ा ग़ालिब जू. हा. स्कूल खोलने के बाद उन्होंने अपनी शायरी और निज़ामत की तरफ़ बाक़ायदा तौर पर रुख़ किया, क्योंकि इसके कुछ माह पहले यानी 15 फरवरी 1969 को अपने वतन जलालपुर में हुए एक आल इण्डिया मुशायरे की निज़ामत करके उन्होंने जलालपुर में बिना कुछ कहे इस बात का ऐलान कर दिया था कि अहले-जलालपुर अनवर जलालपुरी से ये उम्मीद कर सकते हैं कि आनेवाले दिनों में अनवर जलालपुरी के साथ जलालपुर का भी नाम दुनिया में रौशन होगा।

उस मुशायरे में ख़ुमार बाराबंकवी, शम्सी मीनाई, दिल लखनवी, तस्नीम फ़ारूक़ी और नाज़िम ख़य्यामी जैसे उस दौर के बड़े और मशहूर शायरों ने शिरकत की थी। उस मुशायरे के पहले अनवर जलालपुरी ने ज़िलाई और सूबाई पैमाने पर मुशायरों में निज़ामत की थी। ज़ाहिर है कि जलालपुर के ऑल इण्डिया मुशायरे के बाद वो तमाम ज़िलों के बड़े मुशायरों में मदऊ(आमंत्रित) होने लगे और बहैसियत नाज़िम उनकी शोह्रत के ग्राफ में इज़ाफ़ा होने लगा। सन् 1974 ई. में डॉ.मलिकज़ादा ने किसी मुशायरे में अनवर जलालपुरी की निज़ामत सुनी और मुतासिर होकर सन् 1975 में अपने गाँव में हुए एक मुशायरे में उन्हें निज़ामत का मौक़ा दिया और उसके बाद 6 नवम्बर

1976 को लखनऊ के उस तारीख़ी मुशायरे के लिए डॉ.मलिकज़ादा ने उन्हें मदऊ करा दिया जिसने रातो-रात उन्हें ऑल इण्डिया नाज़िम बना दिया। अपने एक मज़्मून 'जागती आँखों के सपने' में उस मुशायरे और अपनी कामयाबी का बड़ा ख़ूबसूरत तब्सिरा ख़ुद अनवर साहब ने इन अल्फ़ाज़ में किया है— ''लखनऊ मुझे बहुत अज़ीज़ है, लखनऊ से मुझे इश्क़ है। लखनऊ मेरी शोहरत की इमारत की पहली ईंट है। 6 नवम्बर 1976 का ज़माना है। इमरजेंसी का दौर है। बेगम हज़रत महल पार्क में एक अज़ीम और तारीख़ी मुशायरा आयोजित है। सदारत देवकान्त बरुवा फ़र्मा रहे हैं, जो उस वक़्त की काँग्रेस पार्टी के ऑल इण्डिया अध्यक्ष हैं। उद्घाटन भारत के राष्ट्रपति महामहिम फ़ख़रुद्दीन अली अहमद फ़र्मा रहे हैं। डाइस पर वज़ीरे-आला जनाब नारायणदत्त तिवारी तश्रीफ़ फ़र्मा हैं। यू.पी. के गवर्नर जनाब चिन्ना रेड्डी भी स्टेज पर रौनक़-अफ़रोज़ हैं। मुशायरे के कन्वीनर मेरे उस्तादे-मोह्तरम डॉ.मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद हैं। इन आफ़्ताब, माहताब और रौशन सितारों के दरमियान निज़ामत का फ़र्ज़ अंजाम देने के लिए मुझ जैसा एक ज़र्रए-हक़ीर भी मौजूद है। उस स्टेज पर मैं नाज़िमे-मुशायरा की हैसियत से कम, बल्कि डॉ. मलिकज़ादा मंजूर साहब के एतमाद और विश्वास के रूप में ज़ियादा था। इस मुशायरे की निज़ामत ने मुझे रातो-रात आल इण्डिया शोह्रत का नाज़िमे-मुशायरा बना दिया—

दे दिया हाथ उसने मेरे हाथ में
मैं वली हो गया एक ही रात में

फिर क्या था, सारे मुल्क में मेरी अहमियत के सुबूत के तौर पर एक ही मिसाल काफ़ी थी, कि वही अनवर जलालपुरी जिन्होंने लखनऊ में उस तारीख़ी मुशायरे की निज़ामत की थी जिसका उद्घाटन राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद ने किया था। इसकी वज्ह से अवाम का विश्वास मुझे आज तक हासिल है।''

इस मुशायरे के बाद अनवर जलालपुरी पूरे हिन्दोस्तान में बहैसियत नाज़िमे-मुशायरा छा गये। यही नहीं, सन् 1990 के बाद दुनिया के और भी कई मुल्कों में उनकी मौजूदगी होने लगी। सन् 1996 उनके लिए एक और ख़ुशी लेकर आया जब फ़िल्मी दुनिया की मश्हूर हस्ती जनाब अकबर ख़ाँ साहब ने अनवर जलालपुरी को अपने मेगा सीरियल 'अकबर दी ग्रेट' के गाने और डायलॉग्स लिखने के लिए चुन लिया। अनवर साहब इस सीरियल की शूटिंग के दौरान तक़रीबन् आठ माह जयपुर में रहे और 'अकबर दी ग्रेट' के 29वें एपीसोड से लेकर 65वें एपिसोड तक के गाने और डायलॉग्स लिखे। ज़ाहिर है 'अकबर दी ग्रेट' ने इनकी शोहरत में तो इज़ाफ़ा किया ही, उनकी पहुँच बॉलीवुड तक भी हो गयी, जिसके बाद उन्होंने तमाम फ़िल्मी गाने भी लिखे और अभी पिछले बरस तो एक बड़ी चर्चित फ़िल्म 'डेढ़ इश्क़िया' में नसीरुद्दीन शाह और माधुरी दीक्षित जैसे बड़े और मश्हूर फ़िल्मी किरदारों के साथ पर्दे पर भी उन्हें दुनिया ने देखा।

कहा जाता है कि अपने बारे में लिखना मुश्किल है और दूसरों के बारे में लिखना आसान, लेकिन मेरे साथ ऐसा नहीं है। मुझे तो अनवर जलालपुरी नाम की उस भारी-भरकम शख़्सियत पर इज़्हारे-ख़याल करना है जिनकी सलाहियतों को वो हज़रात भी तस्लीम करते हैं जो मुशायरे के शायर को 'शायर' ही नहीं मानते और मुशायरे के शायर की कामयाबी को उसकी सलाहियत नहीं समझते हैं।

अनवर जलालपुरी साहब मेरे साहित्यिक गुरु हैं और अदब, शायरी या उर्दू में मेरी अब तक की जो रसाई है उसमें इनका ही हाथ है। जैसा कि मैं इसी मज़्मून में ज़िक्र कर चुका हूँ कि अनवर जलालपुरी 'नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज-जलालपुर' में अँग्रेज़ी प्रवक्ता थे। संयोग से इसी कॉलेज में सन् 1989 में मेरी नियुक्ति वाणिज्य-शिक्षक के पद पर हो गयी। उस वक़्त मुझे कविता-शायरी में कोई रुचि नहीं थी इसलिए कई बरस तक कॉलेज में उनके साथ रहकर भी मैं उनके सान्निध्य

का लाभ नहीं ले पाया। मुझे उनकी सोह्बत सन् 1996 में तब नसीब हुई जब जलालपुर के एक कवि-हृदय व्यवसायी स्व. जियालाल गुप्त ने मुझे कविता लिखने के लिए प्रेरित किया, लेकिन कवि बनने के बाद अनवर साहब ने मेरे सर पर हाथ रख दिया था। शायद इसी वज्ह से दो-तीन साल तक कभी-कभार कविता की चन्द पंक्तियाँ लिखते-लिखते सन् 1998-99 में अचानक मेरा झुकाव ग़ज़ल की तरफ़ हो गया। ग़ज़ल ने मुझे अनवर जलालपुरी के और क़रीब कर दिया और तब मैंने उनसे कहा कि— ''सर मुझे उर्दू सिखा दीजिए'', जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। फिर क्या था, कॉलेज में जो पीरिएड हम दोनों लोगों का ख़ाली होता उसी में मैंने उनसे उर्दू-लिपि का ज्ञान प्राप्त करना शुरू कर दिया। कुछ माह के बाद मुझे जब उर्दू लिखना-पढ़ना आ गया तो उर्दू में डिग्री हासिल करने की भी ख़्वाहिश होने लगी। अनवर जलालपुरी की गुरुता ने मुझे इतना बल दे दिया कि मैंने सन् 2001 में प्राइवेट तौर पर एम. ए. (उर्दू) का फॉर्म भर दिया और सन् 2003 में साकेत महाविद्यालय फ़ैज़ाबाद से पास कर लिया। एम. ए. (उर्दू) में इतने नम्बर आ गये कि मैं उर्दू में पीएच. डी. का सपना देखने लगा। मैंने राहत इन्दौरी पर पीएच. डी. करने का फ़ैसला लिया। अनवर साहब ने इस सिल्सिले में राहत साहब से बात की और उन्होंने मुझे पीएच. डी. की लिखित अनुमति तथा आशीर्वाद दिया। 27 नवम्बर सन् 2007 में पीएच. डी. के लिए मेरा रजिस्ट्रेशन हुआ और 9 दिसम्बर सन् 2013 को डॉ.राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में मुझे वि. वि. के इतिहास में, उर्दू-विषय में दूसरे ग़ैर-मुस्लिम शोधार्थी के रूप में डिग्री प्रदान की गयी। पीएच. डी. के लिए मेरा टॉपिक था 'शेख़ राहत उल्लाह क़ुरैशी 'राहत इन्दौरी': हयात और शायरी' तथा पीएच. डी. के मेरे निगराँ(सुपरवाइज़र) डॉ.मो. नसीम ख़ाँ साहब (विभागाध्यक्ष-उर्दू, बाबा बरुआदास पी.जी.कॉलेज, परुइया आश्रम, अम्बेडकरनगर) थे।

अनवर जलालपुरी के साथ सबसे अहम बात ये है कि मुशायरों की दुनिया के अलावा उनका तख़्लीक़ी सफ़र भी बेमिसाल है। उनकी 14 किताबें मंज़रे-आम पर आ चुकी हैं और तीन किताबें जल्द ही प्रकाशित होनेवाली हैं। 14 प्रकाशित पुस्तकों में 10 पुस्तकें तो उनकी अपनी नज़्म तथा ग़ज़ल और धार्मिक शायरी(नात आदि) की हैं, लेकिन बाक़ी चार किताबें उनकी ऐसी हैं जिन्हें किताब नहीं, बल्कि कारनामा कहना ज़ियादा मुनासिब होगा। इन चार किताबों में एक 'उर्दू-शायरी में गीता' दूसरी 'तोश-ए-आख़िरत' (क़ुरआन शरीफ़ के तीसवें अध्याय का उर्दू में काव्यानुवाद), तीसरी 'उर्दू-शायरी में गीतांजलि' (रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि का उर्दू और देवनागरी लिपि में काव्यानुवाद) और चौथी 'उर्दू-शायरी में रुबाइयाते-ख़य्याम' (उमर ख़य्याम की रुबाइयों का उर्दू और देवनागरी लिपि में काव्यानुवाद) है।

बड़ों का अदब, सभी से प्यार भरा व्यवहार और वक़्त की क़द्र अनवर जलालपुरी के साथ रहकर कोई भी बड़ी आसानी से सीख सकता है। उनसे गुफ़्तगू करके स्वत: ये अन्दाज़ा होता है कि इंसान अपनी मीठी बातों से ही जाना जाता है वर्ना अच्छी बातें तो दीवारों पर भी लिखी होती हैं। मुशायरों के पहले की तक़रीर में कभी कोई रंगीन बात कहना, कभी कोई नसीहतअंगेज़ हिदायत देना, कभी कोई ज्ञानवर्द्धक जानकारी देना, कभी किसी शायर या कवि के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना देना तो कभी उसके अंतरंग क़िस्से सुनाना अनवर साहब के स्वभाव की ख़ासियत है। कुछ जुम्ले आप भी समात फ़र्मायें, जैसे एक बार उन्होंने कहा— ''वो शख़्स बड़ा बदनसीब होता है जिसे कोई डाँटनेवाला नहीं होता'', या कभी ये भी सुना था कि— ''जो वक़्त बरबाद करता है वक़्त उसे बरबाद कर देता है''। इसी तरह के तमाम क़ीमती जुम्ले अनवर साहब की हर तक़रीर में सुनने को मिल जायेंगे जो शायद कहीं और न मिलें। एक बार उन्होंने मुझे अपना ये शेर सुनाया—

अब नाम नहीं, काम का क़ायल है ज़माना
अब नाम किसी शख़्स का रावण न मिलेगा

और ख़ुद ही इस शेर का मफ़्हूम बताया कि आदमी का काम ही उसके नाम की बुनियाद है, जैसे 'श्रीरामचरितमानस' और 'कामायनी' का ज़िक्र होगा तो तुलसीदास और जयशंकर प्रसाद का नाम चर्चा में आ ही जायेगा। उन्हीं के साथ बैठकर मैंने ये सीखा है कि ज़िन्दगी में अपनी एक अलग पहचान या शिनाख़्त के साथ जीना कितनी बड़ी दौलत है। वो अक्सर गुफ़्तगू में कहते हैं कि— ''आप जिस भी समाज में रहें तो इस तरह रहें कि कोई भी आपकी ख़ूबियों का अन्दाज़ा न लगा सके, लेकिन जब कभी उन्हीं लोगों, जिनके साथ आप रहते हैं, के बीच अपनी प्रतिभा, सलाहियत और ख़ूबियाँ दिखाने का मौक़ा मिले तो अपने को इस तरह साबित करें कि हर आदमी आप के बारे में ये सोचने के लिए मजबूर हो जाये कि ये आदमी देखने में जितना साधारण लगता है वैसा है नहीं और यक़ीनन् इसमें जो सलाहियत है, वो हममें से किसी और के पास नहीं है।''

दुनिया के तमाम सफल, कामयाब और महान् लोगों के इतिहास पर अगर ग़ौर किया जाये तो एक बात समान रूप से लगभग सभी सफल नामों के साथ ये जुड़ी है कि उनके पीछे किसी-न-किसी महिला का योगदान ज़रूर होता है। अनवर जलालपुरी भी इसके अपवाद नहीं हैं; उनकी तमाम कामयाबियों और उपलब्धियों में उनकी शरीके-हयात श्रीमती आलिमा ख़ातून की मेह्नत और दुआओं का बहुत बड़ा हाथ है, जिसे अनवर साहब ने ख़ुद इन अल्फ़ाज़ में अपने एक मज़्मून में स्वीकार किया है— ''मेरी ज़िन्दगी और शायरी में सबसे बड़ा किरदार मेरी अहलिया का है। आप यक़ीन करें या न करें मगर ये सच है कि मेरे अश्आर पर इस्लाह वही करती हैं। अपनी अहलिया के अदबी शऊर को सलाम करते हुए अनवर जलालपुरी ने अपनी ग़ज़लों के मज्मूअे 'जागती आँखें' उन्हीं को समर्पित करते हुए लिखा है—

इंतसाब
अपनी शरीके-हयात आलिमा ख़ातून के नाम
जिनके अदबी शऊर पर मुझे रश्क आता है

दर्जनों इनामों और सम्मानों से नवाज़े जाने के बावजूद उनकी सबसे बड़ी ख़ूबी ये है कि कामयाबी के तमाम आसमानों को छूकर भी उन्होंने ज़मीन से अपना रिश्ता बनाये रक्खा है और इनकी यही ख़ूबी इनके चाहनेवालों के दिलों में इन्हें एक विशेष दर्जा प्रदान करती है। मेरी ख़ुशक़िस्मती है कि मैंने दो दहाई से अधिक समय तक 'नरेन्द्र देव इण्टर कॉलेज-जलालपुर' में कार्य किया और उन्होंने मेरी रहनुमाई करते हुए मेरे सर पर अपनी शफ़क़तों का ऐसा हाथ रक्खा कि मैं हरिप्रकाश श्रीवास्तव से डॉ.हरि फ़ैज़ाबादी हो गया। ज़ाहिर है कि आज यदि एक शिक्षक से इतर भी मेरी अपनी एक अलग पहचान है तो इसका श्रेय मेरे साहित्यिक गुरु और सरपरस्त अनवर साहब को ही जाता है। इनकी मुझ पर जैसी कृपा है शायद ऐसी ही गुरुकृपा के लिए कबीरदास जी ने ये दोहा कहा होगा—

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार
कसणीं दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार

अल्लाह से मेरी यही दुआ है कि वो इन्हें सेहतमन्द रक्खे और इनकी उम्र दराज़ करे ताकि अनवर साहब क़ौम, मज़हब, मुल्क, मिल्लत और मानवता की इसी तरह लम्बे समय ख़िद्मत करते रहें।

डॉ. आज़म
आई-193, पंचवटी कालोनी
एअरपोर्ट रोड, भोपाल- 462030 (म. प्र.)
मो.- 09827531331

मूलतः उत्तरप्रदेश के बलिया जनपद के रहनेवाले डॉ. आज़म मध्य प्रदेश चिकित्सा विभाग में अधिकारी होने की वज्ह से इन दिनों भोपाल में मुस्तक़िल रूप से रहते हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से बी.यू.एम.एस. की डिग्री प्राप्त करने के साथ इन्होंने ने न केवल स्वर्ण-पदक प्राप्त किया, बल्कि इन्हें वहीं से शेरो-शायरी के संस्कार भी प्राप्त हुए। डॉ. आज़म की किताब 'आसान अरूज़' देवनागरी लिपि में ग़ज़ल के छन्दशास्त्र को बयान करनेवाली एक विश्वसनीय किताब है। इसके अतिरिक्त 'लफ़्ज़ों की मसीहाई' उन्वान से एक मज्मूआ-ए-कलाम उर्दू में भी प्रकाशित हो चुका है।

यहाँ प्रस्तुत लेख में डॉ. आज़म ने ग़ज़ल के छन्दशास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। ग़ज़ल की बह्र इत्यादि से सम्बन्धित विभिन्न लेख या किताबें मिल जाती हैं, लेकिन ये लेख इल्मे-अरूज़ (छन्दशास्त्र) के आरम्भिक दिनों की कहानी जिस तरह बयान करता है, वो काफ़ी दिलचस्प है।

डॉ. आज़म

अरूज़ : इतिहास और अहमियत

अरूज़ क्या है : इसकी व्याख्या कई तरह से की गयी है। हर विद्वान ने अपने अनुसार अरूज़ को वर्णित किया है, मगर कुछ बातें सबके यहाँ समान हैं। इल्मे-अरूज़ यानी छन्द-विद्या वो तराज़ू है जिससे मौज़ूँ और नामौज़ूँ कलाम में भेद किया जाता है। मौज़ूँ से अभिप्राय है कि वो शेर जो पूरी तरह से छन्दबद्ध है, यानी उसके दोनों मिस्रों में बिल्कुल समान भार है। अगर ऐसा नहीं है तो वो नामौज़ूँ है। इस तरह अरूज़ वो पैमाना है जिससे पद्य एवं गद्य(नज़्म और नस्र) में फ़र्क़ किया जाता है। अरूज़ शायरी को परखने की विद्या है और मूलत: शायरी करने का आधार भी है। इसे अँग्रेज़ी में Prosody कहते हैं, हिन्दी में छन्दशास्त्र। इसके ज्ञाता को अरूज़ी कहते हैं। शायरी के लिए ये परम आवश्यक है, हालाँकि इसकी अनिवार्यता पर अक्सर प्रश्न भी उठाये जाते रहे हैं। आइए कुछ विद्वानों की राय इस पर जानते हैं—

- अरूज़ हिन्दी-मुस्लिम एकता की यादगार है, क्योंकि बहुत-सी बह्रें हिन्दी और उर्दू में समान हैं तथा अरूज़ अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों को भी उजागर करता है, क्योंकि इसके इतिहास में भारत, अरब, ईरान और यूनान का ज़िक्र होता है। —अल्लामा अख़्लाक़ देहलवी
- अरूज़ एक मश्हूर फ़ने-शायरी है। जिससे शेर का वज़्न या उसका मौज़ूँ या नामौज़ूँ होना मालूम किया जाता है। —मुहक़्क़िक़ तूसी
- अगरचे उलझे हुए वज़्न में कोई शायर तबीअत की मौज़ूनियत की वज्ह से कोई शेर तो कह सकता, मगर भरोसा नहीं होता इसलिए अरूज़ की जानकारी होनी चाहिए। मुकम्मल अरूज़ी होना ज़रूरी नहीं। अरूज़ गणित की तरह एक ज्ञान है जो भटकाव बर्दाश्त नहीं करता। —ज़ार अल्लामी
- ऐसा इल्म जिससे नज़्म(पद्य) और नस्र(गद्य) में फ़र्क़ किया जाता है। इसके अलावा और कोई मापदण्ड नहीं है। —तूसी
- अरूज़ का दारोमदार शब्दों की आवाज़ पर है। —शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

इस इल्म का नाम 'अरूज़' क्यों पड़ा : इसके कई कारण बताये जाते हैं। कुछ इस प्रकार हैं—

इस पर चूँकि शेर 'अर्ज़' करते हैं, अर्थात् अपने विचार को इसके अनुसार ढालते हैं। इसलिए 'अर्ज़' करने की मुनासिबत से इसे अरूज़ कहा जाता है।

किसी का विचार है कि अरब देश में ख़ेमों का बहुत रिवाज है और ये ख़ेमे स्तम्भों (Poles) पर खड़े किये जाते हैं। जिन्हें 'अरूज़' भी कहा जाता है। इस तरह शेर रूपी ख़ेमा खड़ा

करने के लिए हमें अर्कान(रुक्न का बहुवचन) के Poles की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इसे अरूज़ कहा जाता है।

सबसे विश्वसनीय कारण ये जान पड़ता है कि इसको ईजाद करनेवाला शख़्स चूँकि उन दिनों अरब के मक्का शह्र में निवास करता था और मक्का का एक नाम अरूज़ भी है। सम्भवत: इसीलिए उसने 'तयम्मुमन् और तबर्रुकन्'(श्रद्धावश) इस विद्या का नाम अरूज़ रखा होगा।

इसको किसने ईजाद किया : इसको खोजने और इसके नियम प्रतिपादित करनेवाले शख़्स का नाम है— ख़लील बिन अहमद बिन फ़राहीद बिन मालिक नहम बिन अब्दुल्लाह बिन मालिक बिन मज़र बिन अज़दी। ये नाम इसका ख़ानदानी शज्रा बताता है, मगर वो ख़लील बिन अहमद बसरी के नाम से प्रसिद्ध है। ये अब से कोई साढ़े तेरह सौ साल पहले (720-787 ई.) बसरा में पैदा हुए थे। वो कई कलाओं में पारंगत थे, विशेषकर संगीत के बहुत बड़े ज्ञाता थे और यही सच है कि उन्होंने संगीत के आधार पर ही अरूज़ की बुनियाद रखी। इसलिए शायरी में एक लय होती है, एक रिदम, एक नग़मगी होती है। ख़लील बिन अहमद एक झोपड़ी में रहते थे और अपनी दुनिया में मस्त रहते थे। बादशाह ने बहुत-से तोह्फ़े उन्हें भेजे मगर वो लौटा देते थे। दरबार में नहीं जाते थे और अकेले रहकर अपनी खोज में मगन रहते थे। ऐसे ही जुनूनी लोगों से मानवता को लाभ मिलता रहा है। उनकी खोज ने उनका नाम अमर कर दिया।

अरूज़ का आगमन भारत में कब हुआ : अभी ये रिसर्च का मामला है। उर्दू-शायरी का, ख़ास तौर से ग़ज़ल का इतिहास तो अमीर ख़ुस्रो (1345 ई.) से प्रारम्भ होने के प्रमाण हैं, परन्तु उनसे भी बहुत पहले रावणकृत शिव-स्तोत्र में ऐसे श्लोक मिलते हैं जो अरबी अरूज़ पर आधारित हैं। समयकाल का आकलन सम्भव नहीं—

जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्।।

इस श्लोक का आधार शुद्ध अरबी अरूज़ 'मफ़ाएलुन मफ़ाएलुन मफ़ाएलुन मफ़ाएलुन' पर है।

अमीर ख़ुसरो के बाद उर्दू-शायरी का कहीं ज़ियादा ज़िक्र नहीं मिलता। सबसे पहला साहिबे-दीवान शायर क़ुली कुतुब शाह को माना जाता है जो दकन के राजा थे। उन्हें उर्दू का प्रारम्भिक शायर माना जाता है, मगर वली दकनी (1668-1709) को उर्दू-ग़ज़ल का बाबा आदम कहा जाता है, परन्तु इतिहास में दो ऐसे शायरों का विवरण मिलता है जिन्होंने उर्दू-शायरी के बाक़ायदा आग़ाज़ से पहले शेर कहे थे। प्यारेलाल 'शौक़ी' जो जहाँगीर के काल के विद्वान थे। उनकी एक ग़ज़ल के दो शेर देखिए—

जिन प्रेम रस चाखा नहीं, अमृत पिया तो क्या हुआ
जिन ईश्क़ में सर ना दिया, जो जग जिया तो क्या हुआ
मारग बसी सब छोड़कर, दिल तन सेतीं ख़ल्वत पकड़
'शौक़ी' पियारेलाल लाल बिन, सब सीं मिला तो क्या हुआ

बह्र शुद्ध अरबी बह्र है। बह्रे-रजज़ 'मुस्तफ़एलुन' चार बार एक मिस्रे में।

इसी तरह राय पण्डित चन्द्रभान 'बरहमन'(या बिरहमन) नाम के एक शायर शाहजहाँ के दरबार में मीर मुंशी थे, उनकी एक ग़ज़ल के दो शेर देखिए—

ख़ुदा ने किस शह्र अन्दर हमन को लाय डाला है
न दिलबर है, न साक़ी है, न शीशा है, न प्याला है
'बरहमन' वास्ते स्नान के फिरता है बगिया सीं
न गंगा है, न जमुना है, न नद्दी है, न नाला है

ये भी शुद्ध अरबी बह्र, बह्रे-हज़ज पर आधारित है जिसके अर्कान हैं 'मुफ़ाईलुन' चार बार एक मिस्रे में। ज़बान और बयान में किस क़दर पुख़्तगी है। उस दौर के मुस्लिम शायरों का कहीं ज़िक्र नहीं मिलता। वली दकनी इन शायरों से कोई डेढ़ सौ साल बाद हुए।

इस तरह सही अन्दाज़ा लगाना सम्भव नहीं कि अरबी अरूज़ भारत में कब पहुँचा। सम्भवत: अमीर ख़ुसरू के ज़माने में अरूज़ आधारित शायरी होने लगी थी। भारत में जब से गंगा-जमुनी तह्ज़ीब मिलती है तब से ही हिन्दू-मुसलमानों ने भी एक-दूसरे की कलाओं को सीखने-समझने में किसी तरह की संकीर्णता नहीं रखी। हिन्दू शायरों ने अरबी अरूज़ को उसी तरह दरियादिली से अपनाया जिस तरह मुसलमानों ने भारतीय संगीत, भारतीय छन्दशास्त्र को खुले दिल से अपनाने में झिझक मह्सूस नहीं की और इस तरह गंगा-जमुनी तह्ज़ीब मज़्बूत-से-मज़्बूत तथा समृद्ध होती गयी।

क्या ख़लील बिन अहमद की खोज से पहले भी अरूज़ आधारित शायरी होती थी : रिसर्च से ये बात साबित हो चुकी है कि ख़लील बिन अहमद से पहले भी बाक़ायदा छन्दबद्ध शायरी होती थी। यूनानी भाषा में इसकी मिसालें मिलती हैं, मगर उनकी बह्रें इतनी स्पष्ट नहीं हैं, जबकि फ़ार्सी में इसकी मिसालें ख़ूब मिलती हैं। बहराम ग़ौर 430 से 432 ई. तक वो ईरान का बादशाह रहा। उसके ज़माने का एक शेर मिलता है जिसका पहला मिस्रा उसका और दूसरा मिस्रा उसकी प्रेमिका दिलआराम का कहा हुआ साबित हुआ है। ये तो पाँचवी सदी का उदाहरण है। छठी सदी का भी एक शेर मिलता है, ख़ुसरू परवेज़ उस समय बादशाह था। ये शेर उसकी प्रेमिका शीरीं के महल के शिला पर अंकित था। हैरत की बात ये है कि दोनों शेर ख़ालिस अरबी बह्रों में थे। एक बह्रे-रमल का वज़्न था 'फ़ाएलातुन फ़एलातुन, फ़ेलुन' तो दूसरा बह्रे-मोतक़ारिब का एक वज़्न था 'फ़ऊलुन, फ़ऊलुन, फ़ऊलुन, फ़अल'। इस तरह ये बात साबित होती है कि ख़लील बिन अहमद ने अरबी अरूज़ बनाते समय यूनानी और फ़ार्सी अरूज़ से भी फ़ायदा उठाया था।

यहाँ एक और पते की बात, ये दोनों बह्रें, हिन्दी छन्दशास्त्र में भी मौजूद हैं। बह्रे-रमल को हिन्दी में 'हरिगीत' (हरिगीतिका) तथा बह्रे-मोतक़ारिब को 'भुजंगप्रयात' कहते हैं। इससे ये आभास भी होता है कि ख़लील बिन अहमद ने सम्भवत: यूनानी, ईरानी तथा हिन्दी अरूज़ से भी लाभ उठाया होगा।

तो क्या हिन्दी छन्दशास्त्र का प्रभाव भी है अरबी अरूज़ पर : हिन्दी अरूज़ से अभिप्राय शुद्ध रूप से संस्कृत का अरूज़ ही है, जिसे छन्द कहा जाता है। पिंगल ऋषि ने ईसा मसीह से कोई ढाई सौ साल पहले पिंगल छन्दशास्त्र के नाम से रचना की थी जिसका आधार संस्कृत का छन्दशास्त्र माना जाता है और यही हिन्दी अरूज़ है। ख़लील बिन अहमद से सदियों पहले अल्बरूनी गुज़रा है जो अरबी, फ़ार्सी, यूनानी, सिरयानी और संस्कृत का बड़ा ज्ञानी था तथा ज्योतिषशास्त्र से भी अवगत था। वो जब दसवीं ईस्वी में हिन्दुस्तान आया तो संस्कृत की दीक्षा ली। उसने 'किताबुलहिन्द' नाम से अतिप्रतिष्ठित ग्रन्थ लिखा। जिसमें संस्कृत पिंगल का भी विवरण था। उसकी राय में 'पद' का

दस्तूर हिन्दुस्तान में वही था जो यूनान में था। उसने लिखा है कि अरबी शेर जिस तरह अरूज़ और ज़र्ब में विभक्त होते हैं उसी तरह हिन्दी शेर भी दो हिस्सों में बँटे होते हैं जिनके हर हिस्से को 'रजल' यानी 'पद' कहते हैं और यूनानी भी इन हिस्सों को 'रजल' कहते हैं। अरबी अरूज़ से हिन्दी अरूज़ में काफ़ी जगह समानताएँ मिलती हैं जैसे—

हिन्दी में जिसे लघु (= एक मात्रा) कहते हैं उसे अरबी में सबबे-खफ़ीफ़ कहते हैं। गुरु (= दो मात्रा) को अरबी में सबबे-सक़ील कहते हैं। दोनों में शब्दों/अक्षरों की गिनती उच्चारण आधारित है। जो बोला जायेगा वो गिना जायेगा भले ही वो अक्षर, शब्द में लिखा गया हो या न लिखा गया हो। कुछ बह्रें ऐसी हैं जो हिन्दी और अरबी अरूज़ दोनों में विभिन्न नामों से मौजूद हैं। उदाहरण के तौर पर बह्रे-रमल को हिन्दी में 'हरिगीत'(हरिगीतिका) छन्द, बह्रे-मोतदारिक को 'त्रिभंगा', बह्रे-मोतकारिब को 'भुजंगप्रयात', बह्रे-सरीअ को चौपाई कहते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी छन्दशास्त्र का प्रभाव भी अरबी अरूज़ पर है, क्योंकि इसके नियम ख़लील बिन अहमद के जीवनकाल से काफ़ी पहले प्रतिपादित किये जा चुके थे।

भारत में अरूज़ की लोकप्रियता कैसे बढ़ी : इसके कई कारण हैं, एक तो ये कि ये नयी विद्या थी इसलिए लोगों में इसके प्रति जिज्ञासा के कारण पहल हुई। दूसरे ये कि हिन्दी-पिंगल से परिचित जनता को ये उनके स्वभाव के अनुसार ही लगा। तीसरी सबसे बड़ी वज्ह ये बतायी जा सकती है कि पिंगल या छन्द के नियम काफ़ी गूढ़ थे और पदों एवं मात्राओं के हेर-फेर को सन्तुलित करना हर एक के बस की बात नहीं थी। अति निपुणता की आवश्यकता रहती थी इसलिए स्वाभाविक तौर से लोग अरूज़ को अपनाने लगे, वर्ना एक मुद्दत तक शायरी हिन्दी बह्रों में ही होती रही थी और मुसलमान शायर भी हिन्दी बह्रों में ही शायरी करते थे जिसकी मिसाल 'पद्मावत' है। जिसके रचयिता मलिक मोहम्मद जायसी हैं। धीरे-धीरे छन्द का प्रभाव घटता गया। भाषाओं में बहुत परिवर्तन हुए और बाद में फ़ार्सी और उर्दू के विस्तार के कारण शायरी अरबी अरूज़ पर होने लगी।

भारत में अरूज़ का प्रचार-प्रसार कैसे हुआ : उर्दू-भाषा का तो अपना अरूज़ न था और न है। अरबी अरूज़ ही फ़ार्सी में पहुँची और फ़ार्सी से उर्दू में रूपान्तरित हुई। मुहम्मद हुसैन फ़क़ीर की फ़ार्सी किताब 'हिदाएक़ुल बलाग़त' शायरी और भाषा-ज्ञान की अनुपम पुस्तक है। भारत में अँग्रेज़ों का शासनकाल था। मिस्टर बूतरस एक महान् विद्वान अँग्रेज़ थे, जिन्हें ईस्टर्न लिट्रेचर से काफ़ी लगाव था। उन्होंने मौलवी इमाम बख़्श सहबाई से इस पुस्तक का उर्दू में अनुवाद कराया, जो फ़ार्सी के शिक्षक तथा साहित्यकार थे। इस पुस्तक का तीसरा भाग अरूज़ पर केन्द्रित था, जिसे स्वतन्त्र रूप से पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। अरूज़ पर ये उर्दू की पहली पुस्तक है। बाद में जितनी भी पुस्तकें आयीं और आज तक जो कुछ इस विषय में छप रहा है वो सब इसी पुस्तक से उधार लिया गया है।

तो क्या अरूज़ शायरी के लिए परम आवश्यक है : शायरी में अरूज़ की आवश्यकता के पक्ष में जितने स्वर उभरे हैं उनके मुक़ाबले इसके विपक्ष में उतने स्वर नहीं हैं। अगर ये शायरी करने का व्याकरण है, आधार है, तो इसकी आवश्यकता से कैसे इंकार हो सकता है। अगर शायर, शायरी के मूलभूत व्याकरण से अवगत नहीं होगा तो शायरी कैसे होगी। जैसे कि अगर कोई पहलवान, पहलवानी के हुनर से वाक़िफ़ नहीं होगा तो कैसे पहलवानी करेगा। मुम्किन है अपनी शक्ति से कुछ एक कुश्ती जीत जाये मगर कोई चपल-चतुर पहलवान अपने दाँव-पेच से उसे किसी दिन पटख़नी

दे सकता है। ठीक उसी तरह, शायर को शायरी के मूलभूत आधार से परिचित होना परम आवश्यक है। ये आवश्यक नहीं कि इस विधा के अनुसार ही सीमित और संकुचित होकर शायरी की जाये, मगर नियमों का पालन आवश्यक तो है ही, वर्ना डर ये रहेगा कि अच्छे-से-अच्छा विचार शेर में ढला हो, मगर शेर अरूज़ की कसौटी पर खरा न हो तो वो शेर सिरे से शेर ही न माना जाये, अर्थात् ख़ारिज कर दिया जाये, यानी शेर ढेर हो जाये।

ये ठीक है कि शायरी एक ख़ुदादाद सलाहियत, अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त गुण है। शायरी हर किसी के बस की बात नहीं। शायरी के लिए नैसर्गिक गुण अपरिहार्य है जिसे उर्दू में तबीअत की मौज़ूनियत कहते हैं, मगर ये दावा कि शेर-के-शेर उनके ज़ेहन में आसमान से उतरते हैं, भ्रामक है। विचार आ सकते हैं, मगर वो विचार मिस्रा-दर-मिस्रा, शेर-दर-शेर बन के अवतरित नहीं हो सकते। ये विश्वास से परे है। विचारों को शेरी पैकर पहनाने के लिए किसी-न-किसी बह्र की आवश्यकता पड़ती ही है और ये वही पड़ाव है जब अरूज़ की आवश्यकता पड़ती है। इसके विरोध में दो उदाहरण अक्सर सामने आते हैं। मौलाना रूम ने कहा है—

शूमिए गोयम वहज़ आबे-हयात
मन न दानम, फ़ाएलातुन, फ़ाएलात

त्रिलोकचन्द 'मह्रूम' ने कहा—

'मह्रूम' हमको इश्क़ ने शायर बना दिया
बेसाख़्ता ज़बाँ से निकलती है दिल की बात
करते रहेंगे मौलवी साहब तमाम उम्र
मफ़ऊल, फ़ाएलात, मफ़ाईल, फ़ाएलात

मगर बाद के वाक़िआत से पता चलता है कि उन्होंने ये विरोध सिर्फ़ विरोध जताने के लिए किया था, वर्ना उन्होंने भी अरूज़ की आवश्यकता को महत्त्वपूर्ण बताया। मतलब साफ़ है कि इसका विरोध शायरों ने सिर्फ़ विरोध करके अपना नाम चमकाने के लिए किया वरना दिल-ही-दिल में इसकी महत्ता के प्रति वो विरोध नहीं थे।

आइए अब देखते हैं कि अगर शायर को अरूज़ की जानकारी नहीं है तो वो क्या हास्यास्पद स्थिति निर्मित कर सकता है। ये वाक़िआ अरूज़ के विरोधियों की आँख खोलनेवाला है— शाह हातिम के एक शागिर्द थे अज़ीम। अरूज़ी मालूमात पर अपनी पकड़ न होने की वज्ह से वे अपनी ग़ज़ल में बह्रों की घालमेल कर बैठे। जिस पर सैयद इंशा ने व्यंग्य करते हुए कहा—

पढ़ने को शब जो यार ग़ज़ल-दर-ग़ज़ल चले
बह्रे-रजज़ में डाल के बह्रे-रमल चले

अगर अरूज़ी जानकारियाँ नहीं होंगी तो ऐसी ग़लतियाँ होती रहेंगी। दो वाक़िऐ और याद आ रहे हैं। मेरे एक मित्र है जो सिर्फ़ मोतरन्निम(लयात्मक) बह्रों में ही तमाम उम्र ग़ज़ल कहते रहे हैं। एक बार एक तरही मिस्रा मिला जिसकी बह्र उनके लिए अपरिचित थी, क्योंकि उसकी कोई धुन उनके पास नहीं थी। लिहाज़ा दो-एक रोज़ वो मिस्रे में उलझे रहे, कुछ समझ नहीं आया और जब कोई धुन 'सेट' नहीं कर पाये तो मेरे पास ये शिकायत लेकर आये कि वो तरही मिस्रा बह्र से ख़ारिज है। मेरे बहुत समझाने पर भी आश्वस्त नहीं हो रहे थे। कहने लगे अगर मिस्रे का पहला रुक्न या आख़िरी रुक्न इस तरह बदल दें तो मिस्रा ठीक हो जा रहा है। मैंने कहा मिस्रा ठीक नहीं हो जा रहा है, बल्कि मिस्रा आपकी किसी धुन पर सेट हो जा रहा है, वर्ना ये मिस्रा बिल्कुल दुरुस्त

है और फिर मैंने तक़्तीअ करके जब उन्हें समझाया और किसी फ़िल्मी धुन को भी बताया तब वो माने। फिर क्या था दो-तीन घण्टे बाद ही वो छह-सात शेर लिये वापस आ गये। कहने लगे बस बह्‌र समझने में ही अटका हुआ था, वर्ना शेर तो मैं फटाफट कह लेता हूँ, यानी उनकी तबीअत शायराना थी और मौज़ूनियत ख़ुदादाद थी, मगर बह्‌रों को तो सीखना-समझना लाज़िम साबित हो ही गया।

दूसरा वाक़िआ है एक ऐसे शायर का जिनकी शायरी की उम्र मेरी उम्र से अधिक है, मगर वो बग़ैर इस्लाह लिये एक शेर भी भरोसे के साथ मुशायरे में पढ़ने से डरते थे। बदक़िस्मती से उनके उस्ताद का इंतिक़ाल हो गया। उन्हें लगा उनकी शायरी भी इंतिक़ाल कर गयी। बहरहाल, वो अहंकारी इंसान नहीं थे, लिहाज़ा एक दिन मेरे पास आये ग़ज़ल लेकर। ज़बान और बयान तो ख़ैर रवायती तर्ज़ का था, मगर बह्‌र में कहीं-कहीं भटकाव साफ़ झलक रहा था। मैंने कहा क्या उस्ताद से कुछ अरूज़ी मालूमात हासिल नहीं करते थे। उन्होंने इंकार करते हुए कहा— नहीं भाई, मैं उन्हें ग़ज़ल दे आता था, दो दिन बाद ले आता था। इस्लाह करके वो मुझे दे देते थे। मैं अपनी पाण्डुलिपि में उतार लेता था। मैंने कहा गोया आप ज़िन्दगी भर शायरी करते रहना चाहते हैं और ज़िन्दगी भर इस्लाह लेते रहना चाहते हैं। कम-से-कम बुनियादी मालूमात ही आपने हासिल की होती तो आज आप दूसरों की ग़ज़ल पर इस्लाह दे रहे होते।

इसलिए मेरा मानना है कि अरूज़ की बेसिक जानकारियाँ हर शायर के लिए परम आवश्यक हैं। मैं भी हर शायर के नितान्त अरूज़ी बन जाने का विरोध करता हूँ, मगर नितान्त अज्ञानी बने रहने का विरोध तो और अधिक करता हूँ। एक दरमियानी रास्ता आवश्यक है। ख़ुदादाद शायराना सलाहियत को अगर अरूज़ का सहारा मिल जाये तो फिर कल्पना की उड़ानों के लिए आसमान का विस्तार भी कम पड़े, मगर अधिकतर तो ये नाम-निहाद(तथाकथित) नैसर्गिक शायर अरूज़ की बातें करनेवालों का उपहास उड़ाने से भी गुरेज़ नहीं करते।

अरूज़ एक गूढ़ विद्या तो है परन्तु इसको सीखना-समझना असम्भव भी नहीं। बुनियादी बातें जिनसे शायर और शायरी अर्थात् व्यक्तित्व और कृतित्व में निखार आ जाये उन्हें जानना लाभप्रद ही रहेगा और आसान भी। नैसर्गिक क्षमतावाले शायरों के लिए तो ये और भी आसान है, मगर ये मानकर चलना चाहिए कि किसी भी विद्या, किसी भी कला के नियम कभी भी और कहीं भी सरल नहीं हैं तो फिर अरूज़ को ही गूढ़ मानने की ज़िद क्यों? तन्मयता, धीरज तथा इच्छा-शक्ति से हर जंग जीती जा सकती है, हर परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ जा सकता।

तो क्या इसे कुछ सरल नहीं बनाया जा सकता था, क्या इसके नियम अपरिवर्तनीय हैं : अरूज़ कोई धार्मिक उपदेश नहीं जिसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। ये एक इल्म है; समय और समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में इसमें परिवर्तन करना कोई पाप नहीं होगा, मगर हर परिवर्तन के पीछे ठोस कारण और दलीलें आवश्यक हैं। मनमाना परिवर्तन अराजकता पैदा करेगा। बहुत-से अरूज़ी उसूल अप्रासंगिक और अव्यावहारिक हैं, उन पर अरूज़ के विद्वान मिल-बैठकर सोच सकते हैं। बह्‌रों के नाम शैतान की आँत की तरह हैं, लम्बे-लम्बे। उनका हिन्दुस्तानीकरण किया जा सकता है। ज़िहाफ़(छन्द के गणों या बह्‌र के रुक्न में मात्राओं की कमी करना) का मामला भी बहुत पेचीदा है, उनको आसान किया जा सकता है। किसी भी इल्म की तरक़्क़ी के लिए आवश्यकतानुसार परिवर्तन आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य हैं, इसलिए अरूज़दानों को भी खुले दिमाग़ से इस तरफ़ पहल करनी चाहिए ताकि अरूज़ और लोकप्रिय हो सके।

सन्दर्भ :

1. फ़ने-शायरी-ओ-मीज़ाने-सुख़न – अल्लामा अख़्लाक़ देहलवी
2. फ़ने-शेर-ओ-शायरी और रूहे-बलाग़त – प्रो. हमीदुल्ला हाशमी
3. मुबादियाते-अरूज़ – डॉ. साहब अली
4. मुसल्लिमाते-फ़न – ओमप्रकाश अग्रवाल 'ज़ार' अल्लामी
5. मेयारुल अश्आर तर्जुमा – मुहक़्क़िक तूसी

वीनस केसरी
942, आर्य कन्या चौराहा
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-211003 (उ. प्र.)
मो.- 09453004398

वीनस केसरी युवा ग़ज़लकारों के सक्रिय और सार्थक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। साहित्य के प्रति अपनी अदम्य और अटूट आस्था को व्यावहारिक रूप से सक्रिय रखने के लिए इन्होंने अंजुमन प्रकाशन की बुनियाद डाली। इसके माध्यम से अब तक इन्होंने गद्य एवं पद्य की दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित करके हिन्दी साहित्य के भण्डार में उल्लेखनीय इज़ाफ़ा किया है। इल्मे-अरूज़ तथा ग़ज़ल की अन्यान्य बारीकियों से जुड़ा इनका एक ग्रन्थ 'ग़ज़ल की बाबत' शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

प्रस्तुत लेख ग़ज़ल के क़ाफ़ियों में पाये जानेवाले दोषों से परिचित कराता है। आज के मौजूदा शार्टकट दौर में नये-नये तथाकथित शायरों को ग़ज़ल की बारीकियों से रू-ब-रू होने का वक़्त कहाँ। ऐसे में ग़ज़ल की छोटी-छोटी बातों का ख़याल रखना और उन्हें महत्त्वपूर्ण मानना, न केवल ग़ज़ल जैसी संजीदा विधा के प्रति ईमानदारी है, बल्कि युवा-वर्ग के गुरुतर दायित्वों के प्रति जवाबदेही भी है। ये लेख ऊपर उल्लिखित वीनस केसरी की शीघ्र प्रकाशित किताब से कतिपय संशोधनों के उपरान्त तैयार किया गया है।

वीनस केसरी

देखिए! क़ाफ़िया तंग न होने पाये

क़ाफ़िया ग़ज़ल का एक मुख्य हिस्सा है। ये ग़ज़ल का केन्द्र है जहाँ अपने अनूठे प्रयोग से शायर श्रोता को चौंका भी सकता है और चमत्कृत भी कर सकता है। क़ाफ़िया के चुनाव और रख-रखाव में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि इसमें छोटी-से-छोटी चूक के कारण शेर दोषपूर्ण हो जाता है। क़ाफ़िया से सम्बन्धित लगभग सभी दोषों को बड़ा दोष माना जाता है और शेर ख़ारिज हो जाता है। क़ाफ़िया से सम्बन्धित दोषों पर चर्चा से पहले कुछ बातें स्पष्ट करना आवश्यक है—

(क). **स्वर–** अ से अः तक होता है। अ, इ, उ ह्रस्व स्वर तथा बाक़ी सभी स्वर दीर्घ होते हैं।
(ख). **व्यंजन–** क से ज्ञ व्यंजन होता है।
(ग). **अक्षर–** जहाँ दोनों की मिश्रित बात करनी हो वहाँ अक्षर शब्द का प्रयोग किया गया है।
(घ). **साकिन–** जिस व्यंजन में कोई स्वर नहीं होता उसे साकिन हर्फ़ कहते हैं, अर्थात् वो व्यंजन हलन्त व्यंजन होगा। जैसे— क्, ख्, ग् आदि, हिन्दी-वर्णमाला में प्रत्येक व्यंजन के साथ 'अ' स्वर निहित होता है, देखें— क्+अ = क, ख्+ अ = ख, ग्+ अ = ग । हिन्दी का शब्द 'चल' उर्दू में इस प्रकार टूटता है— च्+अ+ल = चल् ; ध्यान दें कि 'चल' का 'ल' हिन्दी में 'अ' स्वर-युक्त है, अर्थात् हलन्त नहीं है, परन्तु उर्दू में साकिन अर्थात् हलन्त हो जाता है।
(ङ). **मुतहर्रिक–** जिसमें हरकत हो उसे मुतहर्रिक कहते हैं। उर्दू में मात्रा को 'हरकत' कहते हैं। जिस व्यंजन में कोई स्वर जुड़ा होता है उसे मुतहर्रिक(गतिशील) कहते हैं, जैसे—क्+अ = क, क्+आ = का, क्+इ = कि, क्+ई = की, क्+उ = कु, क्+ऊ = कू, क्+ए = के, क्+ऐ = कै, क्+ओ = को, क्+औ = कौ, क्+अं = कं,

कोई दो व्यंजन मिलकर शाश्वत दीर्घ तभी हो सकते हैं जब पहले एक मुतहर्रिक और उसके बाद एक साकिन हर्फ़ हो। जैसे— 'चमचम' को उर्दू-भाषाविज्ञान अनुसार 'चम्-चम्' मानेंगे और उस अनुसार इसकी मात्रा 'ऽऽ' होगी यदि इसके चारों हर्फ़ को मुतहर्रिक करके 'चमचम' करेंगे तो इसकी मात्रा ' ।।।। ' हो जायेगी। 'शहर'(।ऽ) और 'शह्र' या 'शह्र'(ऽ।) का मूल क़िस्सा यही है। मूल शब्द 'शह्र' में- श्+अ+ह्+र् है, इस कारण 'शह्' 'ऽ' और 'र्' '।' होता है, परन्तु जब हम इसके हर्फ़ 'ह' को साकिन से मुतहर्रिक कर देते हैं अर्थात् श+ह+अ+र्, तो 'ह' मुतहर्रिक होकर 'र' साकिन से मिलकर दीर्घ हो जाता है इस प्रकार श '।' और 'हर्' 'ऽ' हो जाता है।
(च). **हर्फ़े-रवी –** आगे क़ाफ़िया के दोष पर चर्चा करते हुए हर्फ़े-रवी का प्रयोग कई जगह हुआ है इसलिए चर्चा के पूर्व इसे समझना आवश्यक है। इसकी परिभाषा ये है कि किसी शब्द के मूल

रूप का अन्तिम व्यंजन हर्फ़े-रवी होता है। उदाहरणस्वरूप—
कल में 'ल' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'कल' का आख़िरी अक्षर)
बीमारी (बीमार+ई) लफ़्ज़ में 'र' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'बीमार' का आख़िरी अक्षर)
दोस्ताना (दोस्त+आना) में 'त' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'दोस्त' का आख़िरी अक्षर)
चला (चल+आ) में 'ल' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'कल' का आख़िरी अक्षर)
चलिए (चल+इए) में 'ल' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'चल' का आख़िरी अक्षर)
चलना (चल+ना) में 'ल' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'चल' का आख़िरी अक्षर)
चलवाता (चल+वाता) में 'ल' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'चल' का आख़िरी अक्षर)
ख़्वाबगाह (ख़्वाब+गाह) में 'ब' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'ख़्वाब' का आख़िरी अक्षर)
सुख़नवर (सुख़न+वर) में 'न' हर्फ़े-रवी है (मूल लफ़्ज़ 'सुख़न' का आख़िरी अक्षर)

क़ाफ़िया के दोष पर चर्चा करते हुए प्रत्येक स्थान पर अश्आर को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। इसलिए इससे बचा गया है। हाँ, जहाँ अश्आर से अतिरिक्त सहायता मिली है वहाँ उसे प्रस्तुत किया गया है। जहाँ दोषमुक्त शेर उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया वहाँ अलग-अलग शायरों की ग़ज़लों से शेर प्रस्तुत किया गया है तथा जहाँ दोषपूर्ण शेर का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वो केवल इसी आशय से लेखक द्वारा स्वरचित है।

क़ाफ़िया के निम्नलिखित दोष चिह्नित किये गये हैं—

1. शेर में क़ाफ़िया न होना : ग़ज़ल में रदीफ़ न होने पर भी ग़ज़ल अरूज़ के अनुसार स्वीकार्य है और ऐसी ग़ज़ल को ग़ैर-मुरद्दफ़ ग़ज़ल कहा जाता है, परन्तु शेर में क़ाफ़िया का होना अनिवार्य है। यदि क़ाफ़िया को नहीं निभाया गया है तो ऐसी रचना में उन्नत भाव, शानदार कहन और अश्आर के बह्र में होने के बावजूद रचना को ग़ज़ल नहीं कहा जा सकता। जैसे—

जो जैसा है उसे वैसा कहा कर
अरे ओ आइने तू सच कहा कर

'कहा कर' रदीफ़ के पूर्व दोनों मिस्रों में 'वैसा' और 'सच' अल्फ़ाज़ हमक़ाफ़िया नहीं हैं, अर्थात् इस मत्ले में क़ाफ़िया है ही नहीं, इस शेर को ग़ज़ल का मत्ला नहीं कहा जा सकता है। इसे यूँ सुधार कर दोषमुक्त किया जा सकता है—

जो झूठा है उसे झूठा कहा कर
अगर आईना है तो हक़ अदा कर

2. इक़्वा-दोष (ह्रस्व स्वर का विरोध) : स्पष्ट है कि किन्हीं दो शब्दों के हमक़ाफ़िया होने के लिए दोनों के हर्फ़े-रवी में साम्य होना आवश्यक है। मत्ला में क़ाफ़ियों का चुनाव करते समय हमें ध्यान रखना होता है कि उनमें व्यंजन के पूर्व का स्वर भी एक ही हो। जैसे— 'चल', 'पल' को यदि ग़ज़ल में क़ाफ़िया के तौर पर प्रयोग करते हैं तो 'ल' की बाध्यता स्पष्ट है, मगर इसके पहले के 'अ' स्वर को भी समान रखना पड़ेगा। इसके पहले 'च', 'प' व्यंजन में 'अ' स्वर का साम्य है, अर्थात् दोनों शब्द हमक़ाफ़िया हुए। आगे के अश्आर में भी ऐसा क़ाफ़िया लेना होगा जिसमें 'ल' के पहले 'अ' स्वर हो, जैसे— 'कल', 'हल', 'दल' आदि; अर्थात् हमें 'ल' के पूर्व 'अ' स्वर को भी निभाना होगा 'ल' के पूर्व कोई और स्वर ले लिया गया तो इक़्वा-दोष पैदा हो जायेगा, आशय ये है कि 'चल', 'पल' के बाद 'मिल', 'खिल', 'कुल', 'खुल' क़ाफ़ियों को नहीं ले सकते।

3. सिनाद दोष (हर्फ़े-रवी के पूर्व दीर्घ स्वर का विरोध) **:** इक़्वा-दोष से बचने के लिए मत्ले में क़ाफ़ियों का चुनाव करते समय हमें ध्यान रखना होता है कि उनमें जो व्यंजन समान हों उनके पहले आये ह्रस्व स्वर का पालन अवश्य रूप से हो। यही बात दीर्घ स्वर के साथ भी लागू होती है। क़ाफ़ियों में तुकान्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर का विरोध होने पर सिनाद दोष पैदा हो जाता है। जैसे— देता, नेता को यदि ग़ज़ल में क़ाफ़िया के लिए प्रयोग करते हैं तो हम बाध्य हो जाते हैं कि 'आ' की मात्रा के साथ-साथ 'त' को भी हर क़ाफ़िया में निभाया जाये, मगर इसके साथ हमें 'त' के पहले आये दीर्घ स्वर को भी निभाना होगा। 'देता', 'नेता' के बाद हम 'रोता' या 'आता' शब्दों को नहीं ले सकते, क्योंकि इनमें 'ता' के पहले का दीर्घ स्वर 'ए' से भिन्न है। यदि ऐसा किया गया तो सिनाद का दोष हो जाता है। इसी प्रकार 'आ', 'ई', 'ऊ', 'ऐ' जैसी दीर्घ मात्राओं के साथ भी है।

4. इक्फ़ा-दोष (मिलते-जुलते हर्फ़ के कारण हर्फ़े-रवी बदल जाना)**:** यदि ऐसे शब्दों को हमक़ाफ़िया मानकर शेर में बाँध दिया जाये जो अस्ल में अलग-अलग उच्चारण के हों तो इक्फ़ा-दोष हो जाता है। हिन्दी में 'श' और 'ष' में ही ऐसा साम्य है इसलिए इसके द्वारा इसे समझना आसान होगा। यदि हम 'शेष' के साथ 'केश' का क़ाफ़िया बाँधेंगे तो शेर दोषपूर्ण हो जायेगा, क्योंकि उच्चारण साम्य होने के बावजूद दोनों अलग-अलग व्यंजन हैं, इसलिए यहाँ इक्फ़ा-दोष हो जाता है।

इसी प्रकार उर्दू के कई व्यंजन हिन्दी में आकर उच्चारण-साम्य हो जाते हैं, परन्तु वो उर्दू में अलग-अलग व्यंजन होते हैं इसलिए एक ही ग़ज़ल में क़ाफ़िया के रूप में प्रयोग करने पर इक्फ़ा दोष हो जाता है। हिन्दी के 'ज' अक्षर और उर्दू के 'जीम' अक्षर में उच्चारण-साम्य है, लेकिन 'ज़' के उच्चारण के लिए उर्दू में पाँच व्यंजन (ज़ाल, ज़े, ज़े(तीन नुक़्तेवाला), ज़्वाद, ज़ो) हैं। इन पाँचों हर्फ़े-रवी के अल्फ़ाज़ आपस में हमक़ाफ़िया नहीं हो सकते, अर्थात् 'राज़'(ज़े) के साथ 'आज'(जीम) को क़ाफ़िया मानना तो ग़लत है ही महाज़ (ज़ = ज़ाल) के साथ मजाज़ (ज़ = ज़े) को क़ाफ़िया मानना भी ग़लत है या वाइज़ (ज़ = ज़ो) के साथ फ़ाइज़ (ज़ = ज़्वाद) को क़ाफ़िया मानना भी ग़लत है। इससे इक्फ़ा दोष हो जाता है। इसी प्रकार उर्दू के 'से', 'स्वाद', 'सीन' हुरूफ़(हर्फ़ का बहुवचन) के लिए हिन्दी में केवल 'स' हर्फ़(अक्षर) ही निर्धारित है। उर्दू के 'ते', 'तो' हुरूफ़ के लिए हिन्दी में केवल 'त' हर्फ़ ही निर्धारित है। 'ह' के साथ भी इसी प्रकार की बात है। 'सलाह' हाए हुत्ती(बड़ी हे) के साथ 'गवाह' हाए हव्वज़(छोटी हे) को क़ाफ़िया मानना भी ग़लत है; परन्तु उपर्युक्त उद्धृत उर्दू के विभिन्न हर्फ़ उच्चारण-साम्य के कारण 'स' 'त' और 'ह' समीपवर्ती ठहरते हैं। इस कारण हिन्दी में आकर (या देवनागरी में लिखने के कारण) समान प्रतीत होनेवाले इन अक्षरों के क़ाफ़ियों में अन्तर कर पाना हिन्दी-भाषी के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए उर्दू के समीपवर्ती अथवा उच्चारण-साम्य के कुछ अक्षरों को हिन्दी में प्रयोग करने पर इस दोष से मुक्त रखा गया है। मज़े की बात तो ये है कि आज उर्दू-शायरी में कई प्रतिष्ठित कई शायर 'से', 'स्वाद', 'सीन' अथवा 'ते', 'तो' हर्फ़े-रवी का फ़र्क़ नहीं करते। इसी प्रकार 'ह' के भेद को भी नहीं मानते। इसी तरह 'अलिफ़' तथा 'हम्ज़ा'(इसे हाए मुख़्तफ़ी भी कहते हैं और देवनागरी में विसर्ग चिह्न से अंकित करते हैं) में भी अन्तर नहीं करते; उदाहरण के तौर पर हफ़्ता(हफ़्त:), ग़ुस्सा(ग़ुस्स:) को बेटा, धोखा का हमक़ाफ़िया समझते हैं। हिन्दी में जिन अक्षरों का अन्तर स्पष्ट है उनसे अवश्य बचना चाहिए। जैसे— पास-ताश, तोड़-रोड, झूठ-टूट, सात-साथ, आदि को हमक़ाफ़िया मानने से भी इक्फ़ा-दोष पैदा हो जाता है।

5. गुलू-दोष : यदि हर्फ़े-रवी साकिन हो अर्थात् हलन्त व्यंजन हो तो इसके साथ मुतहर्रिक रवी

वाला अर्थात् सस्वर व्यंजन क़ाफ़िया नहीं लिया जा सकता है। ऐसा करने पर गुलू-दोष हो जायेगा। उदाहरणस्वरूप– आस्मान्, उड़ान् के साथ 'ख़ता न' बाँधने पर गुलू-दोष हो जाएगा, अर्थात्–

जो हौसलों से उड़े हैं तो फिर उड़ान् समझ
हुआ हुआ न हुआ ख़त्म आस्मान् समझ

के साथ

ये शीरीं-लब जो पियाला बने तो पी लूँ ज़ह्र
ये अ़ज़्म है इसे तू भूलकर ख़ता न समझ (स्वरचित)

उड़ान्, आस्मान् में 'न्' साकिन(हलन्त) है, जबकि 'ख़ता न' में 'न' मुतहर्रिक (गतिशील) है इस वज्ह से यहाँ गुलू-दोष पैदा हो रहा है।

6. ईता-दोष : जब ग़ज़ल के मत्ला में लिये गये क़ाफ़िये के हर्फ़ अस्ल में समतुकान्त न होकर भी समतुकान्त होने का भ्रम पैदा करें तो इसे ईता का दोष कहते हैं। क़ाफ़िया के बारे में जानने से स्पष्ट है कि हम समतुकान्त शब्दों को ही ग़ज़ल में क़ाफ़िया रख सकते हैं, जैसे– चल-कल('ल' को निभाया गया है), अभी-रही('ई' की मात्रा को निभाया गया है), पानी-यारी ('ई' की मात्रा को निभाया गया है)। याद रखें– हर्फ़े-रवी, मूल(अस्ल या रुढ़ शब्द) का अन्तिम अक्षर होता है न कि यौगिक(वस्ल) शब्द का अन्तिम अक्षर; आरम्भ में इसे विस्तार से बताया चुका है। ईता-दोष को समझने के लिए शब्द के मूल(अस्ल) और यौगिक(वस्ल) रूप को समझना ज़रूरी है।

जिस शब्द के स्वरूप में कोई अन्य अक्षर न जोड़ा गया हो तो उसे मूल शब्द अथवा अस्ल लफ़्ज़ कहते हैं। जैसे- चल, पानी, हम, दोस्त, दुश्मन, आदम आदि। मूल शब्द को पहचानने का आसान तरीक़ा ये है कि किसी अर्थवान शब्द के पीछे से एक-एक स्वर-व्यंजन हटाकर देखा जाये।

जब मूल शब्द में कोई अन्य अक्षर अथवा अक्षर-समूह आगे अथवा पीछे जोड़ दिया जाता है तो वो शब्द यौगिक शब्द(हर्फ़े-वस्ल) कहलाता है। अक्षर अथवा अक्षर-समूह का ये जुड़ाव प्रत्यय, सन्धि, समास किसी भी प्रकार से हो सकता है। यदि क़ाफ़िया के रूप में मूल शब्दों का प्रयोग होता है ईता-दोष नहीं उत्पन्न होता है। जैसे–

शेख़ साहब से रस्मो-राह न की
शुक्र है ज़िन्दगी तबाह न की फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'

देखें क़रीब से भी तो अच्छा दिखायी दे
एक आदमी तो शह्र में ऐसा दिखायी दे ज़फ़र गोरखपुरी

अब हम यौगिक शब्द(हर्फ़े-वस्ल) की ओर बढ़ते हैं, जहाँ ज़रा-सी चूक होने पर ईता-दोष हो जाने की सम्भावना बन जाती है। जब हम मत्ले के दोनों मिस्रों में यौगिक शब्द को क़ाफ़िया बनाते हैं तभी ईता-दोष की सम्भावना बनती है। ईता-दोष का एक उदाहरण देखें–

अपने दिल को ही जलाया जाए
इस अँधेरे को मिटाया जाए स्वरचित

मत्ले में क़ाफ़िया 'जलाया' और 'मिटाया' रखने से यहाँ ईता-दोष उत्पन्न हो गया है। स्पष्ट है कि दोनों क़ाफ़ियों के शब्द यौगिक शब्द है। अरूज़ के अनुसार इन क़ाफ़ियों के मूल शब्द 'जल' और 'मिट' में जुड़े (वस्ल) हुए हर्फ़ 'आया' को भी रदीफ़ का हिस्सा मान लिया जाता है, परन्तु यहाँ 'आया' को हटाने के बाद क़ाफ़िया के लिए 'जल' और 'मिट' शब्द बचते हैं जो समतुकान्त नहीं हैं, अर्थात् हमक़ाफ़िया नहीं हैं। 'मिटाया' और 'जलाया' समतुकान्त होने का भ्रम पैदा कर रहे हैं,

परन्तु अस्ल लफ़्ज़ 'जल' और 'मिट' में ये समतुकान्तता नहीं है इस तरह यहाँ ईता-दोष उत्पन्न हो रहा है।

ईता-दोष के दो भेद है— 1.ईता-ए-ख़फ़ी(सूक्ष्म या अस्पष्ट), 2.ईता-ए-जली(स्थूल या स्पष्ट)

1.ईता-ए-ख़फ़ी (सूक्ष्म या अस्पष्ट) : ईता-दोष के अन्तर्गत जब क़ाफ़िया में ईता-दोष स्पष्ट न दिख रहा हो और विशेष रूप से समास-विग्रह(दोनों पद को अलग-अलग करना), प्रत्यय-विग्रह अथवा सन्धि-विच्छेद के बाद ही दोष स्पष्ट होता हो तो उसे ईता-ख़फ़ी कहते हैं। ये तब उत्पन्न होता है जब बहुव्रीह समास से यौगिक हुए दो शब्दों को मत्ले में क़ाफ़िया बनाया जाता है, अथवा प्रत्यय से शब्द का स्वरूप बदलकर मूल शब्द का भ्रम पैदा होनेवाले दो शब्दों को मत्ले में क़ाफ़िया बनाया जाता है। उदाहरण—

अ- बहुव्रीह समास के कारण :

उनकी शुहरत गुलाब जैसी है
और फ़ित्रत शराब जैसी है

अरूज़ के अनुसार गुलाब-शराब यौगिक शब्दों के क़ाफ़ियों में से दूसरा मूल शब्द 'आब' हटाने पर 'गुल्' और 'शर' शब्द बचते हैं जो समतुकान्त नहीं हैं अत: इसमें ईता-ए-ख़फ़ी दोष हो रहा है। समझने की बात ये है कि गुल्+आब का अर्थ 'फूल का अर्क' न निकालकर एक विशिष्ट पुष्प की संज्ञा के रूप में प्रयोग होता है और शर्+आब को भी बुरे पानी के अर्थ में न लेकर 'वाइन' या 'मद्य' के अर्थ में प्रयोग होता है, अर्थात् ये शब्द योगरूढ़ शब्द हो गये हैं। अत: मेरा विचार है कि 'गुलाब-शराब' को ईतादोष नहीं मानना चाहिए।

ब- सन्धि के कारण : 'परिच्छेद' और 'अनुच्छेद' जैसे सन्धि हुए शब्द को मत्ले में क़ाफ़िया बनाने पर ईता-ए-ख़फ़ी दोष उत्पन्न हो जायेगा क्योंकि सन्धि-विच्छेद करने पर परि+छेद/ अनु+छेद होता है। यहाँ परि/अनु आपस में हमक़ाफ़िया नहीं हैं, मगर ये स्पष्ट नहीं दिखता इसलिए ईता-ए-ख़फ़ी दोष हो जाता है।

2. ईता-ए-जली (स्थूल या स्पष्ट) : ईता-दोष के अन्तर्गत जब क़ाफ़िया में बिना समास-विग्रह, प्रत्यय-विग्रह अथवा सन्धि-विच्छेद के ईता-दोष स्पष्ट दिख रहा हो तो उसे ईता-ए-जली कहते हैं। इसके भी निम्नलिखित प्रकार हैं—

(अ). भ्रमपूर्ण क़ाफ़िये :

गाँव में पंखा नहीं है फिर भी रहकर देख लें
इन हवाओं में है मस्ती साँस भरकर देख लें स्वरचित

'रहकर' और 'भरकर' न मूल शब्द हैं, न प्रत्यय से बने यौगिक शब्द, न समास से बने यौगिक शब्द हैं, न ही इनमें सन्धि हुई। इन्हें भ्रमवश मूल शब्द मानकर क़ाफ़िया बनाने से ईता-ए-जली दोष है, क्योंकि 'कर' हटाने के बाद मत्ले में क़ाफ़िया बच ही नहीं पा रहा है। यहाँ ऐब स्पष्ट रूप से दिखने के कारण ईता-ए-जली ऐब(दोष) है।

(ब). समास का क़ाफ़िया : समास-शब्द 'सूर्यपुत्र' और 'राजपुत्र' को मत्ले में क़ाफ़िया बनाने पर ईता-ए-जली दोष उत्पन्न हो जायेगा, क्योंकि समास-विग्रह करने पर अर्थात् 'पुत्र' हटाने पर दोनों शब्द 'सूर्य' और 'राज' आपस में हमक़ाफ़िया नहीं हैं।

(स). प्रत्यय का क़ाफ़िया : प्रत्यय के शब्द 'दोस्ती' और 'दुश्मनी' को मत्ले में क़ाफ़िया बनाने

पर ईता-ए-जली दोष उत्पन्न हो जायेगा क्योंकि दोनों में से प्रत्यय 'ई' हटाने पर दोनों शब्द 'दोस्त' और 'दुश्मन' समतुकान्त नहीं हैं। ईता-ए-जली दोषयुक्त क़ाफ़िया के कुछ अन्य उदाहरण हैं— दोस्ती-ख़ुशी, सदाएँ-साँसें, उखड़ेगा-टूटेगा, जला-मिटा, सुनाने-जलाने, बेबसी-ख़ुशी आदि।

(द). क़ाफ़िया न होने की दशा में :

जब यहाँ पीने को कोई जल नहीं है
आप कहते हैं कि गंगाजल नहीं है ? स्वरचित

एकबारगी 'जल' और 'गंगाजल' क़ाफ़िया के रूप में दिखायी पड़ते हैं, परन्तु 'गंगाजल' समास को अलग करने पर 'जल' रदीफ़ का हिस्सा हो जा रहा है और उसके पूर्व मत्ले में हर्फ़े-क़ाफ़िया है ही नहीं, इसलिए यहाँ भी ईता-ए-जली दोष उत्पन्न हो रहा है।

ईता-दोष में मिलनेवाली छूट : हमने देखा कि ऐसे शब्दों को क़ाफ़िया नहीं माना जा सकता जिसके हर्फ़े-रवी न मिल रहे हों अन्यथा ईता-दोष उत्पन्न हो जायेगा, परन्तु ऐसा करने से शायर पर बहुत बड़ी बन्दिश लग जाती है कि वो प्रत्यय के शब्दों को खुलकर प्रयोग नहीं कर सकता है, क्योंकि प्रत्यय के पूर्व के अक्षर अर्थात् रवी को मिलाना आवश्यक होता है। इसलिए उस्तादों ने कुछ छूट निर्धारित कर दी, जिसके अनुसार हम ईता-दोष से मुक्त हो सकते हैं—

क – दोनों क़ाफ़िया यौगिक होने पर भी हर्फ़े-रवी एक होने पर : मत्ले में यदि दोनों क़ाफ़िया यौगिक शब्द हैं, परन्तु बढ़े हुए अंश को हटाने के बाद भी शब्द आपस में समतुकान्त होते हैं तो क़ाफ़िया दोषमुक्त है। उदाहरण—

सूलियों से गुज़रना पड़ा
हमको क़िस्तों में मरना पड़ा नुसरत ग्वालियरी

'गुज़रना' और 'मरना' से 'ना' हटाने के बाद भी 'गुज़र' और 'मर' मूल शब्द आपस में समतुकान्त हैं, इसलिए ये क़ाफ़िये दोष-मुक्त हैं क्योंकि दोनों क़ाफ़ियों में हर्फ़े-रवी 'र' है। इसी प्रकार—

किस महूरत में दिन निकलता है
शाम तक सिर्फ़ हाथ मलता है बालस्वरूप राही

यहाँ क़ाफ़िये में हर्फ़े-रवी 'ल' है।

ख – एक मूल एक यौगिक क़ाफ़िया : एक मूल क़ाफ़िया और एक यौगिक क़ाफ़िया लेने पर ईता दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा करने पर हर्फ़े-रवी का मिलान हो जाता है। जैसे—

आग पानी हुई, हुई न हुई
मेह्‌रबानी हुई, हुई न हुई बलबीर सिंह 'रंग'

मत्ले में 'पानी' और 'मेह्‌रबानी' क़ाफ़िया लेने पर मूल शब्द 'पानी' का हर्फ़े-रवी 'ई' यौगिक शब्द मेह्‌रबान+ई' से तुकान्त हो गया है और हर्फ़े-रवी मिलने पर क़ाफ़िया दोषमुक्त माना जाता है।

ग – मत्‌ला के दोनों क़ाफ़ियों में प्रत्यय अलग-अलग होना अथवा समास अथवा सन्धि में दूसरे पद का अलग-अलग होना :

सतह के समर्थक समझदार निकले
जो गहरे में उतरे गुनहगार निकले शेरजंग गर्ग

'समझदार', 'गुनहगार' क़ाफ़िया में बढ़ा हुआ अंश अलग-अलग है, इसलिए अब पहले अंश से कोई मतलब नहीं रह जाता है। अब क़ाफ़िया का शब्द 'दार', 'गार' तय हो गया और इसमें 'र'

हर्फ़े-रवी हो गया। इस तरह इस मत्ले में दोष पैदा नहीं हो रहा है और अन्य शेरों के क़ाफ़ियों में केवल 'आर' निभाने की बाध्यता होगी। इस ग़ज़ल का दूसरा शेर देखें—

गुलाबों की दुनिया बसाने की ख़्वाहिश
लिये दिल में जंगल से हर बार निकले

घ – व्याकरण भेद : मत्ले में यदि दोनों क़ाफ़िया यौगिक शब्द हैं तथा हर्फ़े-रवी अलग लगा है, परन्तु दोनों क़ाफ़िया के शब्द में व्याकरण भेद है तो छूट के अनुसार मत्ला दोषमुक्त हो जाता है—

रस्मे-दीवानगिए-शौक़ निभा दी जाए
रौशनी हो कि धुँआ, आग लगा दी जाए

'निभा', 'लगा' दोनों क़ाफ़िया का बढ़ा हुआ अंश भी एक है और 'निभ', 'लग' मूल शब्द में हर्फ़े-रवी अलग-अलग हैं, इसलिए इसमें ईता-ए-जली दोष है, परन्तु 'निभ' भाववाचक शब्द है और 'लग' क्रिया शब्द है, इसलिए छूट के अनुसार मत्ला दोषमुक्त हो जाता है।

च – मत्ला में दो अलग अर्थवाला एक ही क़ाफ़िया : नारायण प्रसाद 'बेताब' का एक शेर देखें—

तबीअत वहीं मूल शंकर की बदली
मिटे कुफ़्र बस दिल से ये शर्त बद ली
कुल्हाड़ी पए-नख़्ले-अवतारे-बद ली
हुई सर-बसर शिर्क की दूर बदली

एक ही शब्द 'बदली'(बद ली) के अलग-अलग अर्थों (बदल गयी, प्रतिज्ञा, सँभालना, बादल या मेघ) में प्रयोग से अश्आर दोषमुक्त हो गये हैं। नारायण प्रसाद 'बेताब' का ही एक और रोचक उदाहरण देखें—

बुरा हो इस घड़ी का, इस समय का, ऐसे अवसर का
महासागर बना पायाब, जल सामान्य से सरका
पसीना भी तो पहुँचा बहके एड़ी तक मेरे सर का
मगर अफ़्सोस इस पर भी न पर्वत बाल भर सरका

छ – दोनों क़ाफ़ियों के ज़माना (काल) में अन्तर : मत्ले में यदि दोनों क़ाफ़िया यौगिक शब्द के हैं और बढ़ा हुआ अंश हटाने पर हर्फ़े-रवी अलग-अलग हो तो इससे ईता-ए-जली दोष उत्पन्न हो जायेगा, परन्तु यदि दोनों क़ाफ़ियों में काल का अन्तर हो, अर्थात् एक भूतकाल और एक वर्तमान काल हो अथवा दोनों भूत, वर्तमान और भविष्य काल में से अलग-अलग हों तो छूट के अनुसार मत्ला दोषमुक्त हो जाता है।

ज – एक अक्षर के बढ़ने पर : कुछ जानकारों का मानना है कि दोनों क़ाफ़ियों के मूल शब्द में एक स्वर बढ़ा हो और किसी प्रकार दोषयुक्त न हो रहा तो भी उसे भी दोषमुक्त मानना चाहिए, यदि एक से अधिक अक्षर बढ़ा हो तो उसे दोषयुक्त मानना चाहिए। उदाहरणस्वरूप- 'रही' और 'कमी'; इस अनुसार 'रही' और 'कमी' ईता-ए-जली दोष से मुक्त हो जायेगा, परन्तु इस प्रकार की छूट मुझे व्यक्तिगत रूप से तर्कसंगत नहीं लगती।

अकरम नक़्क़ाश
व्हाइट हाउस, न्यू बैंक कालोनी,
बिलालाबाद,
गुलबर्गा–585104 (कर्नाटक)
मो.– 09845390893

अकरम नक़्क़ाश पेशे से सिविल इंजीनियर हैं, लेकिन ख़िद्मत अंजाम दे रहे हैं शेरो–अदब की। इनका जन्म 18 फरवरी 1961 को गुलबर्गा, कर्नाटक में हुआ, शायरी की इब्तिदा 1983 में हुई। 'शेर' नाम से इनकी ग़ज़लों का एक मज्मूआ मंज़रे–आम पर आ चुका है और जल्द ही 'बेसहर रात' नाम से दूसरा मज्मूआ आने को है। 'अफ़्लाक' तथा 'ग़ज़ल के रंग' नाम से इन्होंने उर्दू में कई शायरों की ग़ज़लों का संकलन भी सम्पादित किया है, जिसकी एक ख़ास अहमियत है। जल्द ही उर्दू–अदब की नामी–गिरामी शख़्सीयतों के इण्टरव्यू पर आधारित एक किताब भी आने वाली है।

अकरम नक़्क़ाश ने यहाँ बशर नवाज़ साहब का जो इण्टरव्यू पेश किया है ये इस अंक की विशेष उपलब्धि है। बशर नवाज़ परिचय के मोहताज नहीं हैं। बशर नवाज़ की लिखी ग़ज़लें फ़िल्म 'बाज़ार'– 'देख लो आज हमको जी भर के' और 'करोगे याद तो हर बात तो हर बात याद आयेगी' काफ़ी लोकप्रिय रहीं। बशर नवाज़ साहब जदीद शायरी के हवाले से उर्दू–शायरी की तारीख़ में दर्ज हो चुके शायर हैं और आपकी कही बातें सनद की हैसियत रखती हैं। इन्होंने जदीद शायरी को व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही तरह से समर्थन दिया। जदीद ढंग की ग़ज़लें कहकर व्यावहारिक रूप से तथा इससे मुताल्लिक़ आलोचनाएँ, समीक्षाएँ लिखकर सैद्धान्तिक ढंग से नयी ग़ज़ल को पुष्ट किया।

अकरम नक़्क़ाश

बशर नवाज़ से मुलाक़ात

अकरम नक़्क़ाश : पिछले कुछ बरसों से ये ख़याल ज़ाहिर किया जा रहा है कि मौजूदा ग़ज़ल यकसानियत(एकरसता) का शिकार हो गयी है। इसकी भाषा और शैली और इसके पहले की ग़ज़ल में कोई स्पष्ट फ़र्क़ मह्सूस नहीं होता। आप क्या मह्सूस करते हैं? और अगर ऐसा है तो इसके कारण क्या हैं?

बशर नवाज़ : पहली बात तो ये है कि आप या दूसरे लोग तब्दीली से क्या मुराद लेते हैं। अगर बिल्कुल ही नयी भाषा या नये मौज़ूआत(काव्य-विषय) आपके ज़ेह्न में हों तो शायद ये मुम्किन नहीं है। मैं इस बात का क़ायल हूँ कि तमाम तब्दीलियाँ वक़्त के साथ-साथ और सिन्फ़े-अदब(साहित्य-विधा) के मिज़ाज के साथ-साथ होती हैं। रूप-स्वरूप के दृष्टिकोण से ग़ज़ल की अपनी कुछ व्यापकता और कुछ limitations भी हैं। हर अच्छे शायर ने उन limitations में रहकर ग़ज़ल में तब्दीलियाँ की हैं। यही वज्ह है कि मौज़ूआत, भाषा और शैली के एतबार से आज की ग़ज़ल वो ग़ज़ल नहीं है जो मिसाल के तौर पर क़ुली क़ुतुबशाह या शाही की थी। ख़ैर ये तो बहुत दूर की बात हो गयी। आज की ग़ज़ल कहीं-न-कहीं वली और सिराज की ग़ज़ल से भी अलग है और तरक़्क़ीपसन्दों की ग़ज़ल से भी अलग है। आज की अच्छी ग़ज़ल लफ़्ज़ी परेडवाली ग़ज़ल भी नहीं है। यक़ीनन् इसमें तब्दीलियाँ भी हुई हैं, लेकिन वो तब्दीलियाँ मुम्किन है सरसरी नज़र से देखने पर नजर न आयें। मेरा ख़याल है कि अच्छे अदब की एक पहचान ये भी है कि वो अपने अतीत से जुड़ा रहते हुए भी मौजूदा ज़िन्दगी को प्रतिबिम्बित करे और अदीब या शायर के ज़ेह्नी और जज़्बाती कैफ़ीयात की भी आईनादारी कर सके।

शायर भी समाज की एक इकाई है। समाज में होनेवाली तब्दीलियाँ उस पर भी असरअन्दाज़ होती हैं, जिन्हें वो अपनी ज़िन्दगी के हालात, समस्याएँ और अपने ज़ाती तज्रबे और उन तज्रबों से पैदा होनेवाली मनोवैज्ञानिक और वैचारिक मन:स्थितियों के साथ मिश्रित करके शेर का रूप देता है। रही भाषा या शब्दावली की बात, तो अगर ज़िन्दगी बदल रही है तो भाषा को भी बदलना होगा। बहुत सारे पुराने अल्फ़ाज़, टकसाली अल्फ़ाज़ पीछे चले जायेंगे और उनकी जगह नये अल्फ़ाज़ ले लेंगे। मेरे अपने ख़याल के मुताबिक़ नये अल्फ़ाज़ पैदा करना, इस्तेमाल करना या पुराने अल्फ़ाज़ को नयी अर्थवत्ता प्रदान करना या कुछ जज़्बाती और एहसासाती कैफ़ीयात के इज़्हार के लिए वक़्फ़ों और मह्ज़ूफ़ात(उतार-चढ़ाव, ठहराव; जैसे कॉमा इत्यादि के द्वारा) से काम लेना, ये शायर की कलात्मक समझ और गुणवत्ता पर आधारित है। वैसे भी सियाह के मुक़ाबले में सफ़ेद या अँधेरे के मुक़ाबले में नूर रख देना कोई अच्छी फ़नकारी नहीं और न इसमें कोई मौलिकता-

नवीनता नज़र आती है, क्यूँकि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। लिखनेवाले ने राएजुल-वक़्त सिक्के (उस समय प्रचलित सिक्का) के दूसरे पहलू को ले लिया, तो ये काम तो बच्चा भी कर सकता है और इब्तिदाई क्लास में ही ये बातें सिखा दी जाती हैं। फ़नकार का इम्तिहान तो उस वक़्त होता है कि जब वो राएजुल-वक़्त से बिदकने के बजाय उनसे नये-नये विषय और शब्दार्थ तलाश करने या उनकी राएज तर्तीब (प्रचलित क्रम) में कुछ रद्दो-बदल करके नयी अर्थवत्ता पैदा कर ले। इसके अलावा भी एक बात है, वो लफ़्ज़ अगर शायर की दिली कैफ़ीयात-ओ-जज़्बात के इज़्हार के लिए स्वत: उत्पन्न होता है, तो यक़ीक़न् उसमें उसका जज़्बा-ओ-एहसास भी शामिल होगा और क्यूँकि वो एहसास पहले के मुक़ाबले में नया होगा इसलिए लफ़्ज़ की अर्थवत्ता में किसी हद तक नयापन भी आ जायेगा।

अकरम नक़्क़ाश : अच्छे शेर या अच्छी शायरी की तारीफ़ उलमा-ए-अदब ने अलग-अलग अन्दाज़ में की है। किसी के यहाँ मवाद(contents) की अहमियत है तो किसी के ख़याल में तर्सील (communication)ही सबकुछ है। किसी की नज़र में शैली(style) से बढ़कर कोई चीज़ नहीं। आपके नज़दीक अच्छी और सच्ची शायरी की तारीफ़ क्या है?

बशर नवाज़ : अच्छी और सच्ची शायरी की अव्वलीन पहचान तो ये है कि वो अपने बाज़ौक़ सामे(श्रोता) या पाठक को फ़ौरी तौर पर अपनी तरफ़ मुतवज्जो(ध्यानाकर्षित करना) करती है और वो तवज्जो मज़ाक़ उड़ाने या हँसी उड़ाने के लिए न हो, बल्कि क़ारी(पाठक) और शायर के दरमियान पैदा होनेवाली empathy (समानुभूति) का नतीजा हो, यानी कहनेवाले और सुननेवाले के जज़्बात व एहसासात एक हो जायें। ये बातें बहुत पुरानी हैं, वली से लेकर आज तक हर शायर ने ये बात कही है। ग़ालिब का एक शेर सुनें—

देखना तक़रीर की लज़्ज़त कि जो उसने कहा
मैंने ये जाना कि गोया ये भी मेरे दिल में है

अकरम नक़्क़ाश : जदीदियत(आधुनिकता) के आग़ाज़ में ग़ज़ल के साथ-साथ आज़ाद नज़्म भी उसी शिद्दत से सृजित हो रही थी। इधर कुछ बरसों से अच्छी नज़्में बहुत कम पढ़ने को मिल रही हैं, और नज़्म लिखनेवालों की तादाद भी कम होती जा रही है। यद्यपि ग़ज़ल के मुक़ाबले में आज़ाद नज़्म जकड़बन्दियों और फ़न्नी क़ैद(कलागत सीमाएँ) से अपेक्षाकृत ज़ियादा आज़ाद भी है। आज न मीम. राशिद नज़र आते हैं, न अख़्तर-उल-ईमान और क़ाज़ी सलीम मिलते हैं, न बलराज कोमल और निदा फ़ाज़्ली हैं, न अमीक़ हन्फ़ी। इसके क्या कारण हैं?

बशर नवाज़ : देखिए हर दौर में कई तहरीरें सामने आती हैं, लेकिन उनमें से चन्द ही पढ़नेवालों को मुतवज्जो करती हैं। नज़्में तो आज लिखी जा रही हैं और अच्छी भी लिखी जा रही हैं, लेकिन ये भी सच है कि वो एक आम दस्तूर के मुताबिक़ अच्छी और बुरी दोनों तरह की हैं। मस्लन् अतीक़उल्लाह, सादिक़, ख़लील मामून, अब्दुल अहद 'साज़', अम्बर बहराइची, सलीम शहज़ाद, जयन्त परमार वग़ैरह; लेकिन आप कहेंगे ये तो सन् अस्सी से पहलेवाले हैं, तो उनके बाद नोमान शौक़, मुज़फ़्फ़र अब्दाली, फ़रहत एहसास, कौसर मज़हरी, जमाल उवैसी, ऐन. ताबिश, शकील आज़मी, चन्द्रभान ख़याल, राशिद अनवर वग़ैरह हैं। इनके अलावा भी कुछ अच्छे नज़्मगो हैं, नाम याद नहीं आ रहे हैं। ख़वातीन में शहनाज़ नबी, इफ़्फ़त ज़रीन, मलिका नसीम और शाइस्ता यूसुफ़ हैं। इन सभी ने ग़ज़लों के साथ उम्दा नज़्में भी कही हैं। ख़ुद आपके यहाँ ख़ालिद सईद हैं, हामिद अक्मल और आप ख़ुद हैं और शायद साजिद हमीद भी ख़ुद वहीं के हैं, सादिक़ा सहर हैं। आज के क़ारी(पाठक) के साथ एक समस्या ये भी है कि लिखनेवाले और इसके पढ़नेवाले में वो ज़मानी

फ़ासला(periodic gap) जो अदब की परख के लिए ज़रूरी होता है, नहीं है। इसलिए इस क़िस्म की ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो सकती हैं। सन् 1935 से सन् 1940 की आलोचना देखिए, इसमें फ़ैज़, मख़्दूम, सरदार जाफ़री के नाम कहाँ नज़र आते हैं। उस आलोचना की नज़र में अहम नाम कुछ और थे, लेकिन वो आज भुला दिये गये हैं।

सन् 1980 के बाद के कई शायर कहीं-न-कहीं अपनी सलाहियतों(प्रतिभा) का एहसास डालते हैं। कुछ नज़्में बहुत अच्छी हैं और कुछ अपेक्षाकृत कमज़ोर, तो ये तो होता ही रहता है। अलबत्ता आपका ये ख़याल बिल्कुल दुरुस्त है कि आज ग़ज़ल के मुक़ाबले में नज़्म कम कही जा रही हैं। तक़रीबन् ये तमाम शायर नज़्म के साथ ग़ज़ल भी कहते हैं, सिर्फ़ नज़्म नहीं कहते। इसके कई कारण हैं जिन पर ग़ौर करना पड़ेगा। मस्लन् मुशायराबाज़ी, अदब को वक़्त-गुज़ारी के लिए पढ़ना, पूर्वाग्रह-ग्रस्त होकर शेरी मज्मूओं की वरक़-गर्दानी (पन्ने पलटना, पढ़ना) करना।

अकरम नक़्क़ाश : 'रायगाँ'(बशर नवाज़ का काव्य-संग्रह) का शायर बिला शुब्हा(निःसन्देह) जदीद शायर है और उसमें शामिल अधिकतर रचनाएँ जदीदियत(आधुनिकता) के उरूज के दौर में लिखी गयी हैं। इसमें शामिल ग़ज़लें-नज़्में एक सन्तुलित और तर्कसंगत शेरी रवैये को प्रकट करती हैं, जो जदीदियत के उद्भव-काल की रचनाओं से स्पष्ट तौर पर भिन्न मालूम होती हैं। *'सूरज को चोंच में लिये मुर्ग़ा खड़ा रहा'* और *'अरी साली जल्दी से जम्पर गिरा'* या *'रेल चलती नहीं गिर जाता है पहले सिग्नल'* या इसी तरह के और भी बहुत-से अश्आर, के चौंकाने और बहस का विषय बननेवाले शेरी तौर-तरीक़ों ने आपको अपनी तरफ़ आकृष्ट क्यों नहीं किया?

बशर नवाज़ : आपके पास मेरे मज़ामीन का मज्मूआ(लेखों का संग्रह) होगा और अगर होगा तो आपने पढ़ा भी होगा। इसमें पहला ही मज़्मून हैं जिसमें मैंने अपनी शायरी के बारे में विस्तार से बात की है। ये मज़्मून फ़ारूक़ी ने लिखवाया था और ये वही ज़माना था जब हमारी शायरी में कुछ मुर्ग़े, बिल्लियाँ, कुत्ते वग़ैरह भी आये थे; और कुछ लोगों ने सूफ़ियाना अन्दाज़ से जिंसी मामलों पर शेर कहने शुरू कर दिये थे। बदक़िस्मती से उन लोगों के ज़ेह्न में नयी शायरी का तसव्वुर ही कुछ इस क़िस्म का था। आपने जितने मिस्रे दिये हैं वो सब मेरे बहुत अच्छे दोस्तों के हैं। इनके कलाम में इस क़िस्म के अश्आर आटे में नमक के बराबर हैं। जैसे पहला मिसरा निदा का है, दूसरा मिस्रा मुहम्मद अल्वी का है, तीसरा मिसरा सलीम अहमद का है। आप इन लोगों के मज्मूओं पर नज़र डालें तो इस क़िस्म के अश्आर बड़ी तलाश के बाद मिलेंगे, लेकिन आप मुतवज्जो हुए और इन्हीं को निशानज़द किया। उस ज़माने में भी शायद उन लोगों के ज़ेह्न में यही था कि लोग फ़ौरी तौर पर मुतवज्जो हो जायें, ताकि उनकी सच्ची शायरी की तरफ़ तवज्जो दी जा सके। वैसे ये रवैया कुछ कमज़ोरी का तो इज़्हार करता है। शायद जल्द-अज़-जल्द अपनी तरफ़ मुतवज्जो करने की ख़्वाहिश या शायद आलोचकों को मुतवज्जो करने की ख़्वाहिश (चाहे बुराई से ही क्यों न हो), बहरहाल वो एक उबूरी दौर(संक्रमण-काल) था और उसके गुज़र जाने के बाद ही सही जदीद अदब सामने आया। मैंने अपने उसी मज़्मून में लिखा था कि जब सैलाब आता है तो उसकी ऊपरी सतह पर घास-फूस, कूड़ा-करकट इस शिद्दत से नज़र आते हैं कि असली इज़्हारात उनमें छुप जाते हैं। तब्दीलियों के दौर में भी ये होना था, सो हुआ। जहाँ तक मेरा मामला है मैं शुरू ही से अदब को इज़्हारात और व्यक्तिगत स्तर से समाज में होनेवाली तब्दीलियों के देखने और समझने का क़ायल हूँ। शायद इसी वज्ह से मैं इस क़िस्म की इन्तिहापसन्दियों(अतिवादिता) से बचा रहा। ख़ैर ये बात अलग है कि मेरी शायरी में परम्परागत या रूढ़िगत तत्त्वों की निशानदेही तो किसी ने नहीं की, लेकिन उस ज़माने में लफ़्ज़ 'रवायत'(परम्परा) ही बुराई के लिए इस्तेमाल किया जाता था। दरअस्ल वो लोग रवायत की ताक़त और रवायतीपन में फ़र्क़ नहीं कर सकते थे।

अकरम नक़्क़ाश : सरज़मीने-औरंगाबाद से वली और सिराज जैसे बाकमाल शायरों ने ग़ज़ल के दामन को मालामाल किया, वहीं क़ाज़ी सलीम और शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेअरा' जैसे नज़्मनिगारों ने जदीद नज़्म की व्यापकता और विशेषताओं की तलाश-ओ-जुस्तजू की और जदीद नज़्म को नया रंगो-आहंग और एतबार बख़्शा। फिर भी ऐसा लगता है क़ाज़ी सलीम और शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेअरा' का फ़न आलोचकों और विद्वानों से आज भी अपने मूल्यांकन की अपेक्षा करता है। इनके साथ आलोचना ने वो सुलूक नहीं किया जिसके वो बजा तौर पर हक़दार हैं। Genuine फ़नकारों के साथ ऐसा अक्सर होता है, क्यों?
बशर नवाज़ : जैसे मैं अभी अर्ज़ कर चुका हूँ कि जिस तरह किसी वाक़िआ या मौज़ू और फ़नकार में थोड़ा-सा फ़ासला ज़रूरी होता है; कुछ फ़नकारों और सुनने-पढ़नेवालों में ज़मानी फ़ासला(periodic gap) होना ज़रूरी होता है। वैसे आज 'शेअरा' पर भी बहुत मज़ामीन आये हैं, जिसमें उनकी शायरी का विस्तारपूर्वक जायज़ा लिया गया है। इसी तरह क़ाज़ी सलीम पर भी लिखा जा रहा है और आइन्दा भी लिखा जायेगा।

अकरम नक़्क़ाश : अपने मज़्मून 'कुछ जदीद शायरी के बारे में' में आपने नक़्क़ालों और फ़ैशनपरस्त अदीबों की ख़ूब शिनाख़्त की है, लेकिन ये बात भी सर्वमान्य है कि प्रतिभा(talent) की कमी के बावजूद पक्की रोशनाई में अपना नाम छपा देखनेवाले हर दौर में रहे हैं और उनकी तादाद भी क़ाफी रही है। बुनियादी मस्अला इस तरह के लिखनेवालों की हिम्मत-अफ़ज़ाई और पुश्तपनाही(पृष्ठ-पोषण) का है। क्या आपको नहीं लगता कि बेसिर-पैर की तह्रीरें और क्लिष्ट या निरर्थक अदब को विकसित करने में पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों-प्रकाशकों का रोल भी काफ़ी अहम रहा है?
बशर नवाज़ : नज़री तौर पर आपकी बात दुरुस्त मालूम होती है कि पत्रिकाओं में अच्छी अदबी चीज़ों के साथ-साथ कुछ भर्ती की सामग्री भी प्रकाशित होती है, जो नहीं होनी चाहिए। मैं भी इस बात से सहमत हूँ, लेकिन इसके लिए व्यावहारिक पहलुओं को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। हर अच्छी पत्रिका को अपनी मुक़र्रर तारीख़ पर प्रकाशित किया जाना ज़रूरी है, क्योंकि हर पत्रिका से इसके ख़रीदार यही उम्मीद रखते हैं। अब ये सम्पादक की ज़रूरत कहिए या मज्बूरी कि उसे उपलब्ध सामग्री ही में से कुछ चुनिन्दा सामग्री प्रकाशित करना पड़ता है। मेरा ख़याल है कि हर सम्पादक अपने पाठकों से भी कुछ अपेक्षा रखता है; यानी ये कि पाठक ख़ुद भी उसके द्वारा उपलब्ध करायी सामग्री में से अपनी पसन्द की चीज़ें चुन लें और बाक़ी सामग्री को रद्द कर दें। मुझे याद नहीं कि किसका कथन है, शायद हीगल का, कि हर छपी हुई चीज़ अदब नहीं होती। यहाँ हीगल लेखक या छापनेवाले के साथ-साथ पढ़नेवाले की ज़िम्मेदारी की तरफ़ भी इशारा करते नज़र आते हैं, कि पाठक भी पक्की रोशनाई में छपी हुई हर लिखित सामग्री को अदब की कोटि में शामिल न करें। 'फ़ुनून' ने जब जदीद ग़ज़ल विशेषांक छापा तो उसमें कुछ ऐसी ग़ज़लें भी शामिल कीं जिनको ग़ज़ल कहना ही ग़ज़ल पर ज़ुल्म करना होगा, लेकिन इसका मतलब ये नहीं हुआ कि 'फ़ुनून' के सम्पादक अहमद नदीम क़ासिमी उन ग़ज़लों को अच्छी ग़ज़ल समझते थे। अपने सम्पादकीय में उन्होंने इसका ज़िक्र भी किया था कि कुछ जाने-पहचाने शायरों ने ऐसी ग़ज़लें भेजी हैं कि मुझे हैरत हुई है, लेकिन वो ग़ज़लें उन्होंने शायद इसलिए प्रकाशित की कि पाठक को भी इस बात की इत्तिला हो जाये कि आजकल अदब के नाम पर क्या कुछ हो रहा है।

कुछ यही सूरते-हाल हर पत्रिका के सम्पादक को पेश आती हैं। अब आप देखें कि 'शबख़ून', जिसने इस क़िस्म के तज्रबों को बहुत बढ़ावा दिया था, जब अपनी ही पत्रिका का चालीस साला इन्तख़ाब छापता है तो उसमें ज़ेरे-बहस क़िस्म की तह्रीरों (लिखित सामग्री)में से कितनों

को जगह मिलती है। मेरा ख़याल है कि उस अंक में एक तह्रीर भी ऐसी नहीं है कि जिस पर ग़ैर-अदब होने का इल्ज़ाम लगाया जा सकता है। 'शबख़ून' के तक़्रीबन् दो हज़ार पृष्ठों में ज़ियादातर वहीं रचनाएँ ली गयीं जो अदब के मेआर पर भी पूरी उतरी हैं और पत्रिका के सम्पादक की नज़र में भी अदब कहलाने की हक़दार हैं। इसके बावजूद मुम्किन है कुछ रचनाएँ किसी पाठक के मेआर पर पूरी न उतरें और ये होना कोई अजूबा नहीं है। हर पढ़नेवाले की अपनी पसन्द और नापसन्द भी होती है और उसे ये हक़ भी हासिल है कि वो कुछ चीज़ों को क़ुबूल करे और कुछ को रद्द कर दे। हमें देखना ये होगा कि पाठक की व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द से हटकर अदब के उसूलों पर वो रचनाएँ पूरी उतरती हैं या नहीं। यहाँ भी एक मुश्किल ये पेश आती है कि अदब के विभिन्न दृष्टिकोण हैं और हर दृष्टिकोण की कसौटी एक दूसरे से जुदा है, लेकिन इस बुनियादी हक़ीक़त को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता कि उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में भी कोई-न-कोई गुण या विशेषता उभयनिष्ठ है। हर ज़बान की अपनी रवायत होती है, उसके कलीदी लफ़्ज़ों(प्रमुख या केन्द्रीय शब्दों) के साथ कुछ तलाज़में(रिआयते-लफ़्ज़ी) होते हैं जो उस ज़बान के बोलनेवालों के लिए अर्थों की नई सतह उजागर करते हैं; मस्लन् ये कि हमारे यहाँ एक लफ़्ज़ 'नक़ाब' अलग-अलग अर्थों में इस्तेमाल होता है। जिसका आशय कभी 'बड़े ख़ूबसूरत और दिलकश' से है और कभी इसके बरअक्स भी होता है। मस्लन् नक़ाबपोश डाकू और चोर भी हो सकता है, कोई समाजी मुजरिम भी, और कोई हसीना भी। अब इस लफ़्ज़ को इस्तेमाल करनेवाले पर ये निर्भर है कि वो जिस भाव को व्यक्त करने के लिए ये लफ़्ज़ इस्तेमाल कर रहा है उसे ऐसे सियाक़ो-सबाक़(प्रसंग या परिप्रेक्ष्य) में इस्तेमाल करे कि पढ़नेवाला उसके भाव तक पूरी तरह न सही तो किसी-न-किसी हद तो पहुँच ही जाये। ग़ालिब का एक मशहूर शेर है—

आराइशे-जमाल से फारिग़ नहीं हनोज़
पेशे-नज़र है आइना दायम नक़ाब में

यहाँ नक़ाब, आराइश, आइना सभी एक-दूसरे के तलाज़मे हैं और इस बात का भी इशारा करते हैं कि ये नक़ाब मह्ज़ कपड़े का एक टुकड़ा नहीं है, बल्कि इसके अलावा भी बहुत कुछ है। इस शेर को हम बड़ी आसानी से कायनात के सृजन से लेकर (इसकी निरन्तर निर्माण-प्रक्रिया जो हर लम्हा जारी-ओ-सारी है) पर इसे लागू(apply) कर सकते हैं। अब अगर हम इसको तसव्वुफ़ (भक्ति) के मस्अले से मिलाकर देखें कि कायनात को निर्मित करनेवाला जमील(रूपवान्, हसीन) है और वो अपनी कायनात के हुस्न को यानी ख़ुद अपने हुस्न को लगातार सँवारने में मस्रूफ़ है तो शायद ग़ालिब के इस शेर के साथ भी इंसाफ़ कर सकें और अपने ज़ौक़ के साथ भी। शायद इसी क़िस्म की बात इक़्बाल ने भी क़तई दूसरे लफ़्ज़ों में कही है—

ये कायनात अभी नातमाम है शायद
कि आ रही है दमादम सदाए कुन्‌फ़ेकूँ

अकरम नक़्क़ाश : जदीदियत के असर में रचे गये अदब में बहुत-सी अलग-अलग आवाज़ें मिल जाती हैं, शायरी में ज़ियादा और फ़िक्शन में अपेक्षाकृत कम। जहाँ तक इन्फ़िरादियत(विशिष्ट या अद्वितीय) और तज्रुबापसन्दी का सवाल है इस ज़माने में ऐसी आवाज़ों को उँगुलियों पर शुमार करना भी दुश्वार है। इसके बहुत-से कारणों में एक अहम वज्ह क़लमकारों को 'शबख़ून' जैसे प्लेटफार्म का मयस्सर आना भी मालूम होता है। 'शबख़ून' के अलावा किसी और रिसाले ने शायद ही वो जुर्अत की हो कि हर तरह की तह्रीर(लिखित सामग्री), हर तरह की तज्रुबापसन्दियों को पाठक तक पहुँचाया हो। अगर 'शबख़ून' न होता तो शायद इतने तज्रुबाती रंगों की रंग-बिरंगी तह्रीरें सामने

न आतीं। इस सिल्सिले में आप क्या कहना चाहेंगे?

बशर नवाज़ : आपका ये ख़याल बिल्कुल सही है। विभिन्न और रंग-बिरंगी आवाजों को लोगों तक पहुँचाने के लिए कोई अच्छा और बावक़ार ज़रिआ होना ज़रूरी है और ये हर दौर में होता रहा है। आपने यक़ीनन् पढ़ा होगा कि मौलाना सलाहुद्दीन अहमद की पत्रिका 'अदबी दुनिया' में तरक़्क़ीपसन्द और उस दौर के जदीद, दोनों तरह के अफ़्सानानिगारों की रचनाओं को इस तरह महिमा-मण्डित करके छापा गया कि वो नाम अफ़्सानवी अदब(कथा-साहित्य) का वक़ार(शोभा) बन गये। कृष्णचन्द्र(कृस्नचन्दर), मण्टो, राजेन्दर सिंह बेदी, अज़ीज़ अहमद वग़ैरह की ख़ासियतों को पूरी तरह से उजागर करने में 'अदबी दुनिया' का बहुत बड़ा रोल रहा है। इसी तरह इसी पर्चे में मीराजी ने जदीद नज़्म के बारे में बहुत कुछ लिखा और शायद कुछ नज़्मों के तज्ज़बों का भी सिल्सिला शुरू किया। 'साक़ी' में 'झलकियाँ' (मुहम्मद हसन अस्करी का कालम) के उन्वान के तहत उस दौर की नयी रचनाओं के बारे मुख़्तसर अन्दाज़ में बड़े दिलकश और अर्थपूर्ण इशारे दिये जाते थे। दूर क्यों जाइए, हमारे यहाँ आज़ादी के बाद 'सौग़ात', 'सबा' और 'शबख़ून' जैसे रिसालों ने नये अदब और नये अदीबों को पहचान दिलाने में ग़ैर-मामूली किरदार अदा किया है। कहने का मतलब ये है कि किसी प्लेटफ़ार्म का होना तो ज़रूरी है, शर्त ये है कि उस पत्रिका का सम्पादक या सम्पादक-मण्डल ख़ुद भी इतनी ताक़त रखता हो कि वो अपनी पत्रिका की तह्रीरों से लोगों को परिचित करा सके या उन्हें महत्त्वपूर्ण ढंग से स्थान दिला सके और शायद इसीलिए हर अच्छी पत्रिका का एक मिज़ाज होता है या होना चाहिए। 'शबख़ून' में छपनेवाली चीज़ों के सम्बन्ध में एक बात तो माननी पड़ेगी कि उन तज्रुबाती तह्रीरों की वज्ह से कुछ नया करने का एक रुज्हान तो पैदा हुआ। कई नये लिखनेवाले तब्दीलियों की तरफ़ मुतवज्जो(आकृष्ट) हुए और नये-नये अन्दाज़ की चीज़ें सामने आने लगीं। इसको हम ये भी कह सकते हैं कि 'शबख़ून' ने आज़ादी के बाद पैदा होनेवाले अदबी जमूद(गत्यावरोध या ठहराव) को तोड़ने का काम अंजाम दिया। ये बात अलग है कि इसमें छपनेवाली कुछ तह्रीरें शायद पूरी तरह से अदबी मेआर पर खरी न उतर सकें, जिसे ख़ुद बाद में 'शबख़ून' ने रद्द कर दिया, लेकिन तज्रुबात की एक अपनी अहमियत होती है। बाद में आनेवाले लोग उन तज्रुबात से कुछ सीख हासिल कर सकते हैं और कुछ बसीरत।

अकरम नक़्क़ाश : 'ख़बरनामा शबख़ून'-18 में जनाब ज़फ़र इक़्बाल का एक लेख नज़र से गुज़रा जिसमें उन्होंने मज्रूह सुल्तानपुरी से लेकर बानी, ज़ेब ग़ौरी, मुहम्मद अल्वी, शहरयार और गुफ़रान सिद्दीक़ी जैसे जदीद शोहरा को महज़ मौज़ूँगो क़रार दिया है और ये भी कि भारत में जदीद ग़ज़ल का दूर-दूर तक पता नहीं। इन प्रतिष्ठित जदीद शायरों को मौज़ूँगो क़रार देना कहाँ तक दुरुस्त है। इस तरह की बयानबाज़ी को आप किस नज़र से देखते हैं और ज़फ़र इक़्बाल की शायरी आपको किस कैफ़ियत से दो-चार करती है?

बशर नवाज़ : ज़फ़र इक़बाल की कामयाबी तो यही है कि उसने आपका ध्यान भी फ़ौरी तौर पर आकृष्ट कर लिया। अगर वो इस क़िस्म की राय का इज़्हार न करते तो मुम्किन है कि आपके ज़ेह्न में उनका नाम ही नहीं आता। इन दिनों इनका और शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का मतभेद चर्चा का विषय बना हुआ है। मुम्बई से निकनेवाले पर्चे 'तह्रीरे-नौ' में 'इस्बात' के सम्पादक अश्अर नज़्मी का एक लम्बा ख़त छपा है। ख़त क्या है मज़्मून ही है, जिसमें उन्होंने उस मस्अले को साफ़ करने की कोशिश की है कि शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी ने ज़फ़र इक़्बाल को ग़ालिब के बराबर या उनसे बड़ा शायर माना है। हालाँकि इस बात में कोई हक़ीक़त नहीं है। शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी ने कुछ और कहा था जिसका मतलब शायद ज़फ़र इक़्बाल ने ये निकाल लिया कि शम्सुर्रहमान उन्हें ग़ालिब से बड़ा

शायर मानते हैं। मेरा ख़याल है कि इस क़िस्म के stunts को कोई अहमियत नहीं देनी चाहिए और न इस पर बहस हो सकती है। ज़फ़र इक़्बाल ने अच्छी ग़ज़लें भी कही हैं। 'आबे-रवाँ' और 'गुलाफ़्ताब' की आधी ग़ज़लें अच्छी-ख़ासी हैं। उनमें नयापन भी है और तीखा लबो-लहजा भी। उन्हें ज़बानो-बयान पर क़ुद्रत भी हासिल है, लेकिन बदक़िस्मती से उन्होंने लखनऊ की 'रेख़्ती' और उसमें लफ़्ज़ों के उलट-फेर को ज़ियादा अहमियत देनी शुरू कर दी और उस क़िस्म की ग़ज़लें कहने लगे। वो सब शायरी-वायरी तो है नहीं। हाँ लोगों को उत्तेजित करने का एक ज़रिआ है और इसमें वो कामयाब हैं। यही वज्ह है कि आपने भी इस क़िस्म का एक सवाल उठाया। अपने मज़ामीन के मज्मूअे में ग़ज़ल के बदलते हुए रुज्हानात के अच्छे और बुरे पहलुओं की तरफ़ इशारा करते हुए मैंने ज़फ़र इक़्बाल की इस क़िस्म की शायरी के बारे में भी दो-एक जुम्ले लिखे हैं। आप वो मज़्मून देख लें। या फिर 'शायर' के उस अंक को देख लें जिसमें इस तरह के रत्बो-याबस(विचार-विमर्श) पर मेरा विस्तृत लेख है। मैं समझता हूँ इतना काफ़ी है। इस क़िस्म की बहसों में वक़्त गँवाना अच्छी बात नहीं है।

अकरम नक़्क़ाश : आप शायर हैं और आलोचक भी, 'नया अदब नये मसाएल' किताब आपके आलोचनात्मक दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। हिन्दुस्तान में मौजूद आलोचना की सूरते-हाल के बारे में आपकी क्या राय है? आपके पसन्दीदा आलोचक कौन-कौन हैं।

बशर नवाज़ : पहली बात तो ये कि मैं अपने आपको आलोचनात्मक अर्थों में आलोचक नहीं समझता। आपने देखा होगा कि मेरे मज़ामीन में न विदेशी आलोचकों के नामों की खतौनी हुई है और न मूल विषय से असम्बद्ध हवालों की भरमार। मैं किसी सृजन-कर्म को या किसी मस्अले को अपने दृष्टिकोण से देखता हूँ। रचना मेरी नज़र में इल्म की नुमाइश का नाम नहीं है, बल्कि ये फ़नकार की रूह की आइनादार होती है। मैं अपनी शायरी में भी और अपने मज़ामीन में भी उन्हीं बातों का ज़िक्र करता हूँ जो मेरे दिल को छूती हैं और शायद इसीलिए ये चाहता हूँ कि पढ़नेवाले भी इसमें शरीक हों। आलोचना हो या रचना जब तक उनमें ख़ुद लिखनेवाले के ज़ेह्नी, इल्मी और एहसासाती रवैयों का इज़्हार न हो, कोई अहमियत नहीं रहती। बार-बार अपना हवाला देना कोई अच्छी बात तो नहीं, लेकिन मज्बूरन ऐसा करना पड़ता है। वज्ह ये है कि मैं जो बातें सोचता और मह्सूस करता हूँ वो औरों के पास ज़रा कम-कम ही मिलती हैं। मस्लन् ये कि मेरे नज़दीक महज़ लफ़्ज़ों की तलाशो-जुस्तजू ज़ियादा अहमियत नहीं रखती। अगर आप की सोच में, आपके एहसास में कोई मौलिकता-नवीनता है तो आपके ज़ेह्न में अल्फ़ाज़ भी उसी मुनासिबत से आयेंगे। मौलिकता या नवीनता का अर्थ कम-अज़-कम मेरे नज़दीक अजीबो-ग़रीब सूरते-हाल पैदा करने का नाम नहीं है। सियाह के मुक़ाबले में सफ़ेद या रात के मुक़ाबले में दिन का ज़िक्र कर देना नयी बात नहीं, बचकाना खेल है। इसी तरह कुछ सर्वमान्य और रिवाज पायी हुए शब्दावली, मौज़ूआत (काव्य-विषय) और शैली के बिल्कुल बरअक्स शब्दावली, मौज़ूआत और शैली चुन लेना कोई अच्छी बात नहीं लगती; क्योंकि न आप का हर तज्रबा नया होता है और न हर लफ़्ज़ नया। अल्बत्ता आपका तज्रबा या मुशाहिदा अगर सच्चा है तो वो यक़ीनन् दूसरों से कहीं-न-कहीं मुख़्तलिफ़(भिन्न) होगा कि आप उनसे कुछ-न-कुछ मुख़्तलिफ़ हैं। इस मुख़्तलिफ़पन(भिन्नता) को पहचानना और अपने फ़न में बरतना genuine फ़नकार की पहली पहचान है। अब तर्ज़े-इज़्हार(अभिव्यक्ति शैली) या पेशकश का मस्अला सामने आता है और शायद यही सब से ज़ियादा मुश्किल मक़ाम होता है कि वो अपनी रचना में हर लफ़्ज़ और इज़्हारिया बिल्कुल नया ले आये, ताकि लोगों को मुतवज्जो भी कर सके और साहिबे-तर्ज़ भी कहलाये। ये जज़्बा अच्छा है, लेकिन बहुत ज़ियादा एहतियात,

फ़नकारी और अध्ययन की अपेक्षा करता है। अक्सर तो ये होता है कि नया करने के इस शौक़ में हमारे लिखनेवाले निरर्थक अल्फ़ाज़, दूर-अज़-कार इस्तिआरे(गूढ़ रूपक) और मामूली तर्ज़े-इज़्हार अख़्तियार कर लेते हैं। जिसकी वज्ह से अर्थ मात्र रचनाकार तक सीमित रह जाता है, क्योंकि लफ़्ज़ गूँगे, उपमाएँ और रूपक बिल्कुल असम्बद्ध हो जाते हैं।

अब रही आलोचकों की बात, सो उन का क़िस्सा ये है कि उनमें से बहुत-सारे किताब पढ़कर किताब लिखने के शौक़ीन हैं। किताब पढ़ना अच्छी बात है, लेकिन उसे समझ सकना उससे ज़ियादा बेह्तर है कि उससे पढ़नेवाले को भी फ़ायदा होता है और उसकी तह्रीर(written matter) में गुज़रनेवाले भी कुछ हासिल कर सकते हैं। नामों की खतौनी बड़ा ख़तरनाक अमल है, क्योंकि इसमें शायद हम बहुत-से लोगों के साथ इंसाफ़ न कर सकें। शायद दोस्तियाँ और आपसी ताल्लुक़ात भी आड़े आयें, इसलिए इसे छोड़िए।

अकरम नक़्क़ाश : आप कुछ अर्सा मुम्बई में भी रहे और फ़िल्मों में भी कुछ लिखा। ये सिल्सिला दराज़ न हो सका, क्यों? विस्तार से बतायें।

बशर नवाज़ : सबसे पहले तो ये जान लीजिए कि मैंने कभी फ़िल्मों में जाने की अपनी तरफ़ से कोई कोशिश नहीं की। बस कुछ मौक़े ऐसे आये कि मुझे कुछ गीत वग़ैरह लिखने पड़े। इसमें दिलचस्प बात ये है कि मुझे मुम्बई जाकर किसी प्रोड्यूसर को मुझसे गीत लिखवाने पर राज़ी नहीं करना पड़ा। मैंने अपना पहला गीत भी औरंगाबाद में ही रहकर लिखा। एक फ़िल्म बन रही थी 'शंकर ख़ान', जिसमें पृथ्वीराज कपूर, दारा सिंह वग़ैरह थे। उनके प्रोड्यूसर को नेशनल साँग की ज़रूरत थी जो हिन्दुस्तान और चीन की लड़ाई की पृष्ठभूमि में हो। सो मैंने एक गीत भेज दिया। वो उन्हें पसन्द आया और फ़िल्म में ले लिया गया। इसमें सिर्फ़ ये बात ज़ियादा अच्छी लगी कि मुझे पैसे मिल गये और गीत को मुहम्मद रफ़ी की आवाज़। फ़िल्म 'बाज़ार' के वक़्त यही हुआ। मुझे सिचुऐशन दी गयी, मैंने गीत भेज दिया और वो रिकार्ड भी हुआ। पसन्द भी किया गया। अलबत्ता इसके बाद दो-तीन फ़िल्में मिलीं, उसी वक़्त मैं मुम्बई में अपने भाई के पास ठहरा हुआ था। सो रहने-सहने और काम करने की आसानी हो गयी। इस बीच में कुछ टी. वी. सीरियल जैसे 'अमीर ख़ुस्रो', 'औरंगाबाद में बाबा साहब अम्बेडकर की तालीमी ख़िद्मात'(डॉक्यूमेण्ट्री फ़िल्म) और कुछ गीत-ग़ज़ल आधारित फ़ीचर्स; इसके बाद मैं फिर औरंगाबाद चला आया और अब तक यहीं हूँ। फ़िल्मों और ग़ज़लों वग़ैरह की सीडी के लिए यहीं से थोड़ा-बहुत काम कर लेता हूँ।

अकरम नक़्क़ाश : बर्रे-सग़ीर(भारतीय उपमहाद्वीप) के समकालीन साहित्यिक परिदृश्य के बारे में आपकी राय जानना चाहता हूँ। आलोचना, कथा-साहित्य और ख़ास तौर से शायरी के बारे में।

बशर नवाज़ : समकालीन साहित्यिक परिदृश्य तो सन् 1958 ही से तर्तीब पाने लगा था। जब कुछ नये लिखनेवालों ने तरक़्क़ीपसन्दी की शिद्दत और बँधे-टके अदबी रवैयों से ख़ुद को अलग करना शुरू किया था। यहाँ एक बात साफ़ कर देनी ज़रूरी है कि तरक़्क़ीपसन्द अदब में ये शिद्दतपसन्दी भिवण्डी-कान्फ्रेंस के बाद ज़ियादा आयी थी, वर्ना तरक़्क़ीपसन्द अदब की देन से कोई समझदार शख़्स इन्कार नहीं कर सकता। शायद मैं पहले भी कह चुका हूँ कि अदब के बदलते हुए रुज्हानात को बढ़ाने में 'सबा', 'सौग़ात' पाकिस्तान की 'अदबी दुनिया' वग़ैरह ने एक सन्तुलित और महत्त्वपूर्ण किरदार अदा किया। 'सबा' में वहीद अख़्तर का लेख या 'सौग़ात' के सम्पादकीय या मौलाना सलाहुद्दीन की पत्रिका 'अदबी दुनिया' में वज़ीर आग़ा और दूसरे लोगों के लेख; इन सब में बँधी-टकी से अलग होने का रुज्हान तो था ही, लेकिन उतनी अलहदगी की कोशिश भी नहीं थी कि अदब

की शक्ल ही न पहचानी जा सके। अलबत्ता इसके बाद शिद्दत से तब्दीलियों का सिल्सिला शुरू हुआ। उसके भी कई कारण हैं, जिनमें कुछ सियासी भी हैं।

मस्लन् ये कि पाकिस्तान के कुछ लिखनेवाले अपने आपको हिन्दुस्तान की रवायत (परम्परा) से बिल्कुल अलग करना चाहते थे। वो अपनी तह्ज़ीबी और बौद्धिक जड़ें मौजूदा पाकिस्तान की सरज़मीन ही में तलाश कर रहे थे। इस सिल्सिले में पहले तो मुहम्मद हसन अस्करी और सलीम अहमद वग़ैरह ने इस्लामी अदब का नारा लगाया जो कुछ चला-वला नहीं। उसके बाद जड़ों की तलाश की बहस शुरू हुई जिसमें वो इस नतीजे पर पहुँचे कि राजा दाहर और उसके बुज़ुर्गों का तह्ज़ीबी-सक़ाफ़ती सरमाया ही सिन्ध और पूरे पाकिस्तान की जमा-पूँजी है। अब यहाँ इस बहस को छोड़िए कि राजा दाहर और मुसलमानों का क्या ताल्लुक़ था, या हैदराबाद, बिहार और यू.पी. से गये हुए मुहाजरीन(शरणार्थियों) के सिल्सिले कहाँ जाकर मिलते हैं। बहरहाल, ये एक बड़ी बहस थी और लुत्फ़ की बात ये है कि इसमें पंजाब के लिखनेवाले ख़ुद शामिल नहीं थे। इसी बीच में वहाँ के कुछ नौजवान यूरोप और दूसरे मुल्कों में चलनेवाले विभिन्न आन्दोलनों से प्रभावित हुए, ख़ासतौर से सॉस्यूर, देरीदा वग़ैरह से। ये लोग ज़बान के विज्ञान पर ग़ौर-ओ-फ़िक्र कर रहे थे और साख़्तियात(संरचनावाद), पससाख़्तियात(उत्तर संरचनावाद), रद साख़्तियात(विसंरचनावाद) के मसाएल बहरहाल किसी-न-किसी सूरत में यहाँ के लिखनेवालों पर भी असर-अन्दाज़(परिलक्षित) हो रहे थे। फ़र्क़ सिर्फ़ ये था कि यहाँ के अक्सर लिखनेवाले उन तमाम विमर्शों, उनके नतीजों और उनके सियासी और तह्ज़ीबी पसमंज़र(पृष्ठभूमि) से क़तई वाक़िफ़ नहीं थे। नतीजा आपके सामने है कि सन् 1960, सन् 1962 के बाद से कुछ लोगों की जो तह्रीरें सामने आने लगीं, वो इस क़िस्म की थीं कि उन पर— 'आप लिखें और आप ही समझें' की कहावत चरितार्थ होती थी। अलबत्ता यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि पाकिस्तान में जो लोग इस आन्दोलन को चलाने के ज़िम्मेदार थे वे कुछ दिनों के बाद फिर अपनी राह पर आ गये। परिणामस्वरूप जीलानी कामरान 'पंच शोरावाला' और अनवर सज्जाद अपने तमाम तज्रबाती अफ़साने लिखने के बाद 'कोंपल' जैसे अफ़साने लिखने की तरफ प्रवृत्त हुए। ज़ाहिर है कि ये अफ़साना और नज़्म न सिर्फ़ इन लोगों की कामयाब रचनाएँ हैं, बल्कि उर्दू की अच्छी रचनाओं में शामिल हैं, लेकिन कुछ नौजवान लिखनेवाले उन तब्दीलियों को नहीं समझ सके और तक़रीबन् 1970-75 तक इसी क़िस्म की ज़ोलीदा(अस्त-व्यस्त) तह्रीरों को अदब समझकर ख़ुश होते रहे।

ख़ैर, सन् 1980 के आते-आते जो नये लिखनेवाले सामने आये उन्होंने उन तमाम तज्रबों वग़ैरह से अलग होकर ख़ुद अपने तज्रबों और ज़बान की रवायत की रौशनी में अपना सफ़र शुरू किया। जिसके नतीजे के तौर पर सीधी, साफ़, शाइस्ता और शफ़्फ़ाफ़ ज़बान में अपने मसाएल और अपनी ऐन्द्रिक मन:स्थितियों वग़ैरह का इज़्हार होने लगा। बीच के जो आठ-दस साल हैं उनमें मेरे अपने ख़याल के मुताबिक़ अफ़्सानों के नाम पर कुछ बेरब्त और समझ में न आनेवाले जुम्ले लिखे जाते रहे हैं; और नज़्मों या ग़ज़लों के नाम पर लखनऊ की पतनशील शायरी को अपने अल्फ़ाज़ में दोहराया जाता रहा है। आज आप देखें तो सिर्फ़ वही रचनाकार और वही रचनाएँ बाक़ी बची हैं जिनमें अपनी रवायत का मुनासिब इस्तेमाल भी है, ज़िन्दगी और इसकी समस्याओं से वाबस्तगी है और उस संकट के दौर में आदमी की ज़ेह्नी और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ भी; और बाक़ी तमाम चीज़ें रद्दी की टोकरी की नज़्र हो गयीं। आप 'शबख़ून' के लिखनेवालों के बारे में पूछ रहे हैं तो 'शबख़ून' में जो इस क़िस्म की चीज़ें छपीं उनका तो ज़िक्र ही नहीं होता। अल्बत्ता 'शबख़ून' ने जो अच्छी, ताज़ाकार और अलग अन्दाज़ की रचनाएँ प्रकाशित किया, वही आज हमारी धरोहर है, पूँजी है। सन् 1980 के बाद आनेवाले नौजवान बड़ी हद तक उन्हीं राहों पर चल रहे हैं कि मौज़ू और

मसाएल ताज़ा हों, उनका इज़्हार मुनासिब लफ़्ज़ों और हैयतों(रूप-स्वरूप) में हो; और अदब के रिश्ते न सिर्फ़ लिखनेवाले से, बल्कि पाठकों से भी सम्बन्धित रहें।

मुख़्तसर ये कि आज का अदबी मंज़रनामा तज्रबों के नाम पर वाली हंगामा-आराई से पाक है, ताज़ाकार है। जिन्नाती ज़बान(जो ज़बान जिन्न वग़ैरह बोलते हों, आशय- ऐसी ज़बान जो समझ में न आये) के बजाय इंसानों की ज़बान इस्तेमाल होती है, साथ ही लिखनेवाले और पढ़नेवाले बड़ी हद तक मुत्मइन नज़र आते हैं। कई नये शायर और अफ़्सानानिगार आज के जलते-सुलगते मसाएल पर पूरे ख़ुलूस और अदबी रख-रखाव के साथ क़लम उठा रहे हैं; और आज का अदबी मंज़रनामा उन्हीं विशिष्ट रचनाकारों से निर्मित हो रहा है। यहाँ भी मैं नामों की खतौनी करना मुनासिब नहीं समझता, क्योंकि ऐसी खतौनियाँ अक्सर विवादित होती हैं।

अकरम नक़्क़ाश : औरंगाबाद अदबी ज़रख़ेज़ी (साहित्यिक उपज) के लिए मशहूर है। आपके बाद या आपके साथ-साथ लिखनेवालों में किस-किस के यहाँ तख़्लीक़ी क़ुव्वत (रचनात्मक सामर्थ्य) नज़र आती है? बेलाग राय जानना चाहता हूँ कि आप दो टूक कहने में संकोच महसूस नहीं करते।
बशर नवाज़ : औरंगाबाद यूँ तो इल्मो-अदब के ऐतबार से हमेशा ही जाना पहचाना जाता रहा है, लेकिन वली, सिराज और उनके साथ के कुछ और लिखनेवाले उर्दू के अव्वलीन दौर में औरंगाबाद की पहचान रहे हैं। उसके बाद कुछ हालात की तब्दीलियों की वज्ह से, पाया-ए-तख़्त के हैदराबाद transfer हो जाने की वज्ह से और समाजी सूरते-हाल में तब्दीलियों की वज्ह से उस फ़ज़ा में कुछ कमी-बेशी होती रही। मौलवी अब्दुल हक़ के औरंगाबाद आने के बाद औरंगाबाद को फिर केन्द्रीय हैसियत हासिल हुई। यहाँ अंजुमने-उर्दू का दफ़्तर था। 'उर्दू' नामी छमाही पत्रिका निकलती थी जिसमें शायद पहली मर्तबा तक़्रीज़(प्रशंसात्मक लेख) के बजाय तब्सिरे(समीक्षात्मक लेख) प्रकाशित होने लगे और तब्सिरे भी ऐसे कि किताब के सारे ऐबो-हुनर आइना हो जायें। इसके अलावा उर्दू में नये-नये विषयों पर लेख प्रकाशित हुए। तह्क़ीक़(शोध) के नये पहलू सामने आये और शायरी के लहजे में स्पष्ट तब्दीलियाँ हुईं, जिसकी एक कामयाब और मुकम्मल मिसाल 'मीराजी' को क़रार दिया जा सकता है। मौलवी अब्दुल हक़ के चले जाने के बाद यहाँ की अदबी फ़ज़ा फिर सिमटती नज़र आती है। सिकन्दर अली 'वज्द' और शेख़ चाँद भी 'उर्दू' ही की देन हैं। 70 के दशक में औरंगाबाद को एक बार फिर बड़ी अहमियत हासिल हुई। उस ज़माने में यहाँ वो तमाम लोग जमा थे जो आज जदीद उर्दू-अदब के अहम दस्तख़त हैं। जोगिंदर पाल, क़ाज़ी सलीम, शफ़ीक़ फ़ातिमा शेअरा, फ़ज़ील जाफ़री; फिर इनके बाद अतीक़ुल्लाह और सादिक़ भी यहाँ आ गये। हमीद सहरवर्दी भी थे; फिर क़मर इक़्बाल, जावेद नासिर, शमीम अहमद भी यहाँ आ गये। इस तरह यहाँ की अदबी चहल-पहल में एक नया ख़ून दौड़ने लगा। आजकल भी अदबी फ़ज़ा तो बनी हुई है और उनमें कुछ प्रतिभाशाली नये लिखनेवाले भी हैं जैसे फ़ारूक़ शमीम, ख़ान शमीम, नूरुल हसन, साबिर, युसुफ़ उस्मानी, राना हैदरी वग़ैरह। असलम मिर्ज़ा की ज़ियादा तवज्जो तहक़ीक़ की तरफ़ है। इनके अलावा इर्तिकाज़ अफ़्ज़ल, हमीद ख़ान, मसर्रत फ़िरदौस, सिद्दीक़ मुहीयुद्दीन जैसे उस्ताद हैं जिन्होंने कुछ अच्छे मज़ामीन और किताबें लिखी हैं। इनके अलावा यूनिवर्सिटी और कॉलेजों के स्टूडेण्ट हैं जिनमें हाजिरा बानो, नूरुल ऐन, फ़रहीन वग़ैरह; इन लोगों से उम्मीदें वाबस्ता की जा सकती हैं।

अकरम नक़्क़ाश : आपकी दृष्टि में हिन्दुस्तान की अदबी पत्रिकाओं में किन-किन पत्रिकाओं ने अदब के वास्तविक उत्थान और विकास में अहम रोल अदा किया? सबसे पहले आप अपनी रचनाओं को किस पत्रिका को प्रकाशित करने के लिए भेजना पसन्द करते थे या पसन्द करते हैं?

बशर नवाज़ : मेरा ख़याल है कि ऊपर इस सन्दर्भ में कई बातें आ गयी हैं, फिर भी इस पर कुछ बात कर ली जाय। पत्रिकाएँ तो बहुत सारी निकलीं जिनमें से कुछ बहुत अच्छी थीं, लेकिन ज़ियादा दिन नहीं चल सकीं जैसे– हैदराबाद से 'गजर' के पाँच-सात अंक निकले जो बहुत उम्दा थे। तारीफ़ें भी बहुत हुईं, लेकिन तारीफ़ करनेवाले ख़रीदार नहीं बने, नतीजतन् ये बन्द हो गया। इसी तरह दिल्ली से 'फ़नकार' प्रकाश पण्डित निकालते थे। बड़ी तस्वीरों वग़ैरह के साथ अच्छी तबाअत(छपाई) और अच्छा मेआर, लेकिन इसका भी वही हश्र हुआ। 'सबा', 'सौग़ात', 'शबख़ून', 'किताब' और बड़ी हद तक 'शायर' ने अदबी ट्रेण्ड सेट करने के लिए अहम रोल अदा किया। बाद में मुग़्नी तबस्सुम और शहरयार के 'शेरो-हिक्मत' ने भी अच्छा काम किया। और भी कई पत्रिकाएँ हैं जिनके नाम इस वक़्त ज़ेह्न में नहीं आ रहे। यहाँ मैंने सिर्फ़ हिन्दुस्तानी पत्रिकाओं का ज़िक्र किया है। अब रही ये बात कि मैं अपनी रचनाएँ किस पत्रिका में प्रकाशित कराना बेह्तर समझता हूँ तो इसका क़िस्सा ये है कि जिस रिसाले(पत्रिका) का ख़त आता है और मेरे पास कोई ताज़ा चीज़ होती है तो मैं उस को भेज देता हूँ।

अकरम नक़्क़ाश : एक आख़िरी सवाल कि आपने जो कुछ लिखा उससे मुत्मइन हैं या उम्र की इस मंज़िल में कोई तह्रीर आपके क़लम से निकलने को आज भी बेताब है?

बशर नवाज़ : मेरा ख़याल है कि कोई सच्चा लिखनेवाला अपनी तह्रीर से पूरी तरह मुत्मइन नहीं होता, अल्बत्ता इसकी कोशिश ज़रूर की जा सकती है कि वो ज़ियादा-से-ज़ियादा प्रभावशाली और बेह्तर तरीक़े से अपना इज़्हार कर सके। मैं भी ये समझता हूँ कि बहुत-कुछ करना बाक़ी है। बहुत-सी बातें, बहुत-से मस्अले, बहुत-से जज़्बे अभी बाक़ी हैं जो अपना इज़्हार चाहते हैं। फिर ज़िन्दगी का मुआम्ला ये है कि हर वक़्त एक नये रूप में सामने आती है और एक नया मस्अला, नयी सूरते-हाल दरपेश होती है। ज़ाहिर है कि लिखनेवाले के ज़ेह्न में उससे उम्दा ओहदा होने की ख़्वाहिश तो होगी ही। अब ये बात अलग है कि वो इसमें कामयाब होता है या नहीं।

यश मालवीय
'रामेश्वरम्', ए- 111,
मेंहदौरी कॉलोनी, इलाहाबाद (उ. प्र.)
मो.- 09839792402

यश मालवीय हिन्दी नवगीत विधा के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनका व्यक्तित्व बहुआयामी है और अपनी सार्थक रचनाधर्मिता के चलते ये उस कवि-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो न केवल किताबी है और न ही मात्र मंचीय। यश मालवीय मंच से जुड़े आम आदमी तथा किताबों और पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े बौद्धिक वर्ग के बीच पुल का कार्य करते हैं। विशुद्ध साहित्यिकता के व्यामोह में इन्होंने जन-पक्षधरता नहीं छोड़ी, यही कारण है कि इनकी करनी और कथनी में फ़र्क़ नहीं है। इनके आठ-दस काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनकी साहित्यिक स्तरीयता इन्हें हिन्दी-काव्य-इतिहास में दर्ज कराने के लिए पर्याप्त है।

एहतराम इस्लाम पर यश मालवीय का ये लेख एहतराम साहब के अनछुए पहलुओं और उनकी सघन आत्मीयता से परिचित कराता है। एहतराम साहब हिन्दी-ग़ज़ल के नीति-निर्धारक शायरों में से एक हैं, यद्यपि कि उर्दू के एक-दो महत्त्वपूर्ण समीक्षक इन्हें पूरी तरह उर्दू का शायर मानते हैं। इनके पूरे व्यक्तित्व का जैसा रेखाचित्र यहाँ यश मालवीय ने खींचा है उसमें कई ऐसे संकेत उपस्थित हैं जो इनकी प्रतिबद्ध रचनाधर्मिता और गम्भीर भावाभिव्यक्ति से परिचित कराते हैं। इसी वर्ष अंजुमन प्रकाशन, इलाहाबाद से इनके ग़ज़ल-संग्रह 'है तो है' का द्वितीय संस्करण आया। जल्द ही हिन्दी और उर्दू में इनके कई ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित होनेवाले हैं।

यश मालवीय

हिन्दी-ग़ज़ल का आत्मविश्वास हैं एहतराम इस्लाम

एहतराम इस्लाम मुझे विरासत में मिले हैं। गीत के प्रारम्भिक संस्कार होने के बाद भी मैंने अपना लेखन ग़ज़ल-विधा से ही शुरू किया। मैं और स्मृति-शेष वसु मालवीय(छोटा भाई) ग़ज़ल की परिभाषा के रूप में सबसे पहले यही जाने कि ग़ज़ल उसे कहते हैं जो एहतराम इस्लाम लिखते (या कहते) हैं। पिता कवि उमाकान्त मालवीय के साथ ए.जी. ऑफ़िस इलाहाबाद में काम करते हुए बचपन से ही एहतराम भाई को घर आते-आते देखता रहा। वो कब हमारे चाचा से हमारे भाई हो गये पता ही नहीं चला। इस दूरी को घटाने और मिटाने में स्वयं एहतराम भाई की भूमिका भी कम नहीं रही। बड़ा वो होता है जो बड़प्पन आरोपित नहीं करता। पिता जी के बहुत सारे मित्र जो महज़ इसलिए आदर चाहते थे कि वो पिता जी के मित्र हैं, आज ज़ेहन में उनका नामो-निशान तक नहीं। डॉ. ज़मीर अहसन, बुद्धिसेन शर्मा, सुरेश कुमार 'शेष' और एहतराम इस्लाम की चौकड़ी जब साथ मिल बैठती थी तो ग़ज़ल की कितनी-कितनी ज़मीनें लहराती हुईं सामने आती थीं कि पूछिए मत।

पिजा जी के न रहने के बाद ए.जी. ऑफ़िस में एहतराम भाई का रोज़-रोज़ का आठ-दस घण्टे सान्निध्य धरोहर जैसा है, जिसने मेरी निर्मिति में अत्यन्त सुखद भूमिका निभायी। एहतराम भाई को जिस पहले शेर से जाना, वो था—

नेवले के दाँत साँप की गर्दन में धँस गये
बोला मदारी भीड़ से ताली बजाइए

ये शेर 'उत्तर प्रदेश यानी प्रश्न प्रदेश' शीर्षक आलेख में पिता जी ने सबसे पहले उद्धृत किया था। इस अकेले शेर ने पूरे देश में तहलका मचा दिया था। लेख 'धर्मयुग' में छपा था। 'धर्मयुग' के पैड पर ही 'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक डॉ. धर्मवीर भारती का पत्र पिता जी के पास आया था, जिसमें उन्होंने लिखा था— ''डियर उमाकान्त, ये पूरी ग़ज़ल 'धर्मयुग' के लिए दिलवाओ। मैं इसे छापना चाहता हूँ। मुझे लगता है इस ग़ज़लकार में तो दुष्यन्त कुमार के कान काटने की क्षमता है।'' और जब ये पूरी ग़ज़ल 'धर्मयुग' में छपी तो क़हर बरपा हो गया। इस ग़ज़ल के कुछ धारदार शेर देखिए —

छोटा था मैंने आपको चाँटा लगा दिया   अग्रज हैं आप पीठ मेरी थपथपाइए
मैं डूबने की चाह में बैठा हूँ 'एहतराम'   मेरे क़रीब आप नदी बनके आइए

ख़ास तौर पर ये मत्ला देखिए—

चट्टान तोड़ने को न घूँसा उठाइए   मुट्ठी को चोट आयेगी मुट्ठी बचाइए

'धर्मयुग' में ये ग़ज़ल छपनी नहीं थी कि उन दिनों व्यंग्य के शीर्षपुरुष शरद जोशी (जिन्होंने उस समय नयी पत्रिका 'हिन्दी-एक्सप्रेस' की कमान सँभाली थी) ने कमलेश्वर जी को 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' में फोन लगाकर कहा— ''बच्चू दुष्यन्त कुमार पर ज़्यादा मत फूलो। एक ग़ज़लकार इलाहाबाद में भी पैदा हो गया है, जो हिन्दी-चेतना से लैस समकालीन कविताधारा की ग़ज़लें लिख रहा है। जिसमें लगभग वही कथ्य हैं जो धूमिल अपनी कविताओं में दे रहे हैं। उसने शिल्प तो समृद्ध उर्दू-ग़ज़ल की परम्परा से लिया है पर कन्टेण्ट के मामले में वो उर्दू की रवायती जकड़नों से बहुत बाहर है।'' सचमुच एहतराम भाई ग़ज़ल की प्रजाति के शब्दों से बाहर के शब्दों से अपनी ग़ज़ल का शृंगार कर रहे थे। चिकनी-चुपड़ी शब्दावली को अँगूठा दिखाकर वो लिख रहे थे—

यूँ ही अगर हरेक से लड़ जाओगे मियाँ   तन्हाइयों की क़ैद में सड़ जाओगे मियाँ
दे दूँगा ढील जैसे ही बढ़ जायेगा तनाव   हत्थे से मेरे कैसे उखड़ जाओगे मियाँ
माना कि 'एहतराम' सरापा बहार हो   आयी ख़िज़ाँ तो तुम भी उजड़ जाओगे मियाँ

ये सारी ग़ज़लें इलाहाबाद की साहित्यिक गोष्ठियों की रौनक़ बनती जा रही थीं। बड़े-से-बड़ा रचनाकार जो सत्तर और अस्सी के दशक में इलाहाबाद आया तो फिर इलाहाबाद और एहतराम भाई का होकर रह गया। ये सारी ग़ज़लें पढ़ दी जाती थीं तो फिर गोष्ठी में किसी अन्य के लिए कुछ पढ़ना शेष नहीं रह जाता था। उस समय का, एहतराम भाई का तरन्नुम भी विशेष तौर से याद आता है। उनकी वेशभूषा, कानों को छेंके हुए लम्बे बढ़े बाल, बेल-बाटम (चौड़ी मोहरी का), मुँह के कोने दबा एक बीड़ा पान, पूरा शायराना हुलिया किसे नहीं अभिभूत कर देता था। ए.जी. ऑफ़िस के बाद स्टेशन पर चाय की दुकान बदल-बदलकर चाय पीना और बातों-ही-बातों में एक-से-एक अश्आर कहते चले जाना उनकी फ़ित्रत बन गयी थी। कभी 'अंजुमने-रूहे-अदब' कभी 'हिन्दुस्तानी एकेडमी', कभी यूनिवर्सिटी तो कभी अब्दुल अज़ीज़ सिद्दीक़ी का 'पहचान' कार्यालय। इन स्थानों पर नयी-पुरानी पीढ़ी के, हिन्दी और उर्दू के ग़ज़लकार इकट्ठे होते थे।

एहतराम भाई ने एक बार कहा था कि समर्थ रचनाकार को उसके प्रशंसकों की संख्या से नहीं, उसके ईर्ष्यालुओं की संख्या से जाना जाना चाहिए। मेरे लिए परम संतोष की बात है कि एहतराम भाई ने अपने जलनेवाले कम पैदा नहीं किये। उर्दूवाले ये कहकर टालते रहे कि एहतराम हिन्दी में ग़ज़लें कह रहे हैं इसलिए हिन्दी के ग़ज़लकार हैं, हिन्दीवाले ये कहकर टालते रहे कि मुसलमान हैं तो जायें उर्दू में, हिन्दी में क्या कर रहे हैं। ये सारी बातें जब एहतराम भाई तक पहुँचती थीं तो वे अपने चेह्रे पर एक बदमाश-सी हँसी उगा लिया करते। ऐसे ही किसी मौक़े पर उन्होंने ये पंक्तियाँ कही थीं—

मेरे व्यक्तित्व की महत्ता को अन्ततः मान रहे हैं लोग
मेरा चेह्रा बिगाड़कर ही सही मुझको पहचान रहे हैं लोग

एहतराम भाई की तत्सम शब्दावली परम्परावादियों के दिल में काँटे की तरह गड़ा करती थी। महत्त्वपूर्ण बात ये है कि दुष्यन्त की भोंडी नक़ल करने के चक्कर में बहुत-सारे ग़ज़लकार कृत्रिमता का भी इस्तेमाल कर रहे थे। ऐसी स्थिति में एक बार नयी कविता के कीर्ति-पुरुष जगदीश गुप्त ने कहा था कि— ''आप एहतराम की हिन्दी-शब्दावली से क्यों विचलित होते हैं। ज़रा ग़ौर से देखिए ग़ज़ल की अँगूठी में क्या वो हिन्दी के शब्द नग की तरह नहीं जड़ देते।'' ऐसा रचनात्मक उपक्रम कोई समर्थ रचनाकार ही कर सकता है कि ग़ज़ल की प्रवृत्ति और प्रकृति भी बनी रहे तथा अपनी बात भी सलीक़े से कह दी जाये। इस सन्दर्भ में एतहराम इस्लाम की एक अत्यन्त लोकप्रिय ग़ज़ल के ये शेर देखिए—

याद तेरी रात भर का जागरण दे जायेगी
स्वप्न की भाषा को लेकिन व्याकरण दे जायेगी
स्वर्ण-मृग की लालसा क्षण भर भी टिक सकती थी क्या
यदि पता होता कि वो सीता-हरण दे जायेगी
और कुछ दे या न दे संघर्ष की गम्भीरता
मेरी ग़ज़लों के लिए वातावरण दे जायेगी

अथवा

आँखों में भड़कती हैं आक्रोश की ज्वालाएँ   हम लाँघ गये शायद संतोष की सीमाएँ
तस्वीर दिखानी है भारत की तो दिखला दो   कुछ तैरती पतवारें कुछ डूबती नौकाएँ

मुझे लगता है कि प्रकारान्तर से ग़ज़लें लिखते हुए एहतराम भाई ने हमारी गंगा-जमुनी तह्ज़ीब की विलक्षण सेवा की है। उन्हें हिन्दी और उर्दू, दोनों ही ज़बानें सिद्ध हैं। वो हिन्दी-कविता की संवेदना और व्याकरण तथा उर्दू-कविता का ग्रामर और एहसास समान रूप से जानते-पहचानते हैं। उनमें एक कबीर साँस लेता है, उनमें एक 'निराला' गुनगुनाता है, उनमें रहीम हैं तो बिहारी भी हैं। उन्हें दायरों में बाँधना नामुम्किन है। उनकी भाषा संवाद के पुल बनाती है। धीरे-धीरे करके उन्होंने अपने सभी आलोचकों के मुँह भी बन्द कर दिये। उनके सामाजिक सरोकार और उनके मानवीय मूल्य सृजनात्मकता का आईना सिरजते हैं। 'आईना' शब्द आते ही एक प्रसंग और याद आता है। एक बार एक समालोचक ने फ़र्माया कि लगता है एहतराम का शब्द-संसार सीमित है। बार-बार वो अपनी ग़ज़लों में 'आईना' (या, 'आइना') ले आते हैं। उस गोष्ठी में मैं भी था, पिता उमाकान्त मालवीय अध्यक्षता कर रहे थे, गहरे प्रतिरोध के साथ बोले— ''ध्यान से देखिए क्या हर बार एहतराम एक नया 'आइना' नहीं पेश कर देते। जिसे आप सीमा कहते हैं उसे हम सामर्थ्य मानते हैं।'' उनकी ग़ज़लों के फ़िल्हाल दो 'आईने' दरपेश हैं—

मुस्कुराकर ही मिलूँगा मुस्कुराती शक्ल से   लाख धुँधलाया हूँ लेकिन आइना हूँ आइना

×× ×× ××

वार्ताएँ, योजनाएँ, घोषणाएँ, फ़ैसले   इतने पत्थर और तन्हा आइना निष्कर्ष का

हिन्दुस्तानी लबो-लहजा और भारतीय संस्कृति का सम्यक् चेहरा, जो एहतराम की ग़ज़लों ने अता किया है वो श्लाघनीय है। वो काला पहर भी याद आता है जब बाबरी मस्जिद ढहायी गयी थी। एहतराम भाई नौचन्दी एक्सप्रेस से इलाहाबाद लौटे थे। शह्र की ओर एक अव्यक्त-सा तनाव फैला था। सिविल लाइन साइड उतरकर वो मोपेड से मेरे साथ घर आ गये थे। घर में माँ के हाथ की छौंकी दाल उन्हें ज़ियादा प्रीतिकर लग रही थी। उन्होंने माँ जी से कहा था— ''इस दाल के आगे सारे मुर्ग़-मुसल्लम और बिरयानी को ठोकर मारता हूँ। मेरे लिए ये प्रसाद है।'' माँ ने भी कहा था— ''एहतराम में जो 'राम' है वो बराबर अपनी सौम्य मुद्रा के साथ ध्यान आकर्षित करता है।'' जो इस प्रकार की इंसानी तह्ज़ीब जीता है वही शायद इस बँट रहे और कट रहे समाज में नये सिरे से सार्थक जोड़ पाता है। एहतराम की ग़ज़लों ने यही किया है। तभी तो संचालन करते हुए कई बार पिता जी को ये कहते सुना है कि— ''अब मैं उम्र में छोटे और रचनाओं में बड़े एहतराम को काव्य-पाठ के लिए आमंत्रित करता हूँ।'' 6 दिसम्बर 1992 की रात एहतराम ये शेर कह रहे थे, और इस शेर में भी 'राम' का भरोसा टूटा नहीं था—

कितनी भयावनी थी वो जंगल की रात भी   काटी गयी जो राम-भरोसे दरख़्त पर
किसको गुमान होता किसी साँप का वहाँ   कौवे अगर न शोर मचाते दरख़्त पर

ग़ज़ल लिखने के साथ-साथ अपनी 'मार्केटिंग' न करने के कारण भले ही एहतराम भाई का नाम हाशिये पर दिखता हो परन्तु उस हाशिये का हस्तक्षेप निरन्तर पिछले लगभग साढ़े-तीन चार दशकों से बना रहा है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। ये सही है कि उन्होंने ग़ज़ल को उत्पाद नहीं बनाया, मंच की गणित नहीं की, सम्पादकों को आरक्षण-टिकट नहीं भेजे, पुरस्कार समितियों के चक्कर नहीं लगाये, किसी की ख़ुशामद नहीं की, ठकुरसुहाती को पास फटकने नहीं दिया, आलोचकों को अपनी किताबें भेंट नहीं की। उन्हें आत्म-प्रचार हमेशा आत्म-रति जैसा ही लगा। दुनियावी तौर पर कह सकते हैं कि वो इस समय रचे जा रहे साहित्य और समाज की दुनिया में 'मिसफ़िट' ही रहे। इससे क्या होता है, वो तो आज भी हिन्दी-ग़ज़ल का आत्मविश्वास हैं। नयी पीढ़ी का कोई भी रचनाकार हिन्दी-ग़ज़ल के गलियारे में जब पाँव रखेगा तो दुष्यन्त कुमार के बाद एहतराम इस्लाम के स्टेशन पर रुकना ही होगा। सज्दा करना ही होगा। एहतराम हिन्दी-ग़ज़ल की ज़िन्दा तमीज़ हैं। सूरज का अपना सच होता है और कुहरे का अपना षड्यंत्र, तभी तो एहराम भाई बड़ी तबीअत से कह पाते हैं—

क्या फ़िक्र कि अँधियारा अजय भी तो नहीं है
फिर सूर्य के आने का समय भी तो नहीं है

लेकिन, आज हिन्दी-ग़ज़ल का कारवाँ अराजकता के जिस दौर से गुज़र रहा है, उसमें लगता है कि समानान्तर रूप से सूर्य के उगने का समय आ ही गया है। केवल जनवादी तावीज़ पहन लेने से और प्रगतिशीलता का बिल्ला धारण करने से किसी विधा का कल्याण नहीं होता, बल्कि अपने को खपा देना होता है। बड़ा रचनाकार केवल अपने लिए नहीं जीता, बल्कि ख़ामोशी के साथ वो एक समूची पीढ़ी भी तैयार कर रहा होता है। एहतराम भाई ने कम-से-कम पचास हस्ताक्षर शह्र-दर-शह्र पैदा किये हैं, जो शान से अपने को 'एहतरामी धारा' का रचनाकार घोषित करते हैं। कुछ लोग जो उर्दू को हिन्दी की ही एक शैली बताते हैं, उनकी नज़र में भी खोट है। एहतराम भाई ने एक तरफ़ ग़ालिब को तो दूसरी तरफ़ तुलसी को बाक़ायदा आत्मसात् किया है और ये कहा भी है कि— ''अगर उर्दू हिन्दी की शैली मान ली जाय तो बाक़ायदा हिन्दी में मीर और ग़ालिब पढ़ाये जाने चाहिए।'' भाषाई संकीर्णता से ऊपर उठकर उन्होंने समकालीन कविता और उसके बोध पर प्रखर अन्दाज़ में अपनी बातें कही हैं। इसीलिए वो आक्रामक मुद्रा में कहते हैं—

नारों की नहूसत से कविता को बचा रक्खे
कविता को अगर कोई हथियार समझता है

भले प्रत्यक्ष रूप में कोई ग़ज़ल का रचनाकार एहतराम इस्लाम से अनभिज्ञ हो सकता है, लेकिन उसे अगर ग़ज़ल-विधा में कुछ सार्थक और रचनात्मक जोड़ना है तो उसे 'साये में धूप' की तरह 'है तो है' की छाँव में कुछ लम्हे गुज़ारने होंगे। शिल्प और कथ्य का ऐसा मणि-कांचन सहयोग दुर्लभ है। ऐसा तो कभी सम्भव ही नहीं होगा कि अच्छी ग़ज़लें भी लिख लें और राम-मन्दिर भी बनवा लें। वैसे सच कहें तो सही अर्थों में राम की इबादत और अच्छी ग़ज़ल लिखना, मेरे लिए एक ही बात है। एहतराम इस्लाम की स्वीकृति में विलम्ब भले हुआ है, लेकिन जैसी सघन स्थापना एहतराम भाई की हो रही है, वो शायद दुष्यन्त को भी नसीब नहीं।

एक गोष्ठी का फिर ज़िक्र आ रहा है। एहतराम इस्लाम को प्रस्तुत करते हुए हिन्दुस्तानी एकेडमी के सभागार में पिता जी ने कहा था कि— ''मैं कामना करता हूँ कि एहतराम की उम्र लम्बी हो, मगर जब कभी वो नहीं रहेंगे (हालाँकि ये कहने में मेरी रूह काँप रही है) तो हिन्दी और उर्दू के रचनाकार या कहें हिन्दू और मुसलमान कुछ इस तरह से झगड़ पड़ेंगे जैसे कभी कबीरदास के पर्दा करने पर हुआ था। ये दोनों क़ौमें उनके फूल पाने के लिए आपस में लड़ पड़ेंगी।'' ये कथन अतिरंजित-सा लग सकता है। कुछ हद तक शायद हो भी, लेकिन एहतराम इस्लाम की लोकप्रियता

जिन्होंने देखी है वो जानते हैं कि न केवल वो जिन्हें ग़ज़ल से प्यार है, बल्कि जो मानव-मात्र से प्यार करते हैं, एहतराम इस्लाम पर जान छिड़कते हैं।

ए.जी. ऑफ़िस पर बैठनेवाले पान-वाले चौरसिया को भी एहतराम भाई के शेर याद हैं। अक्सर उसकी दुकान पर खड़े हो तो वो ये शेर पढ़ देता है—

आज सचमुच लग रहा है शान्तिप्रिय है देश अपना
शहर में कर्फ़्यू लगा है रात भर गोली चली है

पिता जी की तरह ही एहतराम भाई *'तू हिन्दू बनेगा न मुसलमान बनेगा ... इंसान की औलाद है इंसान बनेगा''* जैसी चमकदार पंक्तियों से कभी प्रभावित नहीं हुए। उनका भी मानना है कि जो न हिन्दू बनेगा, न मुसलमान बनेगा फिर वो शैतान ही बनेगा; क्योंकि हमारी संस्कृति और सभ्यता इन दोनों धर्मों के नाभिक में ही रस-ग्रहण करती है।

अन्त में जो सबसे उल्लेखनीय बात है वो ये है कि स्मरणशीलता कवि और कविता को दीर्घजीवी बनाती है। सबसे अधिक quote किये जानेवाले कवियों में, इलाहाबाद के सन्दर्भ-विशेष में, कहें तो कैलाश गौतम के बाद एहतराम भाई याद किये गये। अभी-अभी चुनाव बीता है, एहतराम भाई का ये शेर हवाओं में लिखा तिरता रहा है—

आप छल-बल के धनी हैं, जीतिएगा आप ही
आपसे बेहतर मेरी उम्मीदवारी है तो है

दुष्यन्त के बाद हिन्दी-ग़ज़ल को सर्वाधिक मुहाविरे देनेवाले कवि एहतराम इस्लाम को मैं पिता जी के शब्दों में ही कामना करता हूँ कि उन्हें 'राम की नहीं, रामकथा की आयु मिले' और वो हमारे इस समय का पोस्टमार्टम करते हुए हमें वस्तुगत सत्य से अवगत कराते रहें।

श्रीधर मिश्र
एल. आई. जी. -डी-40
फेज़-4, रेल विहार रोड,
चरगाँवा, गोरखपुर-273013 (उ. प्र.)
मो.- 09450829617

श्रीधर मिश्र उन युवा आलोचकों में से हैं जो नये विमर्श और मौलिक चिन्तन के लिए जाने जाते हैं। इनसे सहमति या असहमति बहुत मायने नहीं रखती, प्रमुख विषय इनकी नव्य पक्षधरता है। ये बात बताने में मुझे संकोच नहीं कि इस दूसरे अंक में 'हिन्दी ग़ज़लधारा' नाम से कॉलम निर्धारित करवाने का श्रेय श्रीधर मिश्र को ही जाता है। इनके द्वारा दिये गये तर्कों ने मुझे विवश किया कि ग़ज़ल के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार की विचारधारा पर भी विचार किया जाना चाहिए। श्रीधर मिश्र के विभिन्न लेख लगभग सभी स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

यहाँ प्रस्तुत लेख समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल के सम्पूर्ण स्वरूप की सरसरी तौर पर पड़ताल करता है। विनय मिश्र हिन्दी-ग़ज़ल के प्रतिबद्ध रचनाकारों में से एक हैं। अभी कुछ दिन पूर्व इनका एक ग़ज़ल-संग्रह 'सच और है' नाम से प्रकाशित हुआ, जो हिन्दी-ग़ज़ल के विकास-क्रम में महत्त्वपूर्ण अवदान माना जा रहा है। विनय मिश्र के बहाने से हिन्दी-ग़ज़ल के कुछ ही तत्त्वों का विवेचन-विश्लेषण यहाँ हुआ है। यद्यपि कि कुछ लोग हिन्दी-ग़ज़ल जैसी किसी भी विधा से या इस प्रकार की किसी साहित्य-धारा से आज भी इन्कार करते हैं, लेकिन लिखित विरोध शायद ही किसी ने किया हो। लिखित पक्ष का विपक्ष भी लिखित होना चाहिए। हिन्दी-ग़ज़ल के सम्बन्ध में मैं ख़ुद भी कई मौलिक विचार रखता हूँ- कुछ पक्ष में, कुछ विपक्ष में। श्रीधर मिश्र का ये लेख निश्चित रूप से विनय मिश्र और हिन्दी-ग़ज़ल से जुड़े कई आयामों पर सार्थक बहस का प्रारम्भ करता है।

श्रीधर मिश्र

प्रसंग हिन्दी-ग़ज़ल का, सन्दर्भ विनय मिश्र का

आज ये कहने और समझने में किसी संकोच या झिझक की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है कि उर्दू-ग़ज़ल और हिन्दी-ग़ज़ल के बीच एक मुकम्मल सीमा-रेखा खींचने का प्रयास अब काफ़ी हद तक निर्णायक दौर में है। उर्दू-भाषा या हिन्दी-उर्दू की साझी विरासत यानी कि हिन्दुस्तानी भाषा में रची गयी ग़ज़लों के अपने अलग महत्त्व और एक वृहत्तर फलक तथा उसकी एप्रोच के बावजूद हिन्दी-ग़ज़ल अपने लिए नयी भाषाई ज़मीन, शिल्प व कथ्य-विधान को लेकर निरन्तर बेचैन रही है। उर्दू-ग़ज़ल एवं हिन्दी-ग़ज़ल को भावुकता के आधार पर एक मानने की ज़िद पर अड़े रहने से बेह्तर उनकी प्रवृत्तियों व उत्पत्तियों को सामने रखकर सोचने-समझने की ज़रूरत है।

उर्दू-हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'ग़ज़ल' शब्द का अर्थ प्रेमिका से वार्तालाप है, जो अवैध प्रेम की परकीया नायिका से वार्तालाप का पर्याय है। उर्दू में ग़ज़ल फ़ार्सी से आयी और हिन्दी में उर्दू से। ये ग़ज़ल के प्रभाव का चमत्कार ही माना जायेगा कि उसने भारतीय जनमानस को इस क़दर सम्मोहित किया कि जो कुछ इस जनमानस की अनुभूतियों में नहीं था या कि ये कहें कि सर्वथा अपरिचित था, उससे भी सम्मोहित होता चला गया। मौलाना हुसैन आज़ाद कहते हैं— ''आश्चर्य ही है कि उसने इतनी भावभंगी और रूप-लावण्य दिखाया कि हिन्दी-भाषा के ख़यालात जो इस देश की परिस्थिति के थे, उन्हें मिटा दिया।'' जिसके कारण, विशेष व सर्वसाधारण सभी लोग, पपीहे और कोयल की आवाज़ की मिठास और चम्पा-चमेली की ख़ुश्बू को भूल गये तथा बुल्बुल और नर्गिस, जिसे कभी देखा तक न था, की चहक और सौन्दर्य पर रीझते गये। उन्हें भीम और अर्जुन की वीरता में नहीं, रुस्तम और सोहराब की वीरता में अधिक आकर्षण मिला। सीता-सावित्री, नल-दमयन्ती के प्रेम में नहीं, लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रहाद आदि में रुचि बढ़ी। गुल-ओ-बुल्बुल की रंगीन कहानी, शमा-परवाना का रहस्यमय प्रेम, प्रेमिका का सौन्दर्य, उसका ज़ुल्मो-सितम, बेवफ़ाई, आशिक़ की प्रशंसा, पेचोख़म, नोके-मिज़्गाँ, नर्गिसी आँखों की ख़ुमारी, संगमरमरी जिस्म, शराब, मयख़ाना के ज़िक्र को हर ग़ज़लकार ने अपने अन्दाज़े-बयाँ और नयेपन से प्रस्तुत किया। नचिकेता कहते हैं— ''विषयवस्तु या वर्ण्य विषय स्थिर रहा, परन्तु उसे नये व टटके तरह से कहने के शऊर ने लगातार उसमें दिलचस्पी बनाये रखी।''

हिन्दी-ग़ज़ल के सन्दर्भ में विद्यानिवास मिश्र ने एक बड़ा प्रश्न खड़ा किया कि— ''भवानी प्रसाद मिश्र और गिरिजा कुमार माथुर के 'बैलेड' भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति के साथ समरस ही हैं, परन्तु ग़ज़ल और रुबाई लगता है किसी भी तरह हिन्दी में नहीं फब सकते। इसका कारण

ये है कि दोनों रूप अपनी सीमा तक माँजे जा चुके हैं। इनको नया संस्कार देना अब कठिन ही नहीं, असम्भव है''। इसी सन्दर्भ में नामवर सिंह की घोषणा द्रष्टव्य है कि— ''ये भी एक विडम्बना ही है कि जब स्वयं उर्दू के संवेदनशील कवि हिन्दी के दोहा और गीत को उर्दू में लाने का यत्न कर रहे हैं, उस समय हिन्दी के गीतकार उर्दू का उच्छिष्ट ग्रहण करने की होड़ लगाये हुए हैं।''

हिन्दी-ग़ज़ल को लेकर ये विभ्रम की स्थिति लगातार बनी रही और अभी भी कुछ लोग इससे उबर नहीं पा रहे हैं, जबकि हिन्दी-ग़ज़ल समकालीन युग में पूरी प्रासंगिकता व टटकेपन के साथ अपने समय के सच से मुख़ातिब है तथा हिन्दी-ग़ज़ल को लेकर फ़तवे जारी करनेवाले लोग भी अब दबी ज़बान से ही सही, इसके महत्त्व व बढ़ती लोकप्रियता के वृहत्तर परिक्षेत्र के सन्दर्भ में सकारात्मक सम्मतियाँ देने लगे हैं। हिन्दी-ग़ज़ल दुष्यन्त कुमार से प्रारम्भ होती है या 1975 में उनके 'साये में धूप' से पहले 1974 में भवानीप्रसाद मिश्र के 'चौखटों के पार' से शुरू होती है या कि भारतेन्दु, हरिऔध, निराला, शमशेर या त्रिलोचन से; ये एक अलग विमर्श का विषय है। आज महत्त्वपूर्ण ये है कि उर्दू या हिन्दी-ग़ज़ल की सीमा-रेखा उचित है या अनुचित। शिवशंकर मिश्र कहते हैं— ''हिन्दी में ग़ज़ल का जन्म न तो दरबार में हुआ, न कोठे पर, न कविताई की आज़माइश में, न मौज-मस्ती में। इसका जन्म जनता के बीच, जनता के दुख-दर्द, जनता के संघर्ष में जनता की ओर से विरोध और विद्रोह में हुआ है। जवाहर लाल नेहरू से इन्दिरा गाँधी और निराला से दुष्यन्त तक।'' या इसे इस तरह कहें कि उर्दू या हिन्दी-ग़ज़ल की उत्पत्ति के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आधार और कारण एक दूसरे से भिन्न रहे हैं। हिन्दी-ग़ज़ल के विधिवत् स्थापत्य का श्रेय जिस दुष्यन्त कुमार को दिया जाता है, वस्तुत: वो भारतीय लोकतंत्र के अधिनायकवादी चरित्र के कालखण्ड का दुरूह समय था। उस समय के सच से टकराने व संकेतों में अपने समय की शिनाख़्त करने के क्रम में हिन्दी-ग़ज़ल एक अग्नि-परीक्षा से गुज़री है और फिर उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा। हिन्दी-ग़ज़लकारों का दायित्व है कि वे भारत के जातीय मिथकों, प्रतीकों, मुहावरों और विश्वासों को पुन: प्रतिष्ठित करें। अपनी समकालीनता के सन्दर्भ में अपनी संस्कृति और परम्पराओं का पुनर्पाठ करें, ये आश्वस्तपरक है कि आज की समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल इस उद्देश्य को लेकर चल रही है। इस पर सभी सहमत होंगे कि ग़ज़ल को जनोन्मुखी भावना का स्वर व प्रतिरोध का तेवर उसके हिन्दी-ग़ज़ल के रूप में आने पर ही मिला। ग़ज़ल आज की सर्वाधिक लोकप्रिय छान्दस विधा है। वो हिन्दी ही नहीं, कई भाषाओं में लिखी जा रही है तथा उन भाषाओं के संस्कार में रच-बसकर लिखी जा रही है फिर मात्र हिन्दी-ग़ज़ल को लेकर ये आवेश व विभ्रम क्यूँ ?, हिन्दी-ग़ज़लों को समझने, उसके तेवर और ताप से टकराने की जगह आज की समीक्षा उसे परिभाषित करने में अधिक हल्कान हुई जा रही है। 'अनभै साँचा' के जनवरी-मार्च 2013 के अंक में विशेष सम्पादक के रूप में ज्ञानप्रकाश 'विवेक' ने भी हिन्दी-ग़ज़ल की एक परिभाषा गढ़ी है— ''हिन्दी-ग़ज़ल की सरल-सी व्याख्या है। हिन्दी-ग़ज़ल यानी देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली ग़ज़लें।'' अर्थात् आज की उर्दू-लिपि की दुरूहता के मद्दे-नज़र ग़ज़ल प्रकाशित करने का नया चलन शुरू हुआ है। दायें पृष्ठ पर उर्दू-ग़ज़ल छपती है और बायें पृष्ठ उसे देवनागरी लिपि में छाप दिया जाता है। ज्ञानप्रकाश 'विवेक' की मानें तो वो एक ही ग़ज़ल दायें पृष्ठ पर उर्दू-ग़ज़ल है और बायें पृष्ठ पर हिन्दी-ग़ज़ल। अगर अगले पृष्ठ पर उसे रोमन में छाप दिया जाय तो क्या उसे अँग्रेज़ी ग़ज़ल कहा जायेगा। इस पर उनकी परिभाषा मौन है। कोई लिपिमात्र ही भाषा नहीं होती। लिपि एक प्रतीक होती है। किसी भाषा व उसके शब्दों के पीछे एक लम्बी सांस्कृतिक विरासत होती है, परम्पराएँ होती हैं, उसके मुहाविरे होते हैं। एडवर्ड सईद के शब्दों में— ''एक संस्कृति के अर्थों को दूसरी संस्कृति पर थोपा नहीं जा सकता। एक भाषा और संस्कृति में उसकी गूढ़ व वास्तविक चीज़ों को धारण और अभिव्यक्त करने की पूरी क्षमता होती है।'' हर भाषा का अपना

अलग संस्कार व समाज होता है।

इस बीच समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल के सशक्त हस्ताक्षर विनय मिश्र का ग़ज़ल-संग्रह 'सच और है' पढ़ने को मिला। वस्तुत: ये समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल की विषय-वस्तु, उसकी भाषाई संरचना, हिन्दी के जातीय मिथकों, प्रतीकों व मुहावरों में अपने समय के सच से जूझने का दस्तावेज़-सा है। इसे केन्द्र में रखकर हिन्दी-ग़ज़ल के मूल स्वर तक पहुँचना सरल होगा।

विनय मिश्र उन बिरले रचनाकारों में हैं जिन्हें लोकप्रियता पहले मिलती है और उनका संकलन बाद में आता है। आज के समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल के परिदृश्य में विनय मिश्र का नाम एक प्रतिनिधि ग़ज़ल-कवि के रूप में सुप्रसिद्ध है। लगभग सभी महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं ने विनय मिश्र की ग़ज़लों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। विनय मिश्र अपनी संस्कृति, परम्परा से पूर्णत: परिचित हैं तथा उसी से अस्थि-मज्जा लेकर अपने समय के सच से टकराते हैं। यही उनकी विश्वसनीयता है। ग़ज़ल-संग्रह में हालाँकि जीवन के प्रत्येक परिक्षेत्र का संवदेनात्मक आकलन-परिकलन किया गया है, परन्तु आज की राजनीति व उसके चरित्र का पर्दाफ़ाश करने का आग्रह बार-बार झलकता है। बहुतायत कवि अपने कविता-कैनवस में राजनीति को वर्ण्य-विषय के रूप में लेने से कतराते रहे हैं। आज भी गम्भीर साहित्य-लेखन की ये प्रचलित धारणा है कि राजनीति एक ऐसा इलाक़ा है कि जिसमें उसे कुछ करने की जगह नहीं है। विचारधारा को लेकर जो तथाकथित ध्रुवीकरण-सा लेखक-समाज में हुआ कि साहित्य विचारधारा के उपनिवेश के रूप में स्वीकार किया जाने लगा तथा राजनीति उसके लिए अछूत-सी हो गयी। मिलान कुन्देरा के एक पद का प्रयोग करें जो साहित्य की 'रेडिकल स्वयात्तता' का है, जिसमें साहित्य और राजनीति, साहित्य और समाज परावलम्बी तो हैं पर आत्मनिष्ठ भी, वे सभी समान मूल्य-विस्तार से जाँचे-परखे जा सकते हैं और उनके बीच कोई वर्ण-व्यवस्था नहीं है। इस 'रेडिकल स्वायत्तता' के रहते साहित्य न तो राजनीति से परहेज़ कर सकता है और न ही जीवन-विमुख हो सकता है। आज का समय चतुर्दिक राजनीतिक छल-प्रपंचों से संचालित है। अब बाज़ार, मठ, सामाजिक घटक तक राजनीति करने लगे हैं। इस पूरे षड्यंत्र की विनय मिश्र ने सतर्क दृष्टि से पड़ताल की है तथा अपनी ग़ज़लों को रेडिकल स्वायत्तता दी है। इन्होंने उन तमाम इलाक़ों तक अपनी ग़ज़ल-परिधि का विस्तार किया है जिन्हें वर्जित क्षेत्र मानकर उनके समकालीन ग़ज़ल-कवियों ने परहेज़ किया है। ये सच है कि दुष्यन्त कुमार ने हिन्दी-ग़ज़ल-प्रारूप में अपने समय के सच की शिनाख़्त की, परन्तु ये भी उतना ही सच है कि विनय मिश्र के समय का सच दुष्यन्त के समय से कहीं अधिक जटिल और निर्मम हुआ है और विनय मिश्र का काम उन औज़ारों से नहीं चल सकता। आज समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल एक लम्बी व समृद्ध यात्रा तय कर उस मक़ाम पर है कि वो अपना मुहाविरा ख़ुद बना रही है और विनय मिश्र इसी समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल का प्रतिनिधित्व करते हैं।

विनय मिश्र का बिम्ब-विधान सुपरिचित व ग्राह्य बिम्ब-विधान है। उनकी प्रतिबद्धता उनके उन सरोकारों को लेकर है जिसके लिए वे काव्य-परिदृश्य खड़ा करते हैं। विनय मिश्र का काव्य अनलंकृत काव्य-साधना का स्वरूप है जिसमें चमत्कार उत्पन्न करने, शब्दों से खेलने, विशेष कला-कौशल साधने की अनावश्यक चेष्टा नहीं है। उनके बिम्ब अर्थगर्भी हैं, परन्तु अनावश्यक अर्थ-भटकाव की दुनिया में न ले जाकर सार्थक उद्देश्य की ओर संकेत देते हैं। तमाम कलावादी आन्दोलनों के पतन के बाद भी इतना तो तय है कि कविता एक कला है तथा एक सन्तुलित कला-कौशल उसे विशिष्ट बनाता है। प्रथमत: और अन्तत: कविता या ग़ज़ल शब्दों का एक ख़ास संयोजन है तथा ग़ज़ल के शिल्प में कथ्य-भंगिमा, अन्दाज़े-बयाँ का विशेष महत्त्व है। विनय मिश्र एक प्रतिबद्ध सोद्देश्य रचनाकार हैं। विनय मिश्र के पास एक सधी हुई भाषा है।

प्रत्येक कवि को अपने मुहावरे की तलाश होती है। जब कोई कवि अपना मुहावरा पा लेता

है तो उसमें असीम कालजयी रचनाओं की सम्भावना के बीज अंकुरित होने लगते हैं। ये आश्वस्तिपरक है कि विनय मिश्र अपने मुहावरे के काफ़ी सन्निकट हैं। अत: उनमें आगे एक प्रतिनिधि कवि की सम्भावना दृष्टिगोचर होती है। जैसे-जैसे उनका जीवनानुभव बढ़ेगा उनके ग़ज़ल-कवि के व्यक्तित्व में छिपा कालजयी रचनाकार अपना आकार लेता जायेगा। कवि-कर्म अत्यन्त क्लिष्ट व जटिल कर्म है। कला का संयम और सोद्देश्य कलात्मकता को न जानने पर प्राय: लोग अपने अन्दर की अराजकता के शिकार हो जाते हैं। प्रत्येक रचना एक ही ज़मीन या एक ही विशिष्टता से नहीं रची जा सकती। हर रचना की ज़मीन अलग-अलग होती है तथा रचनाकार को अपने अनुभव-दीप्त क़दमों से रचना की ज़मीन तक जाना होता है। जैसी रचना की ज़मीन होगी भाषा, बिम्ब-विधान व कथ्य-भंगिमा भी उसी स्तर की होगी। विनय मिश्र में ये काव्य-कौशल प्राय: उनकी सभी ग़ज़लों में दृष्टिगोचर होता है।

विनय मिश्र की चिन्तन-परिधि में बाज़ार का पसरता प्रारूप, शोषण, भाषावाद, क्षेत्रवाद, राजनैतिक व सांस्कृतिक मूल्य-क्षरण, विभ्रम, एकाकीपन, भय, कुण्ठा, निराशा, असुरक्षा, छीज रही मानवीय संवेदना है तथा वे एक बेह्तर परिदृश्य के आग्रही कवि हैं। ग़ज़ल-शिल्प की अपनी एक सीमा होती है। उसमें कथा-चरित्र की गुंजाइश नहीं होती, विनय मिश्र को इस सीमा का अन्दाज़ा है तथा वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसके लिए अपने कौशल से ज़मीन तलाश लेते हैं। इनकी ग़ज़लें इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें सामाजिक सृजनशीलता है, जो ऐतिहासिक नवीनता की परिधि तक है। विनय मिश्र अपनी ग़ज़लों में एक बेह्तर दुनिया, एक बेह्तर समाज के लिए जूझते दिखते हैं। वे किसी भी क़ीमत पर आज के समय को आदमीयत के अनुकूल करना चाहते हैं।

मुक्तिबोध ने कहा है— ''*बहुत-बहुत ज़्यादा लिया/ दिया बहुत-बहुत कम/मर गया देश/ अरे जीवित रह गये हम।*'' विनय ख़ुद की क़ीमत पर देश को या कि समूची मानवता को जिलाने के पक्षधर हैं। अत: विनय की ग़ज़लों का मूल स्वर प्रतिरोध का स्वर है तथा ये ग़ज़लें दुर्दम जिजीविषा व मध्यवर्गीयकर्त्ता तथा सर्वहारा वर्ग के संघर्षों का आख्यान हैं। वे कहते हैं—

बम धमाकों शोर-गुल चीख़ों के मंज़र में
तिनका-तिनका जोड़कर हिम्मत जुटाता हूँ

ये सर्वहारा-वर्ग व मध्यवर्गीयकर्त्ता का दर्द है जो एक साथ आतंकवाद व बाज़ारवाद के आतंक से जूझता हुआ, अपनी दुर्दम जिजीविषा के द्वारा अपनी गृहस्थी और संवेदना का तिनका-तिनका जोड़कर इस विषम व निर्मम समय में जीवन-पथ की तलाश करता है। ये विनय मिश्र की अनलंकृत काव्य-साधना का विरल रूप है जिसमें अपने समय का सच है और इसे अभिव्यक्ति देने के लिए वे कोई तिलिस्म नहीं गढ़ते, लेकिन वे अपनी ज़िम्मेदारियाँ यहीं तक तय नहीं करते—

हमारा काम है बाज़ार में भी आदमी गढ़ना
तुम्हारा काम घर-आँगन को भी बाज़ार करना है

विनय अपनी परम्परा से परिचित हैं और वे जानते हैं कि कविता कभी राजधानी के पक्ष में नहीं रही और हमेशा आम आदमी के पक्ष में खड़ी रही है। कृष्णमोहन झा की कविता है— *'धरती के किसी कोने में/ जब भी गुलेल पर पकड़ मज़्बूत होती है/ बहेलिये की/ कविता की देह से ख़ून चूने लगता है।'*

कविता ही संवेदना के धरातल पर मानवता के लिए सुरक्षित ज़मीन तलाशती है। विनय मिश्र आज के बाज़ार के चरित्र से सर्वथा परिचित हैं। दुनिया भर के देशों की सरहदों को अपनी ठोकर से गिराकर बाज़ार ने पहले भूमण्डलीकरण का स्वप्नलोक दिखाया और अब उसने समूचे विश्व का भूमण्डलीकरण कर दिया है। आज का सबसे बड़ा संकट पूँजीवाद, अधिनायकवाद की कोख से जन्मे बाज़ारवाद का आतंकवाद है जो आज नियमों, क़ानूनों, संविधान व मौलिक अधिकारों

पर अपना ख़ूनी पंजा गड़ाकर आदमी को एक वस्तु के रूप में बदलने पर आमादा है। उसके लिए पूँजी ही ब्रह्म है और मुनाफ़ा ही मोक्ष है एवं उतना ही सच ये भी है कि व्यवस्था के सारे सामाजिक व राजनैतिक संस्थान हताश मुद्रा में इस बाज़ारवाद के समक्ष आत्म–समर्पण करते जा रहे हैं, परन्तु पूँजीवादी अधिनायकवाद और अधिक तीव्र गति से घर–आँगन में मण्डी की सम्भावनाएँ तलाश रहा है। आश्वस्तिपरक ये है कि विश्व–कविता बाज़ार के इस रवैये के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर मुखर कर चुकी है। विनय मिश्र उसी विश्व–कविता के एक प्रतिनिधि–कवि के रूप में बड़ी सधी भाषा में बाज़ार के चरित्र का पर्दाफ़ाश करने में सार्थक हस्तक्षेप कर रहे हैं तथा वे आश्वस्त करते हैं कि आज भी कविता ही एक मात्र वो औज़ार है जिसमें बाज़ार में भी आदमी गढ़ने या आदमी को बचाने की ताक़त है। उसकी अँगुली पकड़कर इस मण्डी के दलदल से सुरक्षित पार हुआ जा सकता है।

लाख 'इण्डिया शाइनिंग' और अन्धाधुन्ध उद्योगीकरण के बाद आज भी भारत कृषि–प्रधान देश है तथा यहाँ की जनसंख्या का एक बड़ा वर्ग, यहाँ की अर्थव्यवस्था आज भी कृषि व कृषि उत्पादों पर निर्भर है। फिर भी जब कृषि–प्रधान राष्ट्र के प्रधानमंत्री बाज़ार के दबाव में घोषणा करते हैं कि किसानों को अपनी खेती कम कर देना चाहिए तब विनय मिश्र के इस शेर—

उड़ी पुरखों की वो पगड़ी हवा में ख़ानदानी भी
था ख़ाली पेट पहले ही, गयी खेती-किसानी भी

का अर्थ स्वत: ही समझ में आने लगता है। कविता मात्र यथास्थिति का बयान नहीं है, वरन् एक अच्छी व विशिष्ट रचना वो होती है जिसमें घोर नैराश्य के क्षणों में भी आशालोक होता है।

इस पूरे परिदृश्य में कुछ जन–आन्दोलनों की शुरूआत तो हुई, परन्तु उनके औंधे मुँह गिरने से ये प्रतीत होने लगा है कि अब लोग यथास्थितिवादी होने लगे हैं। किसी युग का वो सबसे ख़तरनाक कालखण्ड होता है जब लोग सच से टकराना तो दूर सच बोलने से भी कतराने लगते हैं। हम एक ऐसे असहिष्णु समय में जीने के लिए अभिशप्त हैं जिसमें सच बोलना एक अपराध–सा होने लगा है। साहित्य समाज का दर्पण हो न हो, कविता अपने समय का दस्तावेज़ ज़रूर होती है। उसमें अपने समय का सांस्कृतिक इतिहास होता है और यही सूत्र पकड़कर साहित्य के युगों का काल–निर्धारण तक किया जा सकता है। विनय मिश्र के शेर जब कभी आनेवाली सदियों में पढ़े जायेंगे तो अगली पीढ़ी जान सकेगी कि उसका अतीत कितना निर्मम रहा है और उस मरे समय में विनय मिश्र जैसे संवेदनशील रचनाकार क्या लिखकर जीवित रहे हैं।

विनय मिश्र अपने लोक से परिचित हैं तथा लोक–कथा का हवाला देकर मुहावरेदार भाषा में बाज़ार के चरित्रगत षड्यंत्र का पर्दाफ़ाश करते हैं। एक पर एक फ्री, पुरस्कार योजनाएँ, डिस्काउण्ट, कभी–कभी बाज़ार 'सेण्टाक्लाज़' का यूनीफ़ार्म पहनकर दानवीर की भूमिका का भी ढोंग करता है। इस 'सेण्टाक्लाज़' के पेट के दाँत के प्रति विनय मिश्र आगाह करते हैं कि बाज़ाररूपी दानव की माया की चकाचौंध में पड़ने पर सब कुछ नीलाम हो जायेगा और अस्तित्व पर भी संकट आ सकता है। ये अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से वस्तुस्थिति को भाँपने का भी कौशल रखते हैं—

हाथ में सोने का कंगन दाँत लेकिन पेट में
एक बूढ़ा बाघ दानी हो गया है, सावधान
इस क़दर नफ़रत थी जिसको ख़ुश्बुओं की बात पर
वो अचानक रातरानी हो गया है, सावधान

यहीं तुलसीदास याद आते हैं—

नवन नीच कै अति दुखदायी। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।।
भयदायक खल की प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी।।

अपने इन शेरों के माध्यम से विनय मिश्र अपनी पूर्वज-परम्परा से जुड़ते हैं तथा अतीत को दृष्टि में रखकर या कि अपनी वृहद प्राचीन परम्पराओं से अनुभव के जीवन-रस का अवगाहन कर अपनी समकालीन चुनौतियों से और वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्व से टकराते हैं। इसे परम्परावादी नहीं, परम्पराबोधी कवि कहते हैं तथा यही परम्पराशोध भी कर पाता है और अपनी परम्पराओं को वर्तमान के लिए अनुकूलित कर पाता है। 'सच और है' में विनय मिश्र ने इसी प्रकार कई शेरों में परम्परा का शोध किया है। अत: वे समकालीन कवि तो हैं ही, वे 'निरन्तर वर्तमान' के कवि भी हैं।

जब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबन्दी लग जाती है तब एक चुप्पी का सन्नाटा पसर जाता है और सन्नाटे की कोख में अनहद-नाद पलने लगता है। ये अनहद-नाद ही जब अवाम की समवेत आवाज़ के रूप में प्रतिरोध की आँधी खड़ा करता है तब उसमें तानाशाही के बड़े-बड़े दुर्जेय दुर्ग भी भर-भराकर ढह जाते हैं। अपनी इस क्रान्तिधर्मी शेरगोई को विनय मिश्र अपने कलात्मक संयम के चलते नारे की शक्ल नहीं लेने देते हैं। विनय मिश्र का जीवन-दर्शन मृत्यु का अतिक्रमण करता है। वे कहते हैं— *मौत ही मंज़िल नहीं है, दोस्तो*

ज़िन्दगी आगे भी आख़िरकार है

विश्व के लगभग समस्त दर्शनों में मृत्यु एक पड़ाव, अन्त या मंज़िल के रूप में स्वीकार्य है। भारतीय दर्शन **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'** का प्रतिपादन करता है तथा मृत्यु को परिधान-परिवर्तन का माध्यम मानकर पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या करता है, परन्तु विनय मिश्र सीधे मृत्यु का ही अतिक्रमण कर अपनी मौलिक सैद्धान्तिकी का प्रतिपादन करते हैं। मृत्यु के बाद जब भौतिक देह नष्ट हो जाती है तब व्यक्ति अपने महान् कार्यों की अक्षर-देह के रूप में जीवित है। कालिदास, सूर, तुलसी, मीरा की साहित्य-सम्पदा उनकी अक्षर-देह के रूप में आज भी हमारे साथ ही नहीं है, अपितु हमारा मार्ग-निर्देशन भी करती है। इनका अर्थगर्भी संकेत ये है कि व्यक्ति को जीवन में ऐसा कुछ कर जाना चाहिए कि उसकी अक्षर-देह के रूप में उसका महान् कार्य युगों तक आनेवाली पीढ़ियों का मार्ग-निर्देशन करता रहे।

विस्थापन आज का बड़ा संकट है। समकालीन कहानी में भी आज उसकी पर्याप्त अनुगूँज है। रोज़ी-रोटी की तलाश, महत्त्वाकांक्षा, राजनैतिक व सामाजिक कारणों से समाज का एक बड़ा वर्ग विस्थापन का दर्द झेल रहा है और इस विस्थापन में सबसे अधिक गाँव प्रभावित हुए हैं। अपना गाँव-घर छोड़कर जो लोग कहीं दूर अस्थायी या स्थायी रूप से बसने को बाध्य हैं वे घर लौट नहीं पाते, परन्तु अपनी यादों में उस घर को अन्तिम साँस तक बसाये रहते हैं, अर्थात् वे घर में नहीं, वरन् घर उनमें रहता है। इस विस्थापन के दर्द को विनय मिश्र के समकालीन व अन्य कवियों ने भी कुछ इस तरह व्यक्त किया है—

आ गये जो शह्‌र के धोखे में
रास्ता घर का भूल जाओगे

-सुल्तान अहमद

गुलों में ज्यों चमन की ख़ुश्बुएँ मौजूद रहती हैं
कहीं जाऊँ वतन की ख़ुश्बुएँ मौजूद रहती हैं

-कुँवर बेचैन

बन्द कल को क्या किया मुखिया के खेतों में बेगार
अगले दिन ही एक 'होरी' और बेघर हो गया

-अदम गोण्डवी

भटकता हूँ दर-दर कहाँ अपना घर है
इधर भी, सुना है कि उनकी नज़र है **-त्रिलोचन**

जिस घर से निकलने को 'शलभ' सोच रहे हो
लौटे कोई दिन और तो ताले भी पड़ेंगे

–'शलभ' श्री राम सिंह

आज साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, राजनीति के कुत्सित खेल से ही जन्मे हैं और ज़ह्र फैलाकर उसकी आँच पर रोटी सेंकने का कारोबार जारी है। कुछ शेर देखें—

उधर इस्लाम ख़तरे में, इधर हैं राम ख़त्‌रे में
मगर मैं क्या कहूँ है मेरी सुब्‌हो-शाम ख़त्‌रे में

–नूर मुहम्मद 'नूर'

कभी पेड़ों को भी छुट्‌टी दिया कर
हवा तू भी कभी पैदल चलाकर

–देवेन्द्र आर्य

आप छल-बल के धनी हैं जीतिएगा आप ही
आप से बेह्‌तर मेरी उम्मीदवारी है तो है

–एहतराम इस्लाम

सारा ध्यान ख़ज़ाने पर है
उसका तीर निशाने पर है
अब इस घर के बँटवारे में
झगड़ा बस तहख़ाने पर है

–विज्ञान व्रत

रहनुमाओं की अदा पे फ़िदा है दुनिया
इस बहकती हुई दुनिया को सम्भालो यारो

–दुष्यन्त कुमार

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की राजनीति के छल-प्रपंच के उद्‌घाटन में विनय मिश्र अपने समकालीन व अन्य कवियों के साथ किस साझी संवेदना के साथ खड़े हैं तथा इस सियासी दाँवपेच के विरुद्ध अपना मुखर बयान दर्ज करते हैं—

व्यवस्था के नियम तेरे हैं लेकिन
मुझे वो चाहिए जो मेरा हक़ है

यश मालवीय इसे कुछ इस तरह कहते हैं—

हमें इतिहास से मतलब नहीं है
हमारे वक़्त का भूगोल दे दो

विनय मिश्र आज की राजनीति के अविश्वसनीय आचरण पर प्रश्न-चिह्न टाँकते हैं—

देखो गाल बजाते इनको आती कोई शर्म न लाज
हैं संगीनों के साये में क्या देंगे भय-मुक्त समाज

जब बुलेटप्रूफ़ ग्लास-चेम्बर में देश के प्रधानमंत्री लाल क़िले की प्राचीर से जनता को आश्वस्त करते हैं कि 'भय-मुक्त रहिए' तब विनय मिश्र के इस शेर का अर्थ स्वत: खुलने लगता है। भूली-बिसरी कलंक-कथाओं को धो-पोंछकर उन्हें वर्तमान की पोशाक में सजाने का षड्‌यन्त्र कर सामाजिक समरसता के विरुद्ध जो ताण्डव किया जाता है, विनय मिश्र उस पर सधी टिप्पणी करते हैं—

रसातल से निकाले जा रहे हैं
गड़े मुर्दे उखाड़े जा रहे हैं

इसी तथ्य को कुछ खुलकर जमुनाप्रसाद उपाध्याय कुछ इस प्रकार कहते हैं—

नमाज़ी भी नहीं हैं जो, पुजारी भी नहीं हैं जो
वो मन्दिर और मस्जिद के लिए ग़मगीन रहते हैं
अयोध्या है हमारी और हम सब हैं अयोध्या के
मगर सुर्ख़ी में सिंहल और शहाबुद्दीन रहते हैं

यहाँ जमुनाप्रसाद उपाध्याय मात्र अयोध्या-प्रकरण पर कुठाराघात करते हैं, परन्तु विनय मिश्र के शेर के अर्थात् का फ़लक विस्तीर्ण है।

विवेक-चेतना व कला-चेतना के सन्तुलन के साथ जब कोई कवि अपनी परम्परा से प्राण-ऊर्जा लेकर कवि-कर्म करता है तो उसकी कविता में मौलिकता की विश्वसनीयता तो होती है साथ ही सच्चे अर्थों में वो लोक का कवि होता है। टी. एस. इलियट ने माना है कि कवि को परम्परा का ज्ञान होना चाहिए। 'ट्रेडिशन एण्ड इण्डिविज़ुअल टैलेण्ट' में उन्होंने व्यक्तिगत प्रज्ञा के प्रत्युत परम्परा को अधिक महत्त्व दिया है। विनय मिश्र अपनी परम्परा, संस्कार व अपने समाज की जीवन-शैली व उसकी उलझनों व सहमतियों से सर्वथा परिचित हैं। अत: वे एक साथ तमाम परिस्थितियों का गहराई से आकलन-परिकलन कर पाते हैं कि आज के तथाकथित उत्तर-आधुनिक युग में ज़िन्दगी के पाँव कहाँ-कहाँ बोझिल हो रहे हैं और कहाँ एक बेह्तर दुनिया का नक़्शा छीज रहा है। जैसे—

संस्कार : *यूँ तो मेरे पास भी है आप जैसी ही ज़बान*
कुछ-न-कुछ तो थी वजह जो मैं सँभलकर रह गया

मध्यवर्गीय गृहस्थ-जीवन : *आप जो समझें मगर सच है यही*
थोड़ा सच्चा, थोड़ा दुनियादार हूँ

नवपूँजीवादी साम्राज्यवाद का चरित्र :
जितना चाहो झुक जायेंगे ये लोग लचीले हैं
ये वो हैं जो अपने घर में बाज़ार लगाते हैं

दुर्दम जिजीविषा : *हालात दहकते हैं लेकिन हिम्मत भी तो देखो*
इस आग पे धरके जीवन की हम धार बनाते हैं

रूमानियत : *आपकी काँपती हथेली पर*
लाइए अपना मैं पता लिख दूँ

मानवीय संवेदना का क्षरण :
कहीं से धार पानी की निकल सकती तो है लेकिन
कहाँ तक ज़िन्दगी में लोग पत्थर हैं किसे मालूम

बाज़ार बनाम आदमी : *दाम चीज़ों के उछलकर आस्मानों पर चढ़े*
भाव लेकिन ज़िन्दगी का हर तरफ़ घटता गया

पूँजीवादी अधिनायकवाद : *डालकर दाने चन्द ख़ुशियों के*
है बिछाया ये जाल फिर किसने

विनय मिश्र की कथ्य-भंगिमा अलग है, परन्तु दु:ख साझा है और यही प्रवृत्ति उन्हें समकालीन परिदृश्य में कविता रच रहे तमाम कवियों का सहोदर बनाती है तथा यही काव्य-प्रवृत्ति उनके समकालीन होने की गवाही देती है। कथ्य, बिम्ब-विधान, प्रतीक, शैली के साथ-साथ भाषा भी कवि के साथ गवाही में खड़ी होती है और विनय मिश्र की भाषा उनके पक्ष में हलफ़िया बयान लेकर खड़ी है।

आज लोकतंत्र का चौथा पाया मीडिया अराजकता का शिकार हो चला है। अब वो ख़बर

ढूँढ़ता-बीनता नहीं, वरन् ख़बर पैदा कर रहा है, गढ़ रहा है। इस पर विनय मिश्र कहते हैं—

सबसे आगे, सबसे पहले तेज़ ख़बर देनेवाले
कितना पीछे छूट गया है देश तुम्हें मालूम नहीं

सोचने पर पाबन्दी लगाने और मशीनी आदमी ईजाद करने के लिए लार्ड मैकाले ने यहाँ जिस शिक्षा-पद्धति को विकसित करने का षड्यंत्र किया था, आज़ादी के इतने बर्षों बाद भी हालात जस के तस हैं। उत्तर-आधुनिक युग के इस ख़तरनाक समय में जब कि विचारों के अन्त का फ़त्वा जारी हो रहा है, बाज़ारू सभ्यता व नागर अपसंस्कृति हावी है। विनय मिश्र इस सांस्कृतिक विचलन के विरुद्ध स्वर मुखर करते हैं— *आदमी जिस सफ़र में शामिल है*
लौट आये तो ज़्यादा अच्छा है

विनय मिश्र अपनी ग़ज़ल-यात्रा में कभी भारतीय दर्शन के निकट हैं, कभी मार्क्सवाद के प्रभाव में, तो कहीं गाँधी-दर्शन के सन्निकट और कहीं सबसे दूर अपनी स्वत: की विचार-सरणि से जूझते हुए एक मौलिक रचनाकार हैं। वो रचनाकार जो अपने समय के सच से टकराने के क्रम में तमाम विचारधाराओं से टकराता भी है तथा तमाम विचारधाराओं का समर्थन या खण्डन कर रहा होता है। उसे इस खण्डन-मण्डन से कोई स्वार्थगत सरोकार नहीं, यही उसकी मौलिकता भी होती है और उसकी विश्वसनीयता व ताक़त भी। विनय मिश्र की ग़ज़लों में उनके समय की तस्वीर साफ़-साफ़ देखी जा सकती है और उसकी आवाज़ स्पष्ट सुनी जा सकती है। इनके यहाँ मध्यवर्गीय गृहस्थ, सर्वहारा वर्ग सहित समूची मानवता के लिए तड़प की हद तक आत्मीयता है जिसे वे क्षतिग्रस्त नहीं होने देना चाहते। विनय मिश्र की ग़ज़लों में इस कठिन समय से जूझ रहे सरल आदमी की ज़िम्मेदारियों, विवशताओं व संघर्ष का बिम्ब बार-बार उभरता है। विनय मिश्र की काव्य-प्रवृत्ति में प्रेम जीवन-तत्त्व के रूप में आता है, कदाचित् इसीलिए रूमानी ग़ज़लों का प्राय: अभाव है जो कुछ कला-प्रेमियों को खटक सकता है, परन्तु विनय मिश्र का मानवता व जीवन-मूल्य के प्रति प्रेम है, एक बेह्तर दुनिया के प्रति प्रेम है। वे जहाँ भी इनमें क्षरण पाते हैं उनकी ग़ज़लों में प्रतिरोध का स्वर मुखर हो जाता है, क्योंकि किसी विचारक ने कहा है कि जो प्रेम नहीं करता वो क्रान्ति भी नहीं कर सकता। उपर्युक्त जितने वैचारिक और भावनात्मक आयामों की बातें मैंने कही हैं उन सब के उदाहरण विनय मिश्र की ग़ज़ल में मौजूद हैं, जिन्हें यहाँ स्थान-संकोच के कारण दे पाना सम्भव नहीं है।

ये सही है कि इधर हिन्दी-ग़ज़लों की बाढ़-सी आ गयी है, ग़ज़लें बड़ी मात्रा में लिखी जा रही हैं, इसे सुखद स्थिति कहा जा सकता है। मानकीकरण की हड़बड़ी में दोहरे हो रहे लोगों को धैर्य रखना चाहिए। जब ये बाढ़ उतरेगी, तो किनारे बचे सीपी व मोती चुनकर वे ये काम कर लेंगे। ग़ज़ल वाचिक परम्परा की विधा है, क्योंकि ग़ज़ल लिखी या पढ़ी नहीं, वरन् कही जाती है और सुनी जाती है। अत: इसमें कथ्य-भंगिमा या अन्दाज़े-बयाँ का विशेष महत्त्व है। फ़ैज़, मीर, ग़ालिब, इक़्बाल के कई शेर अपने अन्दाज़े-बयाँ के चलते ही आज इतने वर्षों के बाद भी तरोताज़ा हैं। जैसे-जैसे विनय मिश्र काव्यानुभव बढ़ेगा, आशा की जानी चाहिए कि उनका अन्दाज़े-बयाँ बदलेगा तथा वाग्विदग्धता की धार और पैनी होगी जो उनकी ग़ज़लों को और विशिष्ट बनायेगी।

आसिफ़ रोहतासवी
हिन्दी-विभागाध्यक्ष
पटना साइंस कॉलेज, अशोक राजपथ
पटना-800005, बिहार
मो.- 09334366001

आसिफ़ रोहतासवी का मूल नाम डॉ.बद्रीनारायण सिंह है। मूलतः ये बिहार प्रान्त के कैमूर ज़िले के रहनेवाले हैं, जिसे पहले शाहाबाद के नाम से भी जाना जाता था। इस समय आप पटना साइंस कॉलेज के हिन्दी-विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। 'चटखती दीवारें' (कविता-संग्रह, 1990) 'हिन्दी-ग़ज़ल : शिल्प एवं कला' (समीक्षाकृति, 2007) तथा भोजपुरी ग़ज़लों के संग्रह- 'महक माटी के' (2006), 'आसमान बाकी बा' (2008), 'रेत के सफर' (2010) एवं 'हारल त नइखी' (2012) इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। भोजपुरी ग़ज़लों पर आधारित 'परास' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी विगत कुछ वर्षों से कर रहे हैं।

यहाँ प्रस्तुत इनका लेख भोजपुरी-ग़ज़ल के समग्र स्वरूप को उद्घाटित करता है। ये एक परिचयात्मक लेख है जिसके माध्यम से हम भोजपुरी-ग़ज़ल की परम्परा को समझ सकते हैं तथा भविष्य में इसकी सम्भावनाओं का भी आकलन कर सकते हैं। भोजपुरी में ग़ज़ल के व्यापक और व्यवस्थित अध्ययन से परिचित कराता ये लेख भोजपुरी की सस्ती लोकप्रियता के जाल-जंजाल का बरअक्स पेश करता है।

डॉ. आसिफ़ रोहतासवी

भोजपुरी ग़ज़ल का एक जायज़ा

मात्र सौ-सवा सौ वर्षों के अपने सफ़र में भोजपुरी-गज़ल ने बहुत ज़्यादा उतार-चढ़ाव नहीं देखा है। 'भारतेन्दु मण्डली' के सदस्य तेग़ अली 'तेग़' की भोजपुरी-ग़ज़लों का प्रथम संग्रह 'बदमाश दर्पण' सन् 1895 ई. में भारत जीवन प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था। मात्र 23 ग़ज़लोंवाले इस संग्रह के प्रकाशक रामकृष्ण वर्मा जी थे। बाद में इसका पुनर्प्रकाशन 'तेग़ अली आ कशिका' नाम से सन् 1964 ई. में श्री रुद्र काशिकेय के संपादन में ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा किया गया। विशुद्ध 'काशिका भोजपुरी' में रचित ये ग़ज़लें लखनऊ की 'ख़ारिजी शायरी' की परम्परा में हैं, जिन पर इश्क़े-मजाज़ी का गाढ़ा रंग है। रुद्र काशिकेय के अनुसार इन ग़ज़लों में 'अम्रदपरस्ती' का चित्रण उर्दू-शायरी के प्रभाव के कारण है। 'ख़ारिजी शायरी' को कुरुचिपूर्ण बनाने में 'जुरअत' का हाथ सबसे बड़ा है। 'तेग़' की रचनाओं पर 'जुरअत' का ये रंगो-असर साफ़ देखा जा सकता है। उपनाम, रूपक आदि भी उर्दू की परम्परा से ही ग्रहण किये गये हैं।

आधुनिक भोजपुरी-ग़ज़ल के पुरोधा श्री जगन्नाथ ने 'भोजपुरी गजल के विकास-यात्रा' (पुष्कर प्रकाशन, पटना, सन् 1997) में भोजपुरी-ग़ज़ल के इतिहास का काल-निर्धारण इस प्रकार किया है—

क. आरम्भ काल : सन् 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से 1900 तक

ख. मध्य-काल : सन् 1901 से सन् 1960 तक

ग. आधुनिक काल : प्रथम चरण सन् 1961 से सन् 1975 ई. तक

द्वितीय चरण सन् 1976 से अद्यावधि

ये काल-विभाजन प्रवृत्तिगत नहीं है, सम्भवत: इसीलिए कोई नामकरण नहीं किया गया है, यद्यपि विवेचन के क्रम में सभी कालों की ग़ज़लों की प्रवृतिगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। नामकरण नहीं करने का कारण भी स्पष्ट है। उपर्युक्त आरम्भ और मध्यकाल की ग़ज़लें केवल किसी एक प्रवृत्ति पर केन्द्रित नहीं रही हैं। फिर भी, प्रवृत्ति के आधार पर 'आरम्भिक काल' को 'सिंगार-काल' कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि इस दौर की ग़ज़लों मे श्रृंगार-रस की प्रधानता है। इस दौर की एकमात्र प्रामाणिक रचना 'बदमाश दर्पण' की ग़ज़लें इस नामकरण का पुख़्ता आधार बनती हैं।

मध्यकालीन ग़ज़ल में कहीं भी विषय-विशेष अथवा रस-विशेष के प्रति कोई आग्रह या प्रतिबद्धता नहीं है। इनमें हल्का हास्य-व्यंग्य, नीति, हितोपदेश तथा आचार-विचार सम्बन्धी सामान्य भाव पाये जाते हैं। अत: इस काल को 'मेरौनी-काल' (मिश्रण-काल) नाम देना उचित होगा।

हाँ, आधुनिक काल और उसमें भी द्वितीय चरण की ग़ज़लें निश्चित रूप से आम जन-जीवन के सरोकार की ग़ज़लें हैं। इनमें वर्तमान जीवन-संघर्ष, सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों के बेबाक चित्र उकेरे गये हैं। राजनीतिक त्रासदी, धर्म-सम्प्रदाय के मुखौटों, आडम्बरों को बेनक़ाब करने की कोशिशें और ऐसे ही मानवीय सरोकार के अन्य अनेक बिन्दुओं-पहलुओं पर पैनी दृष्टि से 'जुझार-काल' (संघर्ष-काल) कहना अपेक्षाकृत ज़्यादा माकूल होगा, क्योंकि उक्त तमाम मुद्दों से तो आज की भोजपुरी ग़ज़ल जी-जान से जूझ रही है, अपने भविष्यत् अस्तित्व के लिए संघर्षरत और चिन्तित है। पुरानी, मध्य तथा वर्तमान पीढ़ियों के बाद आनेवाले कल की ग़ज़ल के लिए सम्भावनाओं से लबरेज़ नये हस्ताक्षरों का अभाव हमारी चिन्ता का विषय है। इस कटु सत्य को ईमानदारी पूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए। अत: विषय-वस्तु और प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से भोजपुरी ग़ज़ल के उक्त काल-खण्डों का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

1. सिंगार काल, 2. मेरौनी-काल, 3. जुझार-काल।

'जुझार-काल' की समय-सीमा सन् 1976 से अद्यतन यानी सन् 1997 के बाद भी आज तक रखी जा सकती है। बाद के इन दस वर्षों में भोजपुरी ग़ज़ल में कथ्य के धरातल पर पैनापन और बढ़ा ही है।

'सिंगार-काल' में एकमात्र तेग़ अली की ही गणना होगी। सन् 1895 में 'बदमाश दर्पण' के बाद लगभग 40-50 बरसों के लम्बे अन्तराल में ग़ज़ल की कोई सक्रियता नहीं दिखती। फिर भी, 'तेग़' की परम्परा पूर्णरूपेण कभी लुप्त नहीं हुई। इस दौरान भोजपुरी में विशुद्ध ग़ज़लें भले ही नहीं कही गयी हों, परन्तु इनकी तर्ज़ पर भोजपुरी जन-जीवन से सम्पृक्त लोकगीत पर्याप्त मात्रा में लिखे और गाये जाते रहे।

'मेरौनीकालीन' ग़ज़लकारों में बेढब बनारसी, गुरु बनारसी (सन् 1964 में तेग़ अली की ग़ज़लों के सम्पादक रुद्र काशिकेय) तथा विश्वनाथप्रसाद 'शैदा' के नाम हैं। ध्यातव्य है कि इनमें से प्रारम्भिक दो तो काशी की मिट्टी से ही हैं। हिन्दी-उपन्यास में मील का पत्थर बन चुके 'बहती गंगा' के रचनाकार ये शिवप्रसाद मिश्र ही हैं जिन्होंने हिन्दी में 'रुद्र काशिकेय' और भोजपुरी में 'गुरु बनारसी' उपनाम से ग़ज़लें कही। 'बेढब' की ग़ज़लों में हास्य-व्यंग्य, गुरु बनारसी में उर्दू की पारम्परिक इश्क़े-मजाज़ी तथा 'शैदा' की ग़ज़लों में हितोपदेश, नीति, आदर्श और आचार-विचार सम्बन्धी भावों का प्राधान्य है। मात्रा की दृष्टि से ख़ूब लिखने के बावजूद इन कवियों के भोजपुरी में कोई स्वतंत्र ग़ज़ल-संकलन नहीं हैं। इनकी ग़ज़लें तत्कालीन दैनिक 'आज' (बनारस), मासिक 'भोजपुरी' (सन् 1952 आरा) एवं 'तरंग' में छपती रहीं। गुरु बनारसी की तो अधिकांश ग़ज़लें 'तरंग' में प्रकाशित हुईं।

'जुझार-काल' (आधुनिक काल) का प्रथम चरण भोजपुरी ग़ज़ल के लिए अत्यन्त शुभ रहा है। इस काल में अनेक चेह्रे लगभग एक साथ दमकने लगे, जिन्होंने भोजपुरी कविता में 'ग़ज़ल' के अस्तित्व पर अमिट मुहर लगा दी। इनमें जगन्नाथ, दिनेश भ्रमर, अर्जुन कुमार सिंह 'अशान्त', महेन्द्र शास्त्री, पाण्डेय कपिल, कुंजबिहारी प्रसाद 'कुंजन', रामेश्वर सिन्हा 'पीयूष', डॉ. अशोक द्विवेदी, गंगाप्रसाद 'अरुण', पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय, चन्द्रशेखर मिश्र आदि के नाम महत्त्वपूर्ण है। 'पाँख सतरंगी' (जगन्नाथ, सन् 1967) में दो, 'भोर हो गइल' (पाण्डेय कपिल, सन् 1971) में तीन, 'सुरपंछी' (पीयूष, सन् 1972) में आठ, 'हहरत हियरा' (गंगाप्रसाद 'अरुण', सन् 1974) में तीन और 'अढ़ाई आखर' (डॉ. अशोक द्विवेदी, सन् 1975) में आठ ग़ज़लें भी शामिल हुईं। अप्रैल 1960 ई. में से पटना से त्रैमासिक 'अँजोर' का प्रकाशन भोजपुरी-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसके विभिन्न अंकों में उपयुर्क्त लगभग समस्त कवियों की ग़ज़लें छपती रहीं। इसके जनवरी 1962 अंक में दिनेश भ्रमर की—

नजरिया के बतिया नजरिया से कहि द
न चमके, सोनहुली किरिनिया से कहि द

मत्लावाली ग़ज़ल उस ज़माने में बड़ी लोकप्रिय हुई। इसके अलावा शिवकरण की एक ग़ज़ल 'भोजपुरी' के फरवरी, 1964 ई. के अंक में छपी। 'आज' (सायं समाचार वाराणसी) और 'पुरवइया' (भोजपुरी संसद, वाराणसी) में जगन्नाथ की कई ग़ज़लें प्रकाशित हुईं। 'पीयूष' की ग़ज़लों को भी 'पुरवइया' में स्थान मिला। विषय-वस्तु की दृष्टि से इस दौर की प्राय: सभी ग़ज़लें पारम्परिक होते हुए भी चिन्तन की परिपक्वता से भरपूर हैं।

इस काल के द्वितीय चरण को जगन्नाथ जी ने 'भोजपुरी ग़ज़ल के स्वर्णकाल' कहा है। सन् 1895 में 'बदमाश दर्पण' के प्रकाशन के 81 बरसों के लम्बे अन्तराल के पश्चात् सन् 1977 में इनकी (जगन्नाथ) 35 ग़ज़लों के संकलन 'लर मोतिन के' का प्रकाश में आना महत्त्वपूर्ण परिघटना है। आधुनिक भोजपुरी ग़ज़लों के इस प्रथम संकलन से निश्चित रूप से भोजपुरी ग़ज़ल में एक नया अध्याय जुड़ा पत्रिकाओं ने भी अपने ग़ज़ल विशेषांक निकाले। इस दृष्टि से 'झकोर', 'पाती' (बलिया), 'सुरसती' (सहसराम) के विशेषांक उल्लेखनीय हैं। 'झकोर' (जून-सितम्बर, 1981) में 21 कवियों की ग़ज़लों के साथ ही डॉ.धीरेन्द्र बहादुर 'चाँद' की इस काव्य-रूप पर सम्पादकीय टिप्पणी, 'पाती' (अगस्त, 1995) में 58 कवियों की ग़ज़लों के साथ श्री जगन्नाथ, डॉ.वेदप्रकाश अमिताभ, डॉ.अशोक द्विवेदी तथा डॉ.आसिफ़ रोहतासवी के आलेख एवं 'सुरसती' (जनवरी, 2007) में 14 कवियों की 45 ग़ज़लों के साथ डॉ.नन्दकिशोर तिवारी की सम्पादकीय टिप्पणी, भगवतीप्रसाद द्विवेदी और डॉ.ब्रजभूषण मिश्र के आलेख महत्त्वपूर्ण हैं। 'भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका' के नेपाली भोजपुरी विशेषांक में मुनीस मासूम की ग़ज़लें भी छपीं। 'फूटल किरिन हजार' में डॉ. अशोक द्विवेदी की लगभग 50 ग़ज़लें हैं। अनिरुद्ध तिवारी 'संयोग' के 'अँजुरी में तीन रस' (जमशेदपुर भोजपुरी साहित्य परिषद्) में भी कुछ ग़ज़लें संकलित हैं।

इनके अतिरिक्त भी 'कविता' त्रैमासिक के अक्टूबर 2007 के सम्पादकीय में 'नज़्म' और 'मुसल्सल ग़ज़ल' को हिगरानेवाली बारीक रेखा पर सम्पादकीय टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। हिन्दी के पिछलग्गू कुछ भोजपुरी-शुभचिन्तकों के इस विचार कि 'भोजपुरी में ग़ज़ल नहीं लिखी जानी चाहिए' पर मेरी प्रतिक्रियात्मक टिप्पणी (भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका, सितम्बर 1995, पृ. 391-392) आज भी प्रासंगिक है। इनके अतिरिक्त भी ग़ज़ल को लोकप्रिय बनाने में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने अविस्मरणीय ऐतिहासिक महत्त्व के कार्य किये हैं उनमें 'भोजपुरी माटी' (कोलकाता), 'भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका', 'उरेह', 'अँजोर', 'लुकार', 'बिगुल', 'भोजपुरी अकादमी पत्रिका', 'कविता', 'लहार', 'कोइल', 'माई के बोली', 'निर्भीक सन्देश', 'समकालीन भोजपुरी-साहित्य', 'भोर', 'पनघट' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। दैनिक समाचार पत्रों में 'हिन्दुस्तान' (जमशेदपुर-संस्करण) के साहित्य-संपादक भाई प्रेमचन्द मन्धान (अब दिवंगत) को यहाँ विशेष रूप से याद करना सुखद अनुभूतियों को जन्म देता है, जो स्वयं ग़ैर-भोजपुरी भाषी होते हुए भी भोजपुरी ग़ज़लें प्राय: 'हिन्दुस्तान' के पाठकों तक पहुँचाते रहते थे।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ग़ज़लों के अलावा अब कई एकल और सम्पादित ग़ज़ल-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। यहाँ उनमें से कुछ का नामोल्लेख प्रासंगिक होगा—

01. **बदमाश दर्पण**, सन् 1895, प्रकाशक -रामकृष्ण वर्मा, भारत जीवन प्रेस, बनारस
02. **तेग़ अली आ काशिका**, सन् 1964, सम्पा.- रुद्र काशिकेय, ज्ञान मण्डल लि. वाराणसी
03. **लर मोतिन के**, सन् 1977 जगन्नाथ
04. **भोजपुरी के प्रतिनिधि ग़ज़ल**, सन् 1978, सम्पा.- जगन्नाथ, नगेन्द्र
05. **नया एगो सूरज**, सन् 1984, चौधरी कन्हैया प्र.सिंह

06. **पतिआत ना केहू**, सन् 1987, अविनाशचन्द्र 'विद्यार्थी'
07. **धरोहर**, सन् 1992, जौहर शफ़ियाबादी
08. **अचके कहा गइल**, सन् 1992, डॉ. ब्रजभूषण मिश्र
09. **कह ना सकलीं**, सन् 1995, जौहर शफ़ियाबादी
10. **समकालीन भोजपुरी ग़ज़ल**, सन् 1995, संपा.- मधुर नज़्मी, डॉ. अशोक द्विवेदी
11. **'रेत के परछाहीं '**, सन् 1995, रामेश्वर प्रसाद सिन्हा 'पीयूष'
12. **'तोहरे बदे'**, सन् 1997, आशनारायण 'अशोक'
13. **'नया सूरज चढ़ल जाता'**, सन् 2000, कृष्णनंद 'कृष्ण'
14. **'समय के राग'**, सन् 2003, संपा.- जगन्नाथ, भगवती प्रसाद द्विवेदी
15. **'तस्वीर ज़िन्दगी के'**, सन् 2004, मनोज 'भावुक'
16. **'महक माटी के'**, सन् 2006, आसिफ़ रोहतासवी
17. **'गुमसाइल हवा'**, सन् 2006, रामेश्वर प्रसाद सिन्हा 'पीयूष'
18. **'परिन्दा उड़ान पर'**, सन् 2007, पाण्डेय कपिल
19. **'रंगमहल'**, सन् 2007, जौहर शफ़ियाबादी
20. **'अभी बाक़ी बा'**, गोपाल 'अश्क'
21. **'बेकहल जिनगी'**, गोपाल 'अश्क'
22. **'जल के धारा में दियना'**, सतीश्वर सहाय वर्मा 'सतीश'
23. **'टूटत बा सपना'**, डॉ. स्वर्णकिरण
24. **'सुर ना सधे'**, नागेन्द्र प्रसाद सिंह
25. **'भँवर में नाव'**, सूर्यदेव पाठक 'पराग'
26. **'आसमान बाक़ी बा'**, सन् 2008, आसिफ़ रोहतासवी
27. **'रेत के सफ़र'**, 2010, आसिफ़ रोहतासवी
28. **'भोर कब होई'**, 2011, शिवपूजन लाल विद्यार्थी
29. **'तहरे नाम'**, 2008, सुभद्रा वीरेन्द्र
30. **'ग़ज़ल के गाँज'**, 2011, रामजी पाण्डेय 'अकेला'
31. **'हारल त नइखीं '**, 2012, आसिफ़ रोहतासवी
32. **'अँखियन के लोर'**, 2012, ब्रजमोहन प्रसाद

इधर एक बार फिर 'बदमाश-दर्पण' का प्रकाशन सन् 2002 में श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के 'विश्वविद्यालय प्रकाशन', वाराणसी द्वारा किया गया है। साथ ही 'ग़ज़ल के शिल्प-विधान' तथा 'हिन्दी-उर्दू-भोजपुरी के समरूप छन्द'(जगन्नाथ) नामक पुस्तकें भी प्रकाश में आ चुकी हैं।

तेग़ अली से शुरू होकर जगन्नाथ, पाण्डेय कपिल, 'पीयूष', ब्रजभूषण मिश्र, 'पीड़ित', अशोक द्विवेदी, कृष्णानन्द 'कृष्ण' आदि से गुज़रती हुई अब मनोज 'भावुक', मिथिलेश गहमरी जैसे होनहारों तक पहुँचनेवाली भोजपुरी-ग़ज़ल हिन्दी अथवा उर्दू-ग़ज़ल की प्रतिलिपि या छायामात्र नहीं है। अब ये विश्व-ग़ज़ल की एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर इकाई बनने के महत्त्वपूर्ण मक़ाम पर खड़ी है। सबसे अच्छी और आश्वस्त करनेवाली बात तो ये है कि उर्दू और हिन्दी-ग़ज़ल से प्रेरणा ग्रहण करने के बावजूद इसने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ कुछ छोड़ने और तोड़ने की भी प्रवृत्ति अपनायी है। इसके चेहरे पर उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लों के पारम्परिक मुहावरों, बिम्बों, प्रतीकों से नितान्त अलग अपनी ख़ुद की जातीय और सांस्कृतिक परम्परा की ज़मीन तलाशने की बेचैनी साफ़ देखी जा सकती है। इसी बेचैनी से वो 'ख़ुद' से ऊपर उठकर व्यापक मानवीय सरोकारों से रिश्ता जोड़ने को आकुल दिल्ली से कलकत्ता, सिंगुर और नन्दीग्राम के रास्ते सरहद के कँटीले बाड़ों को रौंदती हुई बेझिझक

ढाका तक भी जा पहुँचती है—

तस्लीमा, सिंगुर आ नंदीग्राम के ऐनक में 'आसिफ़'
सत्ता के त एके चेहरा बा दिल्ली से ढाका ले

लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा और धर्मनिरपेक्षता का स्वाँग करनेवाली राज्य तथा केन्द्र की सरकारों के चेहरों से नक़ाब तब हट जाता है, जब मेहमान तस्लीमा नस्रीन को इसी देश में भरी सभा में थप्पड़ जड़े जाते हैं। वोट और सत्ता की लोलुप बंगाल की तथाकथित कम्युनिस्ट सरकार मुट्ठी भर कट्टरपंथियों को तुष्ट करने के लिए उन्हें उनकी सांस्कृतिक माटी कोलकाता से विस्थापित कर दिल्ली में सुरक्षा के नाम पर 'नज़रबंद' करा देती है।

भोजपुरी ग़ज़ल के इस संक्षिप्त सफ़र के अवलोकन के क्रम में इसकी भाषा और इसके शिल्प-पक्ष पर भी एक नज़र डालना प्रासंगिक होगा।

भोजपुरी के भाषिक स्वरूप में अद्भुत औदार्य है। अलग-अलग क्षेत्रों में इसके उच्चारण की शैलियाँ भी भिन्न हैं तथा बनारस की काशिका, ग़ाज़ीपुरी, जौनपुरी, छपरहिया, नेपाल के तराई क्षेत्र की मधेसी तथा मॉरीशस की फ्रेंच-इंग्लिश मिश्रित 'क्रियोली'। ग़ज़लकारों के लिए इन शैलियों में शाब्दिक विकल्प असीमित हैं, तथापि आवश्यकतानुसार हिन्दी, उर्दू, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के वे सारे शब्द भी ग्राह्य हैं, जिनका उपयोग दैनन्दिन बोलचाल की भोजपुरी में होता है, लेकिन हाँ, परिनिष्ठित भोजपुरी अथवा साहित्यिक भोजपुरी के नाम पर जानबूझकर इन भाषाओं के शब्दों को ठूँसना (जैसा कि कुछ रचनाकार कर रहे हैं) भोजपुरी के भाषिक स्वरूप और ग़ज़ल की नाज़ुक प्रकृति के प्रतिकूल होगा। यदि ऐसा ही किया जाता रहा तो अगले कुछ सौ वर्षों में तो इसका मूल स्वरूप और पहचान ही समाप्त हो जाएगी। असीमित उदारता भाषा के गले की फाँस न बन जाये, इसका ध्यान रखना होगा। ये मामला केवल साहित्य का नहीं, बल्कि भाषाई अस्मिता का भी है। भाषा 'माई' होती है, 'भौजाई' नहीं। इसलिए अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की उदारता के बहाने भोजपुरी की भाषाई अस्मिता साथ छेड़छाड़, चिन्गारी और खिलवाड़ हर्गिज़ नहीं किया जाना चाहिए।

आज से क़रीब 120 वर्ष पूर्व तेग़ अली ने जब भोजपुरी में ग़ज़ल का श्रीगणेश किया था तो उनमें कहीं भी हिन्दी या उर्दू-शब्दों का प्रयोग आग्रह नहीं था। वे आधुनिक हिन्दी-ग़ज़ल के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लगभग समकालीन थे। उस काल में हिन्दी-उर्दू ग़ज़ल के समानान्तर भोजपुरी में भी ग़ज़लों का सृजन सुखद अचरज की बात है। जब सन् 1895 में भारत जीवन प्रेस, बनारस से भोजपुरी का प्रथम ग़ज़ल-संग्रह 'बदमाश दर्पण' छपा, तो उस तारीख़ तक हिन्दी का कोई एकल ग़ज़ल-संकलन प्रकाशित नहीं था। 'तेग़' की ग़ज़लों में बोलचाल की प्रचलित 'काशिका भोजपुरी' के खाँटी शब्दों के प्रयोग देखने योग्य हैं। इसके ठीक विपरीत ये भाषाई गौरव हिन्दी-ग़ज़ल को कभी (विशेषकर शुरूआती दौर में) नसीब नहीं हुआ। वो प्रारम्भ से लेकर आज तक स्वयं को फ़ार्सी, उर्दू से मुक्त नहीं करा सकी है। यहाँ मैं ये नहीं कह रहा कि हिन्दी-ग़ज़ल के लिए ये मुक्ति एकदम ज़रूरी ही है, क्योंकि कई अन्य मित्रों की तरह मेरा भी मानना है हिन्दी तथा उर्दू के संस्कार-तहज़ीब बहुत कुछ समान हैं। दोनों के मध्य कोई लक्ष्मण-रेखा खींचना निहायत मुश्किल ही नहीं असम्भव भी है। 'दक्कनी' और 'खड़ीबोली' के रूप में दोनों सदियों तक हमजोली, हमदम और हमसफ़र रही हैं।

वेद-काल से लेकर वर्तमान काल तक भोजपुरी का भाषिक स्वरूप जितना स्थिर अथवा अत्यल्प परिवर्तित रहा है, वो ध्यातव्य है। वेदों की भाषा प्राकृत, अपभ्रंश तथा पालि से गुज़रती हुई हज़ारों सालों के बाद आज भी भोजपुरी-शब्दों में अचरज की सीमा तक सुरक्षित है। इसीलिए मेरा मानना है कि जहाँ तक हो सके भोजपुरी ग़ज़ल में इसके ठेठ, पारम्परिक खाँटी गँवारू शब्दों का

इस्तेमाल बेह्तर और असरदार होगा। आम भोजपुरिया मनई भोजपुरी, हिन्दी, उर्दू, अँग्रेज़ी के शब्दों का अपनी बोलचाल में जिस रूप में इस्तेमाल करता है, ग़ज़लों में भी उन्हें जस-का-तस लिया जाना चाहिए। तथाकथित 'साहित्यिक कुलीनता', शिष्टता एवं परिनिष्ठता के मोह और आग्रह में शब्दों को ज़्यादा छीलने-चिकनाने, चुभलाने से भोजपुरी भाषा की आत्मा मर जायेगी। ऐसा करने से भोजपुरी बेजान हो जायेगी— इस बात का ध्यान ज़रूरी है। इस भाषा के अपने जातीय संस्कार-पहचानवाली खाँटी, भदेस शब्दों में सम्पन्न ग़ज़लें ही भोजपुरी ग़ज़ल के स्वतंत्र अस्तित्व और पहचान को क़ायम रख सकेंगी। प्राय: ये भ्रम है कि 'भदेस' का अर्थ अशिष्ट या भद्दा होता है। दरअस्ल, ये भद्दा भद्र से उत्पन्न है। उच्चारण के लाघव से ये भद्दा, भद्द और भोजपुरी में 'भद्द' बन गया है। संस्कृत-नाटकों में आभिजात्य वर्ग की स्त्रियों को 'भद्रे' शब्द से सम्बोधित किया गया है। बंगला और बंगाल में शिष्ट-सभ्य जन के लिए आज भी 'भद्रलोक' या 'भद्रजन' शब्द प्रचलित है। भोजपुरी में 'भदरा' इसी 'भद्र' से हुआ है। इस भाषा में 'भद्द' अथवा 'भद हो गइल' पद का अर्थ 'बुरा हो गया' ग्रहण किया जाता है। समय के अन्तराल में ये लोक तथा साहित्य में भी इसी अर्थ में रूढ़ हो गया, मगर इसी 'भदेस' को यहाँ 'देसी' भी कहा जाता है, जो 'शुद्ध' अथवा 'खाँटी' के अर्थ में आता है। इसीलिए कृत्रिम घी 'डालडा' के ठीक विपरीत शुद्ध घी के लिए 'देसी घी' पद आम प्रचलन में है, ये जो 'देसी' है वही खाँटी है। इस प्रकार 'देशज' शब्द ही 'खाँटी' है।

.......तो मैं ये कहना चाहता हूँ कि 'भदेस' का अर्थ केवल 'भद्दा' या अशिष्ट नहीं होता। अपने उत्स 'भद्र' के आधार पर इसका ध्वनि-अर्थ 'शिष्ट' और 'सभ्य' तक जाता है। आज 'गँवारू' या 'भदेस' के नाम-बहाने कुछ विद्वजन जिन मूल शब्दों को तथाकथित शिष्ट या साहित्यिक भोजपुरी से निष्काषित करने की पैरवी कर रहे हैं, वस्तुत: वे वैदिक हैं और इसीलिए वही खाँटी और शुद्ध हैं। साहित्य में इन शब्दों की उपेक्षा की प्रवृत्ति भाषा के लिए ख़तरनाक और घातक सिद्ध होगी। ये शब्द भोजपुरी में संस्कृत के रास्ते नहीं, वरन् इससे भी पूर्व की लोक-भाषाओं प्राकृत राह पकड़े सीधे आये हुए हैं। इसलिए भोजपुरी-ग़ज़ल में वेदसंवलित भोजपुरी की मूल वर्तनी के अनुरूप भदेस अथवा खाँटी शब्दों के प्रयोग में संकोच-झिझक क्यों? भोजपुरी ग़ज़ल की उत्तम एवं ठोस भाषाई ज़मीन यही है।

'वस्तु' तथा भाषा के साथ ही ग़ज़ल के वास्तु-शिल्प की बारीकियों का भी अनुपालन किया जाय, तो सोने पे सुहागा हो जायेगा। ये सुसंस्कार और तमीज़वाला काव्य-रूप है, इसे कभी नहीं भूलना चाहिए। उर्दू-फ़ार्सी ग़ज़लों की तरह हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी आदि भाषाओं की ग़ज़लों में भी मात्रा-निर्धारण की मल्फ़ूज़ी (उच्चरित) पद्धति को स्वीकार किया गया है। इसके बावजूद तथाकथित शुद्ध हिन्दी-ग़ज़ल के कुछ विद्वान समीक्षकों की तरह हिन्दी के पारम्परिक छन्दों में रचित कविताओं की तर्ज़ पर भोजपुरी ग़ज़ल में भी मात्राओं के मामले में लिखित रूप के आधार के पैरवीकार यदि आप भी हों तो इस बारे में अपनी ओर से कुछ कहने की इजाज़त चाहूँगा। कुछ मित्रों का कहना है कि हिन्दी में ग़ज़ल हिन्दी-कविता में प्रचलित पारम्परिक वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों में ही कही जानी चाहिए। मैं जानना चाहूँगा कि क्या हिन्दीवाले गुजराती, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी, मगही आदि में लिखे जा रहे दोहों में शास्त्रोचित मात्रा-विधान में किसी प्रकार की छूट देना स्वीकार करेंगे? भोजपुरी के दोहों, सवैयों, कवित्त, कुण्डलिया आदि में भी इस शास्त्रीयता का हम अक्षरश: पालन कर रहे हैं।

इसी प्रकार फ़ार्सी, उर्दू-कविता के 'ग़ज़ल' रूप की भी कुछ निर्धारित बह्रें(छन्द) हैं, अपना शिल्प-विधान है। ऐसे में, इसके पारम्परिक छन्दशास्त्र और शिल्प को नकारकर या आंशिक तौर पर ही सही अपनी सुविधा के मुताबिक़ संशोधित कर तथाकथित शुद्ध भोजपुरी ग़ज़ल कहने की छूट हासिल करना वाजिब है क्या? बावजूद इसके अगर आप ऐसा करने पर आमादा ही हैं तो ऐसी

रचना को ग़ज़ल से ही संज्ञायित करने का औचित्य कम-से-कम मेरी समझ से तो परे है। मेरी राय में ये ग़ज़लनुमा कविता तो हो सकती है, ग़ज़ल कदापि नहीं। ग़ज़ल तो अन्तत: एक फार्म या स्ट्रक्चर (ढाँचा) है, इसे ही सब्जेक्ट समझने का भ्रम न तो पाला जाय और न ही जान-बूझकर उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाय। अगर नया कुछ करने का माद्दा हो तो ग़ज़ल के लिए नये कथ्य, नये मुहावरे, नये प्रतीक, बिम्ब, व्यंजना आदि के सृजन किये जाने चाहिए।

इन तमाम उपलब्धियों के बीच एक फ़िक्र फिर भी जस-की-तस बरक़रार है। आज भोजपुरी कवियों में ग़ज़ल कहने की हाँकाहाँकी (होड़) लगी हुई है। बहुत मायने में ये शुभ है, तो चिन्ताजनक भी। सहज-सस्ती लोकप्रियता के लोभ में कई रचनाकार ग़ज़ल के नाम पर केवल तुकबन्दी करते हुए आत्ममुग्ध हैं। बह्र और शास्त्रीयता से कोसों दूर ग़ज़लनुमा ये रचनाएँ, दरअस्ल ग़ज़ल होती ही नहीं। इससे भी ज़ियादा हैरानी की बात ये है कि विद्वान सम्पादकों की कृपा से ये तुकबन्दियाँ 'ग़ज़ल' शीर्षक से पत्र-पत्रिकाओं में स्थान भी पा लेती हैं। रचनाकारों और सम्पादक बन्धुओं से विनम्र निवेदन है कि पहले ग़ज़ल के मिज़ाज को समझें और शिल्पगत पहलुओं की बारीकी से पड़ताल करें। केवल दो समानान्तर पंक्तियों में जज़्बात और विचारों को फिट कर देना ही ग़ज़ल नहीं है। फिर याद दिलाता चलूँ कि ये पहले स्ट्रक्चर है- फार्म है। पहली नज़र में ऊपर से एकदम सीधा-सपाट दिखनेवाला ये काव्य-रूप जितना जटिल है, उतना ही नाज़ुक भी। इसका मिज़ाज जितना नाज़ुक है, शिल्प और व्याकरण उतना ही दुरूह कठोर। अक्सर अज्ञानतावश या भ्रमवश नज़्म को भी ग़ज़ल ही समझ लिया जाता है। इनके बीच के सूक्ष्म फर्क को भी जानना ज़रूरी है। ठीक है कि छन्द कविता के लिए अनिवार्य तत्त्व नहीं है, लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण ये है कि कविता— विशेष रूप से ग़ज़ल— में सपाटबयानी से भरसक बचते हुए तग़ज़्ज़ुल तथा नये, ताज़ा, बिम्बों, प्रतीकों, मुहावरों की तलाश हो। जब नज़्म में ग़ज़लियत आ जाये तो वो आकाश की बलन्दियों पर जा पहुँचती है। इसके ठीक विपरीत, जब ग़ज़ल में नज़्मीयत का प्रवेश हो जाये तो वो रसातल को प्राप्त हो जाती है। अच्छी भोजपुरी ग़ज़ल कहनेवालों को हमेशा इसका ध्यान रखना होगा। सहज सांकेतिकता और अभिव्यक्ति की स्पष्टता इसे आकर्षक, ख़ूबसूरत तथा सफल बनाती है।

किताबों पर

अभिनव अरुण का ग़ज़ल-संग्रह 'सच का परचम'

ज़हीर क़ुरैशी

'सच का परचम' फहराने की ज़िद करनेवाले ग़ज़लगो अभिनव अरुण नि:सन्देह ग़ज़ल-संसार में एक विरल उम्मीद जगाते हैं। अभिनव अरुण की ग़ज़लें समकालीनता की शर्तें पूरी करती हैं और उन्हें हम मुक्त कण्ठ से समकालीन ग़ज़ल कह सकते हैं। अच्छी ग़ज़ल कहने के लिए अरूज़ के स्तर पर जिस तरह की तैयारी होनी चाहिए वो भी अभिनव के पास है। अरूज़ के बाद कथ्य के स्तर पर हमारी वर्तमान जटिल ज़िन्दगी की पड़ताल बख़ूबी उनके शेर करते हैं। मानवीय रिश्ते उनकी शायरी का प्राण-तत्त्व हैं। उनके शेरों के 'शेड्स' बहुआयामी हैं। अगर उनके शेर वर्तमान राजनीति के गिरते स्तर पर कटाक्ष करते हैं तो हमारे घर आ घुसे बाज़ार पर भी उनकी नज़र है। वे आधुनिक टेक्नोलॉजी के प्रभाव को भी सलाहियत से अपने शेरों में समाहित करते हैं तो अन्तरराष्ट्रीयता के संकेत भी उनकी शायरी में मिलते हैं। उन्हें पता है कि सबको अपने-अपने युद्ध लड़ने ही पड़ते हैं—

हालात सिखा देते हैं कुहराम मचाना
ख़ामोश मिज़ाजी से गुज़ारा नहीं होता

अभिनव की शायरी में फ़िक्र के जुगनू चमकते हैं। आज की समस्याओं पर उनकी गहरी नज़र है और हालात को बदलने का जज़्बा उनके पास है। उनके अश्आर में एक नयापन है, ताज़गी है और इस दुनिया को और ख़ूबसूरत बनाने का स्वप्न उनकी आँखें निरन्तर देखती रहती हैं। अभिनव हमेशा आदमी बने रहना चाहते हैं, तभी तो कह पाते हैं—

कभी आर्ज़ू ये नहीं रही कि फ़रिश्तों-सी हो ये ज़िन्दगी
बनूँ आदमी तो वो आदमी जो नज़र से अपनी गिरा न हो

कुल मिलाकर 'सच का परचम' ग़ज़ल-संग्रह के बहाने अभिनव अरुण पहली ही नज़र में भा जाने वाले विरल ग़ज़लकार के रूप में रेखांकित किये जा सकते हैं।

किताब :- सच का परचम,

रचनाकार :- अभिनव अरुण,

प्रकाशक :- अंजुमन प्रकाशन, 942, आर्य कन्या चौराहा, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद (उ. प्र.)

प्रथम संस्करण :- 2014

सग़ीर अश्र्फ़ वारसी का मज्मूअए-कलाम 'हर्फ़े-सुख़न'

जमीला सग़ीर

सग़ीर अश्र्फ़ की शायरी अपने जुदागाना लहजे के एक फैले हुए कैनवास पर उतारी गयी शायरी है, जिसे कई महत्त्वपूर्ण शायरों ने इस दौर की सच्ची शायरी कहा है। इनकी काव्यात्मक सोच ने शायरी को सलीक़ा-ए-गुफ़्तार दिया और समाज में होने वाली ज़ियादती के विरुद्ध आवाज़ भी उठायी। यही नहीं, इनकी शायरी की भीनी-भीनी ख़ुश्बू ने पाठकों के मन-मस्तिष्क को भी सींचा है। इनकी शायरी का जायज़ा लेते हुए 'अभिनव इमरोज़'(मई-2013) में डॉ. परवेज़ शहरयार लिखते हैं— ''अगरचे सग़ीर अशरफ़ वारसी ने अपने मुशाहिदात और तज्रुबात की बुनियाद पर अवाम-पसन्द शायरी की है, ताहम उनके अश्आर अपने फ़लसफ़ियाना ख़यालात और तफ़क्कुरात की गहराई और गीराई की वज्ह से संजीदगी और मतानत के मुतकाज़ी हैं।''(पृ. 52) सग़ीर की शायरी का आधार हक़गोई है। इन्होंने अपने गिर्दो-पेश के माहौल में मौजूद दुख-दर्द को अपना विषय बनाया है। सग़ीर के अन्दर मौजूद शायर आज के हालात और अपने तज्रुबात की आमेज़िश से जो नतीजा निकालता है, वो उसे ख़ामोशी की राह पर ले जाता है—

चुप की आदत डाल रहा है
रस्ते में जो शख़्स खड़ा है

इनकी शायरी पर मुख़्तसर तब्सिरा करते हुए 'आजकल'(नवम्बर-2013) में दीपक बुदकी लिखते हैं— ''सग़ीर अश्र्फ़ के यहाँ क्लासिकी और रवायती ग़ज़ल मिलती है, जिसमें जुदाई भी है और इन्तिज़ार भी, उम्मीद भी है और मायूसी भी, हिज्र भी है और विसाल भी। इनके अन्दाज़े-बयान में जिद्दत और इन्फ़िरादियत दोनों साफ़ तौर पर नज़र आते हैं और वो अक्सर-ओ-बेशतर छोटी बह्रों का इस्तेमाल करते हैं। ज़बान की रवानी और सलासत उनके अश्आर के हुस्न को मज़ीद दुबाला करते हैं। नमूना-ए-कलाम हाज़िरे-ख़िद्मत है—

वो आफ़्ताब था रौशन असास छोड़ गया
अजीब शख़्स था मिलने की आस छोड़ गया''

आख़िर में ये कहा जा सकता है कि अलग-अलग आलोचकों और समीक्षकों की नज़रों से गुज़रते हुए भी सग़ीर की शायरी कहीं कमज़ोर नहीं ठहरती।

किताब :- 'हर्फ़े-सुख़न'

रचनाकार :- सग़ीर अश्र्फ़ वारसी

प्रकाशक :- शाहिद पब्लिकेशन, 2253, रेशम स्ट्रीट, दरियागंज, नयी दिल्ली- 110002

मुश्ताक़ सदफ़ का मज्मूअए-ग़ज़ल 'बदल गयी कोई शै'

सद्रे आलम गौहर

न कोई ज़ौक़े-तमाशा न कोई रंगे-हयात
ज़रूरतों के बहाने बदल गयी कोई शै

मुश्ताक़ सदफ़ का ये पहला ग़ज़ल-संग्रह फ़ार्सी-लिपि में है जिसमें 73 ग़ज़लें हैं। इन सभी ग़ज़लों में एक तेवर है, विरोधाभास है, जो आज के युवा-मन का आक्रोश, अन्तर्सम्बन्धों में आ रही बदलाव जनित हताशा और शहरी जीवन की उद्देश्यहीनता को उजागर करता है। आजकल जो क्षण-क्षण परिस्थितियों में हो रहे बदलाव, संवेदना का ह्रास, उद्देश्यहीनता और अनिश्चय के माहौल की छटपटाहट है, वो सब इस संग्रह के नाम से ही पता चलता है।

'बदल गयी कोई शै' की भूमिका ख्याति प्राप्त विद्वान्-आलोचक प्रो. गोपीचन्द नारंग ने लिखी है। भूमिका में एक जगह वो लिखते हैं— ''सदफ़ ने बहुत अच्छे शेर निकाले हैं, जिनके तख़्लीक़ी तनाव से उनकी शिनाख़्त बनती है। कई जगह उनकी शायरी में इस्बात से नफ़ी और नफ़ी से इस्बात की कैफ़ीयत है। उनके अश्आर में उनके तज्रुबे की मानवीयत तहनशीं रहती है।'' उन्होंने सदफ़ के कुछ अश्आर उद्धृत किये हैं, जिनमें से एक यहाँ पेश है—

ख़ुदाया नींद थोड़ी-सी मेरी आँखों को मिल जाये
कभी बिस्तर पे काँटें हैं, कभी काँटों पे बिस्तर है

मुश्ताक़ सदफ़ के सीने में आशिक़ का दिल है, और वो जब किसी को याद करते हैं तो कुछ यूँ कह उठते हैं—

याद करता हूँ उनको जी से
भीग जाता हूँ रोशनी से

सदफ़ पुस्तक के आरम्भ में, 'मैं और मेरा तख़्लीक़ी तफ़ाएल' में अपनी बात कुछ यूँ कहते हैं— ''मेरा ये शेरी मज्मूआ 'बदल गयी कोई शै' हर तब्दीली और तग़ैयुर(परिवर्तन) का इस्तक़्बाल करता है। तग़ैयुर ठीक दरिया के पानी की तरह है जो बहता रहता है, बदलता रहता है। दरअस्ल हमारा दौर ही knowledge explosion का है। आज पूरी इल्मीयत (epistemology) तब्दील होकर रह गयी है''। वो कहते हैं—

आग तो आग है पानी को भी जलता देखूँ
अय ज़मीं तेरी हक़ीक़त को बदलता देखूँ

आशा है डॉ. मुश्ताक़ सदफ़ का ये ग़ज़ल-संग्रह पाठकों को पसन्द आयेगा।

किताब :- बदल गयी कोई शै
शायर :- मुश्ताक़ सदफ़
प्रकाशक :- स्वराज, प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।

सोनरूपा विशाल का काव्य-संग्रह 'लिखना ज़रूरी है'

मनीष कुमार

सोनरूपा विशाल सुप्रसिद्ध गीतकार, छन्दकार और हिन्दी-ग़ज़ल के अगुवा रचनाकारों में से एक स्व. डॉ. उर्मिलेश की सुयोग्य सुपुत्री हैं। इनकी मुख्य विधा ग़ज़ल-गायन है, लेकिन विरासत और संस्कार में मिली रचनाधर्मिता ने इनसे कुछ ग़ज़लें और नज़्में भी कहलवा ली हैं। सोनरूपा आकाशवाणी और दूरदर्शन के अनेक चैनलों से सम्बद्ध हैं और अपने पिताश्री की ग़ज़लों पर आधारित एक ऑडियो एल्बम भी संगीत-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत कर चुकी हैं। सोनरूपा ग़ज़ल-गायकों और क़व्वाली-गायकों द्वारा शेर कहने और ग़ज़ल कहने की अत्यन्त पुरानी परम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

सोनरूपा ग़ज़ल के वक़ार और इसकी रवायत को जानती-समझती हैं, इसी वज्ह से 'कुछ याद करूँ तो' शीर्षक से भूमिका लिखते हुए वे अत्यन्त ख़ाकसारी से फ़र्माती हैं— ''सबसे पहले तो आप सबसे गुज़ारिश है कि मेरे इस पहले संग्रह को मेरी कई कोशिशों के बाद जुटायी गयी हिम्मत समझ लें, क्योंकि मैं वाक़ई इतनी क़ाबिलियत नहीं रखती कि ग़ज़ल और ग़ज़लकारों की विराट् परम्परा की फ़ेहरिस्त में अपनी छोटी-सी लेखन-यात्रा से ख़ुद को एक संग्रह के माध्यम से खड़ा करने की कोशिश कर सकूँ या ख़ुद को इतना लायक़ समझूँ कि साहित्य के समन्दर में उतरने की हिम्मत कर सकूँ, बस इतना मान लीजिए कि ये मेरी अनुभूतियों की थोड़ी-सी पूँजी है।''

सोनरूपा की ग़ज़लें एक कोमल हृदय की शुद्ध भावनाएँ हैं, जैसे सुबह-सुबह फूल की किसी पंखुड़ी पर पड़ी ओस की एक बूँद; जैसे चाँदनी रात में चलनेवाली ठण्डी-ठण्डी हवा, जैसे घुप्प अँधेरी रात में तारों का टिमटिमाना; जैसे एक बच्चे के मन की सच्ची-सच्ची बातें। प्यार की बात भी इनके यहाँ पेचोख़म से भरी हुई नहीं, बल्कि सीधे और साफ़-सुधरे रास्ते की तरह है—

उसको मेरा मलाल है अब भी   चलिए कुछ तो ख़याल है अब भी
दफ़्न होकर भी साँस बाक़ी है   कोई रिश्ता बहाल है अब भी

सब-कुछ जानते-समझते और झेलते हुए भी शायर जिस मुख़्लिस अन्दाज़ में पेश होता है, वही उसकी फ़नकारी है। दुनियादारी से गुज़रते हुए अपनी मासूमियत बचाये रखना एक कला है, जिसे शायद सोनरूपा समझ चुकी हैं। समझ की ये डोर जो उनके हाथ लगी है वो इन्हें भविष्य की एक कवयित्री बनाती है। यद्यपि कि सोनरूपा के ख़ाकसारी भरे उद्धरण को ऊपर दर्ज किया जा चुका है फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके अन्दर अपार सम्भावनाएँ हैं। ज़रूरत है तो बस इस बात की कि वे अपने संवेदना-संसार को काव्य के व्याकरण, साहित्य के सान्निध्य और मश्क़े-सुख़न से उत्तरोत्तर पुष्ट करें तथा डॉ. उर्मिलेश जी की चलायी परम्परा को उसकी पराकाष्ठाओं तक पहुँचायें।

पुस्तक :- लिखना ज़रूरी है
रचनाकार :- सोनरूपा विशाल
प्रकाशक :- हिन्द युग्म, जिया सराय, नई दिल्ली-11001

ख़तो-किताबत

1. फ़ारूक़ जायसी, कानपुर :—

मत सहल इसे जानो फिरता है फ़लक बरसों
तब ख़ाक के पर्दे से इंसान निकलते हैं

उपर्युक्त शेर तो मीर तक़ी 'मीर' ने अपनी तारीफ़ में कहा था, मगर मेरे नज़दीक ये शेर 'ग़ज़लकार' पर अक्षरश: सत्य साबित होता है। मैं बराबर हिन्दी-उर्दू की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ता रहता हूँ, मुझे इस बात का कुछ-कुछ आभास है कि हिन्दी-भाषा में साहित्यिक पत्रिकाएँ कौन-कौन सी हैं। 'शेष' के बाद अगर किसी पत्रिका ने मेरे दामने-दिल को छू लिया है तो वो पत्रिका 'ग़ज़लकार' ही है। मैं इसके प्रकाशन पर दीपक रूहानी साहब को दिली मुबारकबाद पेश करता हूँ कि इन्होंने उर्दू से हिन्दी लिप्यंतरण पर पूरी तरह क़ाबू पा लिया है। उर्दू लफ़्ज़ियात की ऐसी शुद्धता कम-कम पत्रिकाओं में देखने को मिलती है। सच तो ये है कि इस सिल्सिले में श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय की कालजयी पुस्तक 'शेरो-सुख़न' की याद ताज़ा हो गयी है। ऐसी पत्रिकाएँ जो शुद्धता और साहित्यिक ईमानदारी पर पूर्णरूपेण आधारित हों, दसियों साल में नज़र आती हैं एक बार फिर बधाई।

मैं अपने आपको दोषी समझूँगा अगर शाहिद जमाल साहब की रचनाधर्मिता को सलाम न पेश करूँ। इनकी हम्द और ग़ज़ल के अश्आर बहुत ही दिलकश और ताज़ाकारी लिये हुए हैं। इनका शेर कहने का ढंग इनका अपना है। हम्द और ग़ज़ल के ये अश्आर मुझे बहुत अच्छे लगे, उन्हें दोबारा पाठकों के लिए हाज़िर कर रहा हूँ—

जब से कर दी सारी समाअत तेरे नाम
मुझ को सुनायी दे हर लम्हा तू ही तू

×× ×× ××

पल में रत्ती, पल में माशा, पल में राई का पहाड़
पक चुके हैं कान सुन-सुनकर सियासी गुफ़्तगू
अच्छे-ख़ासे लोग उठ जाते हैं महफ़िल छोड़कर
जब कभी होती है हम लोगों में अदबी गुफ़्तगू

×× ×× ××

ये कहते-कहते आ पहुँचा दिसम्बर
कि लानी है तुम्हारी शाल मुझको

वैसे तो बहुत-से शायर और कवि हैं जो अपने तौर पर ग़लत को सही समझते रहते हैं और बड़े-

बड़ों की सुनने के लिए भी तैयार नहीं होते, किसी का मश्विरा क़ुबूल करना तो दूर की बात है; मगर शाहिद जमाल साहब में ग़ज़ल कहने का जो अन्दाज़ है वो पुकार-पुकार कर कह रहा है कि—

मैं कहाँ रुकता हूँ अर्शो-फ़र्श की आवाज़ से
मुझको जाना है बहुत ऊँचा हदे-पर्वाज़ से

इसीलिए मैं अपने दिल की आवाज़ पर चन्द लाइनें इनकी शायरी पर लिखना अदबी ज़िम्मेदारी समझता हूँ; इससे अपनी पण्डिताई ज़ाहिर करना मक़्सद नहीं है, बल्कि एक उभरते हुए शायर के कलाम में चन्द छोटी-मोटी ग़लतियों की तरफ़ इशारा करना है, ताकि वो आइन्दा उन ग़लतियों से बच सके। मैं कई ऐसे कवियों और शायरों से वाक़िफ़ हूँ जो दर्जनों किताबों के रचयिता होते हुए भी बहूर, औज़ान, मुज़क्कर, मुअन्नस और ताक़ीद की गलतियाँ करते रहते हैं। अब इस उम्र में उनका मरज़ लाइलाज हो चुका है, उनकी तरफ़ इशारा करना भैंस के आगे बीन बजाने की तरह है, मगर नये शायरों के लिए ये अंगुश्तनुमाई फ़ायदामन्द साबित हो सकती है। इसी सच्चे जज़्बे के तहत मैं चन्द लाइनें हाज़िर कर रहा हूँ। शाहिद जमाल साहब लफ़्ज़ 'तरह' को कहीं-कहीं सही वज़्न में इस्तेमाल नहीं किया है। ये लफ़्ज़ दो वज़्न में इस्तेमाल हो सकता है— 'तर्ह' और 'तरह'। इस लफ़्ज़ को लघु-दीर्घ या दीर्घ-लघु दोनों प्रकार से इस्तेमाल कर सकते हैं। इनके निम्नलिखित शेर में ये लफ़्ज़ दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नहीं प्रयोग हो सका है। इसमें 'तरह' की 'हे'(बड़ी 'हे') का वज़्न ज़ायद है। यूँ कहिए कि 'हे' (बड़ी 'हे') वज़्न से गिर गयी है। बह्रे-हज़ज में इनका शेर है—

सच्चाई को सच्चाई करें किस तरह तस्लीम
वो सब जो किसी झूठ पे सदियों से अड़े हैं

सच्चाई / को सच्चाई / करें किस त / र तस्लीम
मफ़ूल / मफ़ाईल / मफ़ाईल / मफ़ाईल

इस मिस्रे की तक़्तीअ 'हे' के बग़ैर ही हो सकती है। साफ़ ज़ाहिर है कि इसमें 'हे' का वज़्न ज़ायद है। ये शेर भी देखें—

होंठों से अदा कीजिए कुछ इस तरह अल्फ़ाज़
टकरायें न आ-आके मेरे कान से पत्थर

होंठों से / अदा कीजि / ए कुछ इस त / र अल्फ़ाज़
मफ़ूल / मफ़ाईल / मफ़ाईल / फ़ऊलुन

तक़्तीअ के लिए इस मिस्रे में भी 'हे' को वज़्न में नहीं लिया जा सकता। शाहिद साहब के ही इस शेर में लफ़्ज़ 'तरह' का ख़ूबसूरत और दुरुस्त वज़्न में इस्तेमाल हुआ है—

फिर से उस शख़्स को किस तरह पलटकर देखूँ
मैंने मज़्बूत इरादों की परस्तिश की है

फिर से उस शख़ / स को किस तर / ह पलटकर / देखूँ
फ़ाइलातुन / फ़अलातुन / फ़अलातुन / फेलुन

फ़िराक़ गोरखपुरी के मज़्मून 'काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ बातें', का समावेश 'ग़ज़लकार' के पाठकों के लिए बहुत लाभकारी है।

'ग़ज़ल की विकास-यात्रा' में कृष्णकुमार 'नाज़' साहब ने फ़ार्सी अश्आर उद्धृत करते हुए कई स्थान पर त्रुटियाँ की हैं। उन्होंने रौदकी का हवाला भी ग़लत परिप्रेक्ष्य में दिया है। ये भी कहीं नहीं साबित होता कि रौदकी अन्धा शायर था, और न ही वो ग़ज़ल का जन्मदाता माना जाता है। अब ये बात पूरी तरह साबित हो चुकी है कि ग़ज़ल अरबी क़सीदा की तश्बीब की ही कटी हुई एक शाख़ है, जिसे फ़ारस में उपजाऊ ज़मीन मिली और ये कटी हुई शाख़ ख़ुद एक तनावर दरख़्त बन गयी। डॉ. फ़र्मान फ़तेहपुरी (एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्., 'सितारा-ए-इम्तियाज़' पाकिस्तान) ने अपनी किताब 'उर्दू-रुबाई' में इस मुआम्ले को बहुत विस्तार से पेश किया है। दरअस्ल कृष्णकुमार 'नाज़' द्वारा बयान किया ये क़िस्सा उर्दू-रुबाई के सिल्सिले में है, न कि उर्दू-ग़ज़ल के सिल्सिले में, और इसका सबसे पुराना हवाला फ़ार्सी की किताब 'अल् मुअज्जम फ़ी मेआएरुल् शिआरुल् अजम' में दर्ज है, जिसे एक ईरानी आलिम शम्स क़ैस बिन राज़ी ने 630 ईस्वी में लिखी थी। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि ये क़िस्सा (जिसके हक़ीक़ी होने का सुबूत अब तक न मिल सका।) रुबाई की ईजाद के सिल्सिले में है न कि ग़ज़ल के बारे में।

भाई यतीन्द्र मिश्र साहब का लिखा 'ज़िन्दगी का दर्द लेकर इन्क़लाब आया तो क्या', जो मोह्तरमा बेगम अख़्तर साहिबा के बारे में है, की जितनी भी तारीफ़ की जाये कम है। मैं उनको फोन पर इस मज़्मून के लिए मुबारकबाद पेश कर चुका हूँ। अब 'ग़ज़लकार' के माध्यम से उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ। दरअस्ल इस तरह के मज़्मून लिखने के लिए ख़ूने-जिगर जलाना पड़ता है, न जाने कहाँ-कहाँ से साक्ष्य जुटाने पड़ते हैं। इन मुश्किलात को वही समझ सकता है जो इस राह से गुज़रता है। मेरी नज़र में इस शुमारा की जान यही मज़्मून है। मैं दिल की गहराइयों से ये चाहता हूँ कि हिन्दी में प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'ग़ज़लकार' की उम्र बहुत-बहुत लम्बी हो।

2. डॉ. अनीस अंसारी, वाइस चांसलर, ख़्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती उर्दू, अरबी-फ़ार्सी विश्वविद्यालय लखनऊ (उ. प्र.) : प्रिय डॉ. रूहानी, आप की भेजी हुई पत्रिका 'ग़ज़लकार' का पहला अंक मिला। इसे देखकर बहुत ख़ुशी हुई। ये एक अच्छी कोशिश है, यक़ीनन् उर्दू पढ़ने का शौक़ रखनेवाले हिन्दीदाँ इस पत्रिका से मुस्तफ़ीज़ होंगे।

3. विकास शर्मा, सोनीपत, हरियाणा :— आदरणीय दीपक रूहानी जी, नमस्कार। आज ही 'ग़ज़लकार' की प्रति प्राप्त हुई। आपका आभारी हूँ। हिन्दी में बहुत समय से ऐसी पत्रिका की आवश्यकता अनुभव कर रहा था, जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त उन पर आलेख भी हों। आशा जगी है कि ये रिक्त स्थान अब भर जाएगा।

4. नन्दा 'नूर', दिल्ली :— सम्पादक दीपक रूहानी जी, आदाब। आप जी के द्वारा भेजी ग़ज़ल की छमाही पत्रिका 'ग़ज़लकार' मिली। पढ़कर बहुत ख़ुशी हुई। इस पत्रिका द्वारा ग़ज़लकारों की प्रतिभा को एक नयी दिशा मिलेगी। कोई भी कार्य पहले मुश्किल लगता है। ये पत्रिका हम सभी साहित्य में रुचि रखनेवालों का मार्गदर्शक बनी रहे, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ 'ग़ज़लकार' से जुड़े हर व्यक्ति को बधाई और धन्यवाद।

5. रामकुमार 'कृषक' (सम्पादक : 'अलाव'), नई दिल्ली :— प्रिय दीपक रूहानी जी, 'ग़ज़लकार' की शक्ल में एक बड़ी अदबी शुरूआत के लिए बहुत-बहुत बधाई। प्रत्रिका के प्रवेशांक को देखकर ही अच्छा लगा। इसके आकार-प्रकार और प्रस्तुति में सादगी का जो सौन्दर्य है, उससे भी इसमें प्रकाशित सामग्री की गम्भीरता को समझा जा सकता है; और एक पाठक की तरह उसमें उतरने पर

इसकी पुष्टि भी होती है।

पत्रिका हिन्दी में है इसलिए ग़ज़ल जैसी काव्य-विधा को पाठकीय विस्तार मिलना स्वाभाविक है। इस नाते ये उर्दू-ग़ज़ल की विशिष्ट परम्परा से तो परिचित कराती है, ये उम्मीद भी बँधाती है कि भविष्य में समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल के वर्तमान परिदृश्य और उसके वैचारिक एवं भावनात्मक अनुभव-लोक की भी पड़ताल करेगी। इतिहास अगर हमें हमारे वर्तमान को समझने का मौक़ा देता है तो वर्तमान भविष्य को लक्षित करता है। इसलिए हिन्दी की हो या उर्दू की, समकालीनता के तक़ाज़ों की रचनात्मक अभिव्यक्ति दोनों के लिए बेहद ज़रूरी है। एक बार पुन: बधाई और अभिवादन स्वीकार करें।

6. संध्या नवोदिता, इलाहाबाद ('फेसबुक' पोस्ट, 10.12.2013) :— हमारे आठ दिसम्बर के कार्यक्रम की कवि-गोष्ठी में दीपक रूहानी की ग़ज़ल से रू-ब-रू होने का मौक़ा मिला। दीपक अच्छे शायर हैं, नाम दीपक रूहानी होने के बावजूद दुनिया के दु:ख-दर्द की शायरी करते हैं। यहीं 'ग़ज़लकार' पत्रिका से भी पहला परिचय हुआ तो पुरानी संजीदा पत्रिकाओं की याद ताज़ा हो आयी। 'ग़ज़लकार' के ऊपरी कलेवर से लेकर अन्दर की सामग्री तक सब कुछ बहुत उम्दा लगा। उर्दू की नुक्ताचीनी के बावजूद प्रूफ़ की ग़लती न मिलना ग़ज़ब है। जहाँ ज़्यादातर पत्रिकाओं में प्रूफ़ की ग़लती अब साधारण बात हो चली है, सम्पादकीय टीम भी अब इसे नज़रअन्दाज़ करने लगी है, ऐसे में समझा जा सकता है कि 'ग़ज़लकार' की सम्पादकीय टीम कितनी मेहनत कर रही होगी।

बहरहाल, ग़ज़ल की तहज़ीब और तरीक़ा समझने के लिए और बेहतरीन ग़ज़लें पढ़ने के लिए 'ग़ज़लकार' बहुत काम की पत्रिका है। बधाई इसलिए भी कि एक छोटे से गाँव में रहकर, जहाँ ज़ाहिर-सी बात है काफ़ी हद तक ग़ैर-साहित्यिक माहौल होता है, और सुविधाएँ भी नगण्य होती हैं, इसके सम्पादक उम्दा काम कर रहे हैं; तो बधाई तो बनती है न.........

7. मारूफ़ ख़ान, रायबरेली ('फेसबुक' पोस्ट, 13.12.2013) : जनाब डॉ. दीपक रूहानी साहब, आदाब। आपका हदिया-ए-मुहब्बत 'ग़ज़लकार' का पहला शुमारा बज़रिए-डाक हासिल हुआ। मेआरी मज़ामीन, दिलकश ग़ज़लें, आपका सम्पादकीय 'कुछ लोग ताज़ा-ताज़ा बयाबाँ में आये हैं', भी बहुत पसन्द आया। जी ख़ुश हो गया। इस हसीन तोह्फ़े के लिए तहे-दिल से शुक्रिया। दुआगो हूँ कि 'ग़ज़लकार' को बेपनाह शोह्रत-ओ-मक़्बूलियत हासिल हो।

सिराज औरंगाबादी
(सन् 1714-1764 ई.)

सिराज औरंगाबादी का पूरा नाम सैयद सिराजुद्दीन था। इनका जन्म 1714 ई. और मृत्यु 1764 ई. में हुई। दकन(दक्षिण) में उर्दू-ग़ज़ल के उत्थान और विकास में वली दकनी के बाद सिराज का ही नाम लिया जाता है; ये बात सिराज ने ख़ुद भी कही है–*तुझ मिसल अय 'सिराज' बादे-'वली' कोई साहब सुख़न नहीं देखा*। ये दकन के ज़रूर थे मगर इनकी उर्दू उत्तर-भारत की उर्दू के अधिक निकट है। इनके दीवान उर्दू के अलावा फ़ारसी में भी हैं। इनके द्वारा रचित मस्नवी 'बोस्ताने-ख़याल'(1747) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें 1160 शेरों के माध्यम से कई कथानकों को पिरोया गया है। बचपन में अत्यन्त अल्प आयु में ही इन पर उन्माद जैसी स्थिति रहने लगी थी। कई वर्षों तक फ़क़ीरों की तरह घूमते-फिरते-भटकते रहे और आख़िरकार 19 वर्ष की अवस्था में सैयद शाह अब्दुर्रहमान चिश्ती के पास गये और उन्हीं के शिष्य हो गये।

सिराज औरंगाबादी की शायरी उर्दू-ग़ज़ल में व्याप्त सूफ़ी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी शायरी में शृंगारिकता एवं अध्यात्म का ऐसा मिला-जुला रूप है कि जिसे अलग-अलग करके मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। इनकी ग़ज़ल-भाषा ऐसी है कि अगर उसका अनुकरण-अनुसरण किया गया होता तो आज हिन्दी-ग़ज़ल और उर्दू-ग़ज़ल जैसा कोई बँटवारा ही न होता।

यहाँ पेश की जा रही ग़ज़लें सिराज की उस कुल्लियात से चयनित की गयी हैं जो 'क़ौमी काउंसिल बराए-फ़रोग़े-उर्दू-ज़बान, नई दिल्ली' से प्रकाशित है। इस कुल्लियात को जनवरी 1940 में अब्दुल क़ादिर सरवरी ने सम्पादित किया था और काउंसिल ने पहली 1982 में प्रकाशित किया, जिसका दूसरा संस्करण 1998 में आया। हज़ारों ग़ज़लों में 20-25 प्रतिनिधि ग़ज़लें चुन पाना काफ़ी मुश्किल काम था। उन्हीं ग़ज़लों को यहाँ पेश किया जा रहा है जिनसे सिराज औरंगाबादी के लगभग सारे रंग दिख जायें। ग़ज़लों की मूल शब्दावली के क्रिया-पदों और कारकों में छोटे-छोटे परिवर्तन-संशोधन किये गये हैं, जिनसे ग़ज़लों की सम्प्रेषणीयता बढ़ गयी है। इन मामूली और छोटे-छोटे परिवर्तनों-संशोधनों से इन ग़ज़लों की भाषा आश्चर्यजनक ढंग से 1750 के बजाय 1950 की लगने लगती है। यहाँ तक कि उस युग की भाषा का कोई विशेषज्ञ भी मुश्किल से जान सकता है कि कहाँ-कहाँ परिवर्तन हुआ है। ये निष्कर्ष कई बड़े परिणामों की ओर ले जाता है, जिस पर विस्तार से चर्चा फिर कभी।

सिराज औरंगाबादी

इलाही मुझको दर्दे-लादवा दे

इलाही मुझको दर्दे-लादवा दे
मुझे तौफ़ीक़े-इश्क़े-बेरिया दे
इलाही शौक़ की आतिश अताकर
जलाकर ख़ाक कर लाकर फ़ना कर
इलाही आह को आतिशफ़िशाँ कर
मेरे आँसू के पानी को रवाँ कर
इलाही शर्बते-शीरीने-ग़म दे
तपिश दे, दाग़ दे, दर्दे-अलम दे
इलाही दे लबालब जामे-उल्फ़त
मुझे कर वहशिए-दश्ते-मुहब्बत
इलाही लज़्ज़ते-दर्दो-बला दे
मेरे पर इश्क़ की नौबत बजा दे
इलाही बेख़ुदे-बज़्मे-जुनूँ कर
मेरा दिल गौहरे-दरियाए-ख़ूँ कर
इलाही दे मुझे रंगीं-ख़याली
सुख़न के बाग़ का कर मुझको माली
इलाही शेर मेरा दुरफ़िशाँ कर
उसे साफ़ी से ज्यूँ आबे-रवाँ कर
इलाही तुझ सना में हूँ ग़ज़लख़्वाँ
हर इक मिस्रे को कर लाले-बदख़्शाँ
इलाही कर अता रौशन-बयानी
मेरे अश्आर को तू दे रवानी

×× ×× ××

तेरी भवों की तेग़ के जो रू-ब-रू हुआ
सब आशिक़ों की सफ़ में वही सुर्ख़रू हुआ

तुझ ज़ुल्फ़ के ख़याल से क्यूँकर निकल सकूँ
हर पेचो-ख़म नमूनए-तौक़े-गुलू हुआ

तेरे निगह का तीर है अज़ बसकि मूशिगाफ़
मम्नूँ हर एक ज़ख़्म से मैं मू-ब-मू हुआ

रिश्ते से मौजे-गुल की हवाए-बहार में
सब बुल्बुलों का चाक गिरेबाँ रफ़ू हुआ

सूरज का रंग चाँद सरीका हुआ सफ़ेद
जिस सुब्ह को सवार वो ख़ुर्शीद-रू हुआ

जिसकी ज़बाँ में इश्क़ के अफ़्सूँ का है असर
हर हर्फ़ उसका मौजे-परी हू-ब-हू हुआ

बर जा है गर कहूँ मैं उसे शीशा आतिशी
चश्मे-'सिराज' आइनए-शोलारू हुआ

×× ×× ××

दुरंगी छोड़ दे यकरंग हो जा
सरापा मोम हो या संग हो जा

तुझे ज्यूँ गुंचा गर है दर्द की बू
लहू का घूँट पी दिलतंग हो जा

कहा किस तीरादिल ने तुझको अय ग़म
कि दिल की आरसी पर ज़ंग हो जा

यही आहों के तारों में सदा है
कि बारे-ग़म से ख़म ज्यूँ चंग हो जा

दुआ है, अय रहे-ग़म तूल उम्रक
क़दम पर है तो सौ फ़रसंग हो जा

गले में डाल रुस्वाई की अल्फ़ी
अलिफ़ खींच आह का, बेनंग हो जा

बिरह की आग में साबित-क़दम चल
'सिराज' अब शम्अ का हमरंग हो जा

×× ×× ××

ग़म ने बाँधा है, मेरे जी पे खुला, हाए खुला
फिर नये सर सिती आयी है बला, हाए बला

अय गुले-गुलशने-जाँ, कर मुझे यक बार निहाल
ख़ार, हस्रत का कलेजे में सला, हाए सला

देख सकता नहीं मैं गुल को हर इक ख़ार के साथ
अपने हमराह रक़ीबों को न ला, हाए न ला

ज़िब्ह करने में मेरे रहम न लाया उसने
बल्कि इतना भी कहा मैं कि गला, हाए गला

जिसने खाया है तेरे अबरूए-ख़ूँरेज़ का ज़ख़्म
मुर्गे-बिस्मिल सा लहू बीच रला, हाए रला

जाने-जानाँ को मेरे पास शिताबी लाओ
नहीं तो यक पल में मेरा जान चला, हाए चला

बेतरह अब तो बिरह-आग दहकती है 'सिराज'
दिल मेरा क्यूँ न पुकारे कि जला, हाए जला

×× ×× ××

अपना जमाल मुझको दिखा या रसूल आज
आजिज़ की इल्तिमास को करना क़ुबूल आज

अय मेह्रबाँ तबीब शिताबी इलाज कर
तेरे बिरह के दर्द से है दिल में सूल आज

मरहम तेरे विसाल का लाज़िम है अय सनम
दिल में लगी है हिज्र की बरछी की हूल आज

गुलरू बग़ैर ख़ानए-बुल्बुल ख़राब है
मुरझा रहा है सहने-गुलिस्ताँ में फूल आज

बेफ़िक्र हूँ अज़ाबे-क़यामत से अय 'सिराज'
दीने-मुहम्मदी को किया हूँ क़ुबूल आज

×× ×× ××

मज्लिसे-हस्रत में है जो कोई कि मेह्माने-फ़िराक़
क्यूँ न हो लख़्ते-जिगर उसको नमकदाने-फ़िराक़

चश्मे-आशिक़ से नुमायाँ है क़तारे-अश्के-गर्म
आ तमाशा देख रौशन है चराग़ाने-फ़िराक़

जब से मेरे ज़ख़्मे-दिल पर है तेरा हक़्क़े-नमक
खींचता हूँ तब सिती मैं बारे-एहसाने-फ़िराक़

कश्तिए-अबरु दिखा, अब नाख़ुदा तरसी न कर
हद से गुज़रा है मेरे पर शोरे-तूफ़ाने-फ़िराक़

नावक अन्दाज़े-कमाँ अबरू कहाँ है जिसके बिन
पहलुए-दिल में लगी है नोके-पैकाने-फ़िराक़

क्यूँ न हो जम्ईयते-दिल माइले-आशुफ़्तगी
हाथ आयी है उसे ज़ुल्फ़े परीशाने-फ़िराक़

तुझ बग़ैर अय शम्अ बज़्मे–नाज़ जलता है 'सिराज'
हुस्न के पर्तौ से रौशन कर शबिस्ताने–फ़िराक़

×× ×× ××

मोहन हुआ है सब्ज़–बरन सर से पाँव लग
दिसता है मुझको सर्व चमन सर से पाँव लग

तुझ लाले–लबसरी का न पाया अक़ीक़ को
देखा अगरचे काने–यमन सर से पाँव लग

पुतली नमन नयन में करे जा तो है बजा
प्यारा लगा अँखियाँ में सजन सर से पाँव लग

महताब–रू को देख के मैं ज़िन्दादिल हुआ
भड़की है तुझ बिरह की अगन सर से पाँव लग

लाले के फूल क्यूँ न खिले दिल के बाग़ में
लाज़िम है अब किताँ का कफ़न सर से पाँव लग

तेरे अरक़ की शर्म से अय मादिने–हयात
पानी हुआ है दुर्रे–अदन सर से पाँव लग

लाया हूँ नज़्र, दिल की अँगूठी को कर क़ुबूल
ग़म के जड़े हैं जिसमें रतन सर से पाँव लग

हो काल पर घटा है मेरे दिल बग़म 'सिराज'
उस चाँद को लगा है गहन सर से पाँव लग

×× ×× ××

अयाँ है सीनए–आशिक़ से आशिक़ी का दाग़
के ज्यूँ कि पर्दए–फ़ानूश से अयाँ है चराग़

किया है हक़ ने तुझे आफ़ताबे-आलमगीर
न पावे ज़र्रए-मादूम अक़्ल वाँ का सुराग़

मिसाले-शाना जो कोई सीना चाक है दायम
कमन्दे-ज़ुल्फ़ से तेरी नहीं है उसको फ़राग़

गली में यार की हर बुउल्हवस को बार नहीं
कहाँ है गुलशने-फ़िर्दौस में रसाइए-ज़ाग़

नहीं 'सिराज' को गुलगश्ते-बाग़ की ख़्वाहिश
ख़याले-आरिज़े-गुलरू हुआ है उसको बाग़

×× ×× ××

कौन कहता है कि जफ़ा करते हो तुम
शर्ते-माशूक़ी वफ़ा करते हो तुम

मुस्कुराकर मोड़ लेते हो भवें
ख़ूब अदा का हक़ अदा करते हो तुम

हम शहीदों पर सितम, जीते रहो
ख़ूब करते हो बजा करते हो तुम

सुरमई आँखों को क्या सुरमे से काम
नाहक़ इन पर तूतिया करते हो तुम

हर परे-बुलबुल को अय ख़ूनी निगाह
ख़ूने-गुल से करबला करते हो तुम

पीसते हो दिल को ज्यूँ बर्गे-हिना
हाथ ख़ूँ-आलूदा क्या करते हो तुम

ख़ाक करते हो जला जाने-'सिराज'
और कहो क्या कीमिया करते हो तुम

×× ×× ××

हुआ है मेह्रबान वो मू कमर आहिस्ता-आहिस्ता
किया मुझ आह ने शायद असर आहिस्ता-आहिस्ता

किया है मुस्कुराकर बात मिस्ले-फूल गुलरू ने
निहाले-इश्क़ ने लाया समर आहिस्ता-आहिस्ता

पिलाकर जाम अपनी चश्म की गर्दिश से पै-दर-पै
किया साक़ी ने मुझको बेख़बर आहिस्ता-आहिस्ता

गली में उस परी-रू के किया है अज़्म उड़ने का
निकाला मुर्ग़े-दिल ने बालो-पर आहिस्ता-आहिस्ता

मेरे हाले-परीशाँ की हक़ीक़त को सुना जाकर
सबा कूचे में गुलरू के गुज़र आहिस्ता-आहिस्ता

'सिराज' उस शोख़ ने दरपेश लाया मद्दे-अबरू को
मिरा दिल क्यूँ न होवे ज़ेरो-ज़बर आहिस्ता-आहिस्ता

×× ×× ××

पीकर शराबे-शौक़ को, बेहोश हो बेहोश हो
ज्यूँ ग़ुंचा-लब को बन्द कर, ख़ामोश हो ख़ामोश हो

हो आशिक़े-ख़ूनीं जिगर ज्यूँ लाला उस गुलज़ार के
खा दिल पे दाग़े-आशिक़ी गुलपोश हो गुलपोश हो

तुझको अगर है आर्ज़ू उस ख़ुशअदा के वस्ल की
अय दिल सरापा शौक़ में आग़ोश हो आग़ोश है

उमड़ा है दरिया दर्द का, यारब मुझे रुस्वा न कर
आया है जोश उस देग को सरपोश हो सरपोश हो

मज्लिस में ग़म की अय 'सिराज' अब वक़्त आया दौर का
गर ख़ूने-दिल मौजूद है मयनोश हो मयनोश हो

×× ×× ××

काफ़िर हुआ हूँ, रिश्तए-ज़ुन्नार की क़सम
तुझ ज़ुल्फ़े-हल्क़ादार के हर तार की क़सम

हर्गिज़ मरीज़े-हिज्र को बिन वस्ल नहीं इलाज
उस ख़ुश-अदा की नर्गिसे-बीमार की क़सम

उस गुलबदन के काकुले-पुरपेच का ख़याल
ज़ुन्नार मुझ गले का हुआ, हार की क़सम

तेरे भवों की याद ने टुकड़े किया है दिल
है ज़ुल्फ़िकारे-हैदरे-कर्रार की क़सम

उम्मीदवारे-चाहे-ज़नख़दाने-यार हूँ
मैं तश्नालब हूँ शर्बते-दीदार की क़सम

दरकार अगर हिना है मुझ आँखों में रख क़दम
है तुझको मेरे दीदए-ख़ूँबार की क़सम

यकजा हुए हैं बुल्बुलो-परवाना अय 'सिराज'
उस शम्अ-रू के चीरए-गुलनार की क़सम

×× ×× ××

तुम्हारी ज़ुल्फ़ का हर तार मोहन
हुआ मेरे गले का हार मोहन

तसव्वुर कर तेरा हुस्ने-अरक़नाक
मेरी आँखें हैं गौहरबार मोहन

दमे-आख़िर तलग हूँ काफ़िरे-इश्क़
हुआ तारे-नफ़स ज़ुन्नार मोहन

बिरह का जान कुन्दन है निपट सख़्त
दिखा इस वक़्त पर दीदार मोहन

हमारे मुस्हफ़े-दिल की क़सम खा
किया है ज़ुल्म का इन्कार मोहन

गुले-आरिज़ को तेरे याद कर-कर
हुआ है दिल मेरा गुलज़ार मोहन

'सिराज' आतिश में है तेरे फ़िराक़ों
बुझा जा मेह्र से यक बार मोहन

×× ×× ××

हूँ परीशाँ यार की ज़ुल्फ़े-परीशाँ के तुफ़ैल
चाहे-ग़म में हूँ मैं उस चाहे-ज़नख़दाँ के तुफ़ैल

सैले-अश्के-गर्म से है ख़ानए-मर्दुम ख़राब
मैं हुआ रुस्वा-ए-आलम चश्मे-गिरियाँ के तुफ़ैल

ले क़लम मिज़्गाँ का लिखता हूँ ख़ते-याक़ूते-अश्क
सफ़्हए-दामन पर उसके ख़ते-रैहाँ के तुफ़ैल

लज़्ज़ते-दुश्नाम की मुझको चखा जा चाश्नी
शोर है दिल में वो लाले-शुक्रअफ़्शाँ के तुफ़ैल

मरहमे-अल्ताफ़ है दरकार अय बादामे-चश्म
है मुशब्बक सीना तेरे तीरे-मिज़्गाँ के तुफ़ैल

रंगे-गम सैकल किया आहे-सहर के फ़ैज़ ने
कुफ़्र की ज़ुल्मत गयी है नूरे-ईमाँ के तुफ़ैल

मश्अले-सोज़े-जिगर है हर ग़ज़ल मेरी 'सिराज'
शम्अे-दिल रौशन है फ़ैज़े-शाहे-रहमाँ[1] के तुफ़ैल

×× ×× ××

1. सिराज औरंगाबादी के मुर्शिद(गुरु) का नाम हज़रत शाह अब्दुल रहमान था। यहाँ उन्हीं के फ़ैज़(दानशीलता, यश, उपकार) के तुफ़ैल(द्वारा, कारण) दिल की शम्अ रौशन होने की तरफ़ इशारा है।

कभी तुम मोल लेने हम को हँस-हँस भाव करते हो
कभी तीरे-निगाहे-तुन्द का बरसाव करते हो

कभी तुम सर्द करते हो दिलों की आग गर्मी से
कभी तुम सर्द-मेह्‌री से झिटककर बाव करते हो

कभी तुम साफ़ करते हो मेरे दिल की कुदूरत को
कभी तुम बेसबब त्यौरी चढ़ाकर ताव करते हो

कभी तुम मोम हो जाते हो जब मैं गर्म होता हूँ
कभी मैं सर्द होता हूँ तो तुम भड़काव करते हो

कभी ला-ला मुझे देते हो अपने हाथ से प्याला
कभी तुम शीशए-दिल पर मेरे पथराव करते हो

कभी तुम धौल उड़ाते हो मेरी, ग़ुस्से से रूखे हो
कभी मुँह पर हया का ला अरक़ छिड़काव करते हो

कभी ख़ुश हो के करते हो 'सिराज' अपने की जाँबख़्शी
कभी उसके बुझा देने को क्या-क्या वाव करते हो

×× ×× ××

इश्क़ की जो लगन नहीं देखा
वो बिरह की अगन नहीं देखा

क़द्र मुझ अश्क की वो क्या जाने
जिसने दुर्रे-अदन नहीं देखा

तुझ गली में जो कोई किया मस्कन
फिर कर उसने वतन नहीं देखा

आर्ज़ू है कि ज़ुल्फ़ को खोले
मैंने काली रयन नहीं देखा

टुक ज़मीं पर क़दम रखो साजन
आज नक़्शे-चरन नहीं देखा

दिल अबस तिश्ना–लब है कौसर का
पिउ का चाहे–ज़क़न नहीं देखा

गुंचए-गुल को देख गुलशन में
गर तू पिउ का दहन नहीं देखा

तुझ मिसल अय 'सिराज' बादे–'वली'
कोई साहब सुख़न नहीं देखा

×× ×× ××

ख़बरे–तहय्युरे–इश्क़ सुन, न जुनूँ रहा न परी रही
न तो तू रहा न तो मैं रहा, जो रही से बेख़बरी रही

शहे–बेख़ुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे–बरहनगी
न ख़िरद की बख़ियागरी रही, न जुनूँ की पर्दादरी रही

कभी सिम्ते–ग़ैब से क्या हुआ कि चमन ज़ुहूर का जल गया[1]
मगर एक शाख़े–निहाले–ग़म जिसे दिल कहो सो हरी रही

नज़रे–तग़ाफ़ुले–यार का गिला किस ज़बाँ से बयाँ करूँ
कि शराबे–सदक़द्ह आर्ज़ू ख़ुमे–दिल में थी सो भरी रही

वो अजब घड़ी थी मैं जिस घड़ी लिया दर्स नुस्ख़ए–इश्क़ का
कि किताब अक़्ल की ताक़ में ज्यूँ धरी थी त्यूँ ही धरी रही

तेरे जोशे–हैरते–हुस्न का असर इस क़दर से यहाँ हुआ
कि न आइना में रही जिला न परी की जल्वागरी रही

किया ख़ाक आतिशे–इश्क़ ने दिले–बेनवाए–'सिराज' को
न ख़तर रहा, न हज़र रहा मगर एक बेख़तरी रही

×× ×× ××

कहीं-कहीं ये मिस्रा इस तरह भी मिलता है—

1. 'चली सिम्ते–ग़ैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया'

मुतफ़र्रिक़ अश्आर

देखा है जिसने यार के रुख़सार की तरफ़
हर्गिज़ न जावे सैर को गुलज़ार की तरफ़

×× ×× ××

आता है जब ख़याल हमआग़ोशिए-सनम
सलता है मिस्ले-ख़ार मेरे पैरहन में गुल

×× ×× ××

हक़ में उश्शाक़ के क़यामत है
क्या करम, क्या इताब, क्या दुश्नाम

×× ×× ××

ख़म क्यूँ न होवे ज़ाहिदे-ख़ुश्क उसकी ज़ुल्फ़ देख
काफ़िर न होवे जो करे इस्लाम(इस लाम) को सलाम

×× ×× ××

बोलता हूँ जो वो बुलाता है
तन के पिँजरे में उसका तोता हूँ

×× ×× ××

लश्करे-इश्क़ जब से आया है
मुल्के-दिल को ख़राब देखा है

×× ×× ××

मेरा दिल आ गया झटपट झपट में
हुआ लटपट लपट ज़ुल्फ़ों की लट में

×× ×× ××

ज़ुल्फ़ से छीन लिया दीनो-दिलो-अक़्लो-शिकेब
एक ज़ंजीर में ला क़ैद किया चारों को

×× ×× ××

अजब तरह का बदन में लिबास रखते हैं
कि जिस लिबास में फूलों की बास रखते हैं

×× ×× ××

तेरा रुख़ देखकर जल जाये जल में
कहाँ ये रंग, ये ख़ूबी कँवल में

×× ×× ××

दामो–क़फ़स न चाहिए दिल के शिकार को
करती हैं बन्द, आँख के डोरों की डोरियाँ

×× ×× ××

डूब जाता है मेरा जी जो कहूँ क़िस्सए–दर्द
नींद आती है मुझी को मेरे अफ़साने में

×× ×× ××

जब से वो मख़्मूर चश्मे–नीमख़्वाब आता नहीं
मज्लिसे–उश्शाक़ में जामे–शराब आता नहीं

×× ×× ××

नमक रखते हो मेरे ज़ख़्मे–दिल पर
अजब मुझ दर्द की दारू किये हो

×× ×× ××

अगर मस्जिद में अय ज़ाहिद वो मस्ते–नीमख़्वाब आवे
तेरे हर दानए–तश्बीह से बूए–शराब आवे

×× ×× ××

मुझ रंग ज़र्द ऊपर ग़ुस्से से लाल मत हो
अय सब्ज़ शालवाले, ऊदे रुमालवाले

×× ×× ××

रुख़ तेरा अय आफ़ताबे–हुस्नो–माहे–दिलबरी
दिन को है सूरजमुखी और रात को गुलचाँदनी

×× ×× ××

इश्क़ दोनों तरफ़ से होता है
क्यूँ बजे एक हाथ से ताली

×× ×× ××

नाज़ुकबदन से मत मिल कई बार मैं कहा हूँ
जा, मन तेरी ख़ुशी है रुस्वा–ए–आम होना

×× ×× ××

कहा मैं यार को, देखूँगा चेह्रा
मुझे ग़ुस्से से बोला, 'बैठ मूँ देख'

×× ×× ××

मैं कहा 'क्या अरक़ है तुझ रुख़ पर'
मुस्कुराकर कहा कि 'फ़ित्ना है'



'ग़ज़लकार' यहाँ से प्राप्त करें

अंजुमन प्रकाशन
942, आर्य कन्या चौराहा,
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-211 003
मो.- 09453004398

सबद
171, कर्नलगंज,
आनन्द भवन के सामने,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

लोक भारती
15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग,
इलाहाबाद-221 025 (उ. प्र.)

जन चेतना
डी-68, निराला नगर
लखनऊ-226 020 (उ. प्र.)

मौर्या बुक स्टॉल
बी. एच. यू. गेट,
लंका, वाराणसी-221 005 (उ. प्र.)
मो.- 09453359910

सरस्वती इण्टरप्राइजेज
खारौती कोठी
बलिया-277 001 (उ. प्र.)

दीवान न्यूज एजेंसी
सदर बाजार
झाँसी (उ. प्र.)

गीता बुक सेण्टर
शॉप नं.-6, शॉपिंग कॉम्प्लेक्स
जे. एन. यू.,
नयी दिल्ली-110 067

हेम बुक सेण्टर
लाइब्रेरी के निकट
जे. एन. यू., नयी दिल्ली-110 067

बुक कॉर्नर
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय
बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड
नयी दिल्ली-110 001

पीपुल्स बुक हाउस
मेहर हाउस-15, कवास जी पटेल फोर्ट,
मुम्बई-1

प्रभात बुक सेण्टर
सी-207, शीतल स्टार
MTNL के पीछे, शीतल नगर,
मीरा रोड (ईस्ट), मुम्बई-401 107

सर्वोदय बुक स्टाल
70, जसवंत बिल्डिंग, स्टेशन रोड,
जोधपुर-342 001

बुक वर्ल्ड
राजस्थान वि. वि. परिसर
विश्वविद्यालय मार्ग, जयपुर- 302 001

राजकमल प्रकाशन बुक स्टाल
भारतीय भाषा परिषद्
36-ए, शेक्सपियर सरणी,
कोलकाता-700 017
मो.- 09903508796

मोहन बुक एजेंसी
2, डेकर्स लेन,
कोलकाता-700 069

माडर्न बुक डिपो
दुकान नं.- 32, मेन रोड,
राँची-834 001 (झारखण्ड)

वाणी प्रकाशन प्रा. लि.
पटना कॉलेज के सामने, अशोक राजपथ,
पटना-800 005 (बिहार)
मो.- 06123253139

बुक वर्ल्ड
एस्टले रोड,
देहरादून-248 001 उत्तराखण्ड

आदित्य न्यूज एजेंसी
पल्टन बाज़ार
देहरादून-248 001 उत्तराखण्ड

कुशल्स बुक प्वांइट
शॉप नं.- 3, नूतन काम्प्लेक्स
ओल्ड बस स्टैण्ड, रायपुर-492 001

पुस्तक संसार
धानवते चेम्बर्स, सीतावर्दी
नागपुर-440 012

पंजाब बुक सेण्टर
एस सी ओ-1126-27
सेक्टर-22-बी
चण्डीगढ़-160 017

पंजाब बुक सेण्टर
नियर प्लाजा होटल,
जालंधर-144 001

जनता न्यूज एजेंसी
मालवीय चौक
जबलपुर (म. प्र.)

ओम न्यूज एजेंसी
रंगमहल टाकीज के सामने,
न्यू मार्केट, भोपाल

च्वाइस बुक सेण्टर
गवर्नमेण्ट बस स्टैण्ड
बलाँगीर-767 001 उड़ीसा

डॉ. शिवप्रिय
अखारा घाट रोड, सिकन्दरपुर
संकटमोचन हनुमान मन्दिर के सामने पश्चिम
मुज़फ़्फ़रपुर- 842 001 बिहार
मो.- 09422385372

वाणी प्रकाशन बुक स्टॉल
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी वि. वि.
वर्धा-442 001 महाराष्ट्र

मिश्रा बुक स्टॉल
रोडवेज बस स्टैण्ड
प्रतापगढ़ (उ. प्र.)



इमरान प्रतापगढ़ी पब्लिक स्कूल

(Based on CBSE, New Delhi)

शमशेरगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.)

की जानिब से

ग़ज़लकार

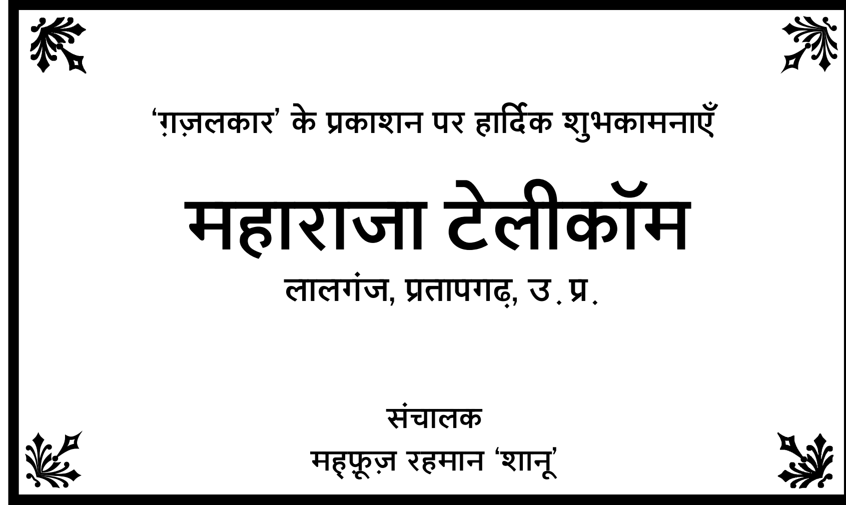
के प्रकाशन पर

शुभकामनाएँ-मुबारकबाद

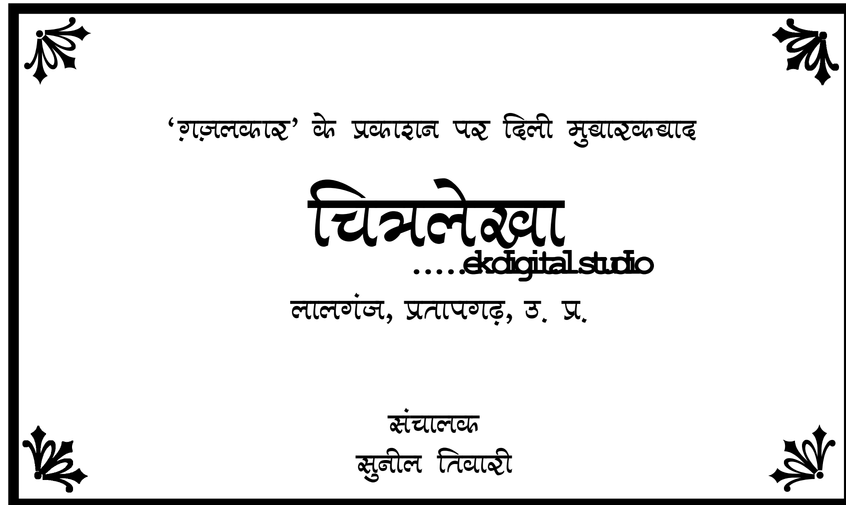
संस्थापक
डॉ. इलियास ख़ान

सचिव
इमरान प्रतापगढ़ी

(Based on CBSE, New Delhi)


'ग़ज़लकार' के प्रकाशन पर हार्दिक शुभकामनाएँ
महाराजा टेलीकॉम
लालगंज, प्रतापगढ़, उ. प्र.
संचालक
महफ़ूज़ रहमान 'शानू'


with best compliments from
Smriti Creation
Lalganj, Pratapgarh UP
on publication of 'Ghazalkaar'
propriter : Kumar Atul


'ग़ज़लकार' के प्रकाशन पर दिली मुबारकबाद
चित्रलेखा
.....ekdigital studio
लालगंज, प्रतापगढ़, उ. प्र.
संचालक
सुनील तिवारी